जनवरी – जून 2022

मूल्य : 100 रु.

नया पथ

एजाज़ अहमद पर केंद्रित

नया पथ
जनवरी – जून 2022

संस्थापक

शिव वर्मा

संपादकीय परामर्श

असग़र वजाहत

संपादक

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

चंचल चौहान

संपादन सहयोग

कांतिमोहन 'सोज़'

रेखा अवस्थी

जवरीमल्ल पारख

संजीव कुमार

हरियश राय

बली सिंह

बजरंग बिहारी तिवारी

आवरण

राशिद आलम

इस अंक की सहयोग राशि

एक सौ रुपये

(डाक ख़र्च अलग)

संपादकीय कार्यालय

35 विदिशा एपार्टमेंट्स

79 आइ पी एक्सटेंशन, दिल्ली-92

Office

गली नं. 2, मुखिया मार्ग, खिचड़ीपुर,

दिल्ली– 110091

Email : jlsind@gmail.com

Website : www.jlsindia.org

Mobile : 9818859545, 9818577833

प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतया

ग़ैरव्यावसायिक और अवैतनिक

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं

जलेस की सहमति आवश्यक नहीं

जनवादी लेखक संघ केंद्र की पत्रिका

नया पथ

एजाज़ अहमद पर विशेष

वर्ष 36 : अंक : 1-2 : जनवरी-जून 2022

अनुक्रम

संपादकीय

खंड-1

एजाज़ अहमद के महत्त्व का वितान

एक महान मार्क्सवादी का जीवन : विजय प्रशाद / 5

एक अडिग, अविचल मार्क्सवादी : रविभूषण / 12

हमारा समय और एजाज़ अहमद : प्रणय कृष्ण / 23

साम्राज्य और साहित्य चिंतन के संबंधों पर विचार : वैभव सिंह / 31

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध के अनुपम लेखक : राहुल कोसंबी / 39

एजाज़ अहमद की छवियां - संस्मरण

एजाज़ अहमद को जानना : सविता सिंह / 41

उम्मीद और उदासी का अफ़साना : सुधन्वा देशपांडे / 47

एजाज़ अहमद की यादें : गोपाल प्रधान / 50

एजाज़ की कलम से

हिंदुस्तान की तामीर / 53

सृजनशीलता हमेशा सामाजिक होती है / 59

सांप्रदायिकता : बदलते रूप और नियति / 70

ख़तरनाक किनारे : विश्व साहित्य पर कुछ विचार / 80

नज़्में और तर्जुमा / 94

खंड-2

कविता

दो कविताएं : सुभाष राय / 101

समीक्षा

लोकतंत्र का धुंआ और हमारा नागरिक समाज : विवेक निराला /105

कहानी

महुआ हाट :अजय महताब /110

स्मृति सत्ता

जनवादी लेखक संघ के चालीस बरस : चंचल चौहान / 118

ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन ही नहीं, राजनीतिक और सांस्कृतिक आंदोलन भी है

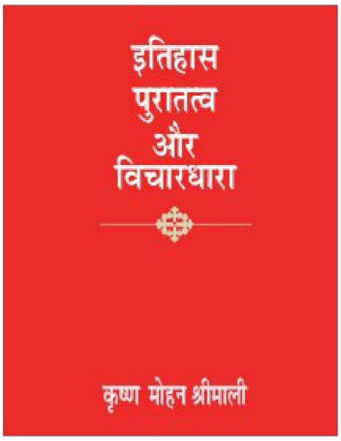

आज जब भारत की असाधारण सांस्कृतिक विविधता को गंभीर रूप से चुनौती दी जा रही है, और उसे मात्र एकांगी 'हिंदुइज्म' रूपी धार्मिक जामें में समेटा जा रहा है, तो हमें डी. डी. कोसंबी की 'संपूर्ण एतिहासिक प्रक्रिया' नामक संकल्पना की याद आ रही है। भारत की अपनी ही विशिष्ट प्रक्रिया है जिसकी व्याख्या भारत के सामाजिक विकास के तर्क के रूप में और भारतीय सांस्कृतिक घटक के रूप में की जानी चाहिए और संस्कृति का विवेचन सभी लोगों के जीवन जीने के जरूरी तरीकों के रूप में किया जाना चाहिए। धर्म और संस्कृति जैसे पारंपरिक सूत्रीकरण के पूरी तरह से नकारते हुए यहां सामान्य जन-जीवन के अन्य अवयवों की ही तरह धर्म को भी संस्कृति का अभिन्न अंग माना गया है। यह 'संपूर्ण एतिहासिक प्रक्रिया' मात्र आर्थिक नियतत्ववाद पर नहीं टिकी है।

इस संकलन के सभी लेखों के केन्द्र में सामान्य जन हैं। निश्चित रूप से भारत जैसे विशाल भूभाग में और उसके लम्बे इतिहास के दौरान ऐतिहासिक विकासक्रम को बृहद्तर भौतिक पृष्ठभूमि में रख कर प्रस्तुत किया गया है। अतः समय-समय पर विभिन्न उत्पादन प्रणालियों की एक साथ उपस्थिति के पक्ष में तर्क दिया गया है। वस्तुतः लगभग सभी लेखों में उत्पादन विधाओं की संकल्पना और उत्पादन शक्तियों की वजह से हुए ऐतिहासिक युगान्तरों पर काफी बल दिया गया है। मुद्दा चाहे सामाजिक संरचनाओं और उनकी गतिशीलता का हो, या फिर तथाकथित 'स्त्रीवादी' लेखनों की विवेचना का; समाज के निम्नतम वर्गों की वस्तुस्थिति समझने का प्रयास हो या भारतीय कलाओं के विकासक्रम को नई दृष्टि प्रदान करने की जरूरत का; ज्ञान संचारण तंत्र के निर्माण का हो अथवा आम भारतीय की अस्मिता स्थापित करने का; प्रस्तुत लेखों में फोकस सदा ही सामान्य जन पर रहा है।यहां तक कि पुरातत्वविदों से भी यही अपेक्षा की गई है कि वे अपने उत्खनन कार्यों और उनकी रिपोर्टों में जन-जीवन को खोजने और उसे दर्ज करने का बीड़ा उठाएं।

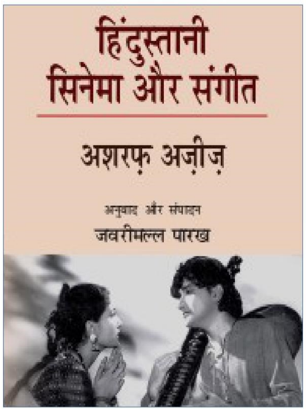

सिनेमा संगीत को उस मापदंड से नहीं नापना चाहिए जो दूसरी संगीत विधाओं के लिए उपयुक्त है। हिदुस्तानी फिल्मी गीत ने विधिवत रूप से मूल्यांकन के लिए अपने स्वंय के मापदंड विकसित किए हैं। उदाहरण के लिए, कोई फिल्मी गीत का झुकाव शास्त्रीय दिशा की ओर है, उसका मूल्यांकन शुद्ध शास्त्रीय गीत के साथ तुलना द्वारा नहीं किया जाना चाहिए। बैजू बावरा के गीतों का मूल्यांकन तानसेन फिल्म के गानों के साथ तुलना द्वारा किया जा सकता है। इसी तरह मदर इंडिया के सिनेमाई लोकगीतों के तुलना उत्तर प्रदेश के वास्तविक परंपरागत लोकगीतों से नहीं की जानी चाहिए जो फिल्म के बहुत से गीतों के पीछे की प्रेरणा रहे हैं। मदर इंडिया के आख्यान का कुछ हिस्सा ओपेरा के रूप में व्यक्त हुआ है; आर्केस्ट्रा से रचित सिनेमाई लोक मधुर गीतों ने फिल्म के अर्थ में वृद्धि की है। मदर इंडिया के गीतों को सिर्फ इस लिए कमतर आंकना क्योंकि उसमें आर्केस्ट्रा का इस्तेमाल किया गया है, अपने को अनपढ़ साबित करना है।

(किताब से)

भारत के लोकप्रिय सिनेमा के गीत अपने उद्‌भव और विकास के समय से ही आजादी के लिए भारत के संघर्ष से अटूट रूप से जुड़ा रहा है, और हमें उपनिवेशीकृत भारतीय जनता के इतिहास और आकांक्षाओं को आवाज देने वाले एक नये माध्यम के रूप में इसके मूल्यांकन की जरूरत है। उन दशकों के लोकप्रिय संगीत के विश्लेषण में भारत की आजादी के इतिहास (और उसकी दरार) को भी शामिल किया जाना चाहिए। सिनेमा के गीतों के अध्ययन के जरिए औपनिवेशिकता के अंतिम दो दशकों में भारतीयों की आंदोलित भावनाओं और मानसिक दशाओं के बारे में काफी सामग्री बटोरी जा सकती है। क्या यह मानना असंगत है कि लोकप्रिय सिनेमा के अति भावनात्मक प्रभाव इसकी असाधारण उद्‌भव की विरासत में निहित है? उन दशकों के भारतीय इतिहास के क्षण - लोगों की मुसीबत और पीड़ाएं - को उस दौर के सिनेमा के गीतों के सावधानीपूर्वक निरीक्षण और मूल्यांकन के जरिए मापा और महसूस किया जा सकता है। क्या यह प्रस्तावित करना असंगत है कि अति नाटकीय लोकप्रिय फिल्म में अपने उद्‌भव के दौर के भावावेश की यादें अंतर्निहित हैं?

(किताब से)

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें
ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड,
बी-7, सरस्वती काम्पलेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110092
फोन : 011-41028967
Email : granthshilpi.delhi@gmail.com Website : www.granthshilpi.com

संपादकीय

हम सबसे पहले अपने नियमित पाठकों से क्षमा मांगते हैं कि *नया पथ* के इस अंक के प्रकाशन में बहुत अधिक विलंब हुआ, इसके कई कारण हैं, निजगत कम और वस्तुगत अधिक। एजाज़ अहमद के देहावसान के तुरंत बाद यह तय हो गया था कि हम जनवरी-जून संयुक्तांक में विशेष सामग्री उन्हीं पर केंद्रित करेंगे। अंक की योजना भी समय से बन गयी, मगर सामग्री आते आते विलंब होता गया। फिर भी कुछ सामग्री हम चाहकर भी नहीं हासिल कर सके। अब यह अंक आपके सामने है।

एजाज़ अहमद जब अमेरिका से पहली बार 1988 में भारत आये थे, तब डा. मुहम्मद हसन उन्हें जनवादी लेखक संघ के केंद्रीय कार्यालय में, हम लोगों से मुलाक़ात कराने के लिए लाये थे। उसी दिन उन्होंने अपनी कुछ नज़्में और फ़िलिस्तीनी शायर महमूद दरवेश की कुछ नज़्मों के उर्दू अनुवाद हमें सुनाये। हमने वह सारी सामग्री उनसे वहीं ले ली और *नया पथ* के अक्टूबर 1988 अंक में उन नज़्मों को प्रकाशित किया। उनसे वह हमारी पहली मुलाक़ात थी, वह मुलाक़ात दोस्ती में बदल गयी, और उसके बाद जब भी वे भारत आये, जब तक भारत में रहे, हमारा मिलना जुलना बना रहा। जब 1-3 फ़रवरी1997 में जनवादी लेखक संघ का पांचवां राष्ट्रीय सम्मेलन कोलकाता में हुआ तो उस ऐतिहासिक सम्मेलन में उद्धाटन भाषण के लिए वे सहर्ष तैयार हो गये, उसमें प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प्रो. इरफ़ान हबीब मुख्य अतिथि थे, ज्योति बसु स्वागताध्यक्ष थे। उसी में ज़ुबैर रज़वी और निदा फ़ाज़ली ने जनवादी लेखक संघ की सदस्यता ली थी। तब तक एजाज़ साहब एक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखक और चिंतक हो चुके थे। कोलकाता में उस समय अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक मेला चल रहा था, उसमें विखंडनवाद के प्रणेता फ्रांसीसी लेखक जाक देरिदा भी आये हुए थे। उन्होंने जलेस के उस सम्मेलन में शामिल होने का अनुरोध आयोजकों के पास भेजा, एजाज़ साहब से सलाह लेकर आयोजकों ने उनके अनुरोध को क्षमयाचना के साथ अस्वीकार कर दिया क्योंकि मीडिया का सारा फ़ोकस देरिदा पर केंद्रित हो जाता और सम्मेलन की सारी रिपोर्टिंग 'विखंडनवाद' का शिकार हो जाती। एजाज़ साहब का देरिदा से विवाद तब तक जगज़ाहिर हो चुका था, इसलिए उनकी सलाह एकदम सही थी।

एजाज़ साहब जब भारत में रहने लगे थे, तब 2007 में *नया पथ :1857 विशेषांक* के लिए, रेखा अवस्थी और रवींद्र त्रिपाठी ने एजाज़ अहमद के घर जाकर एक साक्षात्कार लिया था, साथ में हम दोनों भी थे। वह साक्षात्कार '1857 के अपने अंतर्विरोध हैं ' शीर्षक से मई 2007 के अंक में प्रकाशित हुआ था। फिर हमारे अनुरोध पर 2008 में 'हिंदुस्तान की तामीर' शीर्षक से एक लेख उन्होंने दिया जो हमने *नया पथ* के अप्रैल-जून 2008 के अंक में छापा, उसे हम इस अंक में पुनर्प्रकाशित कर रहे हैं। बाक़ी सामग्री के चयन में हमारी कोशिश रही है कि एजाज़ साहब की अनेक मुद्दों पर जो मौलिक सोच थी, वह हम हिंदी के पाठकों तक पहुंचा सकें। वे हमारे देश और दुनिया के समकाल से बहुत चिंतित थे। सोवियत संघ के विघटन के बाद उभरी नवउदारवादी वैश्विक अर्थव्यवस्था के दौर में दुनिया के अनेक देशों में दक्षिणपंथ या नवफ़ासीवाद के उदय के आधारभूत कारणों की खोज एक समाजवैज्ञानिक और दार्शनिक चिंतक की तरह वे कर रहे थे। वे इसी प्रश्न से जूझ रहे थे कि आख़िर कौन से ऐसे सामाजिक आर्थिक कारक हैं जिनकी वजह से दुनिया के अधिकांश देशों में धुरदक्षिणपंथी राजनीति अपनी जड़ें जमा रही है, दुनिया की लिबरल, वामपंथी और समाजवादी सोच की राजनीति की स्पेस घट रही है। भारत में भी वे यह शोध कर रहे थे कि क्यों आर एस एस जैसा फ़ासीवादी संगठन असत्य और अमानवीय जीवनमूल्यों का वाहक होकर भी सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में जड़ें जमाये बैठा है, क्यों प्रगतिशील और वैज्ञानिक समाजवाद की सोच से लैस वामपंथ की स्पेस सिमट रही है।

हम सब आज अपनी आंखों देख रहे हैं कि आर एस एस ने तमाम संवैधानिक सामाजिक तानेबाने को तहसनहस कर दिया है, संसद में भी लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली लगभग ठप है, शोरशराबे में बिना बहस के क़ानून पारित कर दिये जाते हैं। जो सरकार का नेतृत्व कर रहे हैं वे संसद के अंदर और बाहर हर वक़्त चुनावी भाषण ही देते हैं, सवालों के जवाब नहीं। जहां कार्यपालिका का इस तरह विध्वंस हो रहा है, वहीं न्यायपालिका की स्वायत्तता पर ख़तरे का इशारा ख़ुद कई न्यायाधीश कर चुके हैं। उन पर भी साम, दाम, दंड, भेद से आर एस एस का शिकंजा कसता जा रहा है, जो कई एक फ़ैसलों में साफ़ दिखायी पड़ता है। 'बंद लिफ़ाफ़े' में सरकार से रिपोर्ट या 'हलफ़नामा' जैसा कुछ लिया जाता है और राफ़ेल सौदा घोटाला दबा दिया जाता है और न्यायाधीश रिटायर होकर इनाम पा लेता है। सरकारी मशीनरी में जो कमोबेश स्वायत्त तंत्र जैसे दिखते थे, वे आर एस एस के ग़ुलाम की तरह काम कर रहे हैं, विपक्ष के नेताओं के यहां छापे पड़ते हैं, करोड़ों की संपत्ति और घोटालों के दाग़ी नेता अगर बीजेपी में शामिल हो जायें तो स्वच्छ और निर्मल हो जाते हैं। इस निज़ाम की पीठ पर सबसे अमीर कारपोरेट घराने और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी है जिन्हें लोकतांत्रिक व्यवस्था रास नहीं आती। फ़ासीवाद ऐतिहासिक रूप से इसी वित्तीय पूंजी का सबसे घिनौना हथियार है। इसीलिए दुनिया के अधिकतर देशों में दक्षिणपंथी सरकारें क़ायम हो रही हैं।

इसी वित्तीय पूंजी की ग़ुलाम इस सरकार ने अनापशनाप विदेशी क़र्ज़ देश के ऊपर चढ़ा दिया है। मोदी सरकार के सत्ता में आने से पहले, वित्त मंत्रालय के आंकड़ों के अनुसार मार्च 2014 में देश पर विदेशी क़र्ज़ 446,484 मिलियन अमेरिकी डालर था जो मार्च 2022 के अंत में बढ़कर 620.7 बिलियन अमेरिकी डॉलर हो गया1उसका ब्याज चुकाने के लिए उसी के इशारे पर ग़रीब अवाम की जेब से भी उसकी कमाई छीनी जा रही है, गेहूं, आटा, दाल, दूध दही आदि सभी पर भारी टैक्स इसी वजह से लगाया जा रहा है। अमीर कारपोरेट घरानों के पास ही सारी पूंजी यानी देश के श्रम से पैदा हुआ 'अतिरिक्त मूल्य' जमा हो रहा है। मध्यवर्ग और वेतनभोगी लोगों का जो पैसा बैंकों में जमा होता है, उस पर ब्याज घटता जा रहा है। यही वजह है कि सबसे बड़े कारपोरेट घरानों की संपत्ति दिनदूनी और रात चौगुनी हो रही है। गौतम अडानी इसी दौर में दुनिया के सबसे धनी लोगों में तीसरे नंबर पर आ चुका है। इस शोषण परंपराक्रम के विरोध में आवाज़ उठाने वालों पर दमन और उत्पीड़न का सिलसिला जारी है। बड़े मीडिया हाउस पूरी तरह कारेपोरेट घरानों के हाथ में हैं, एन डी टी वी जैसे एक दो चैनल जो जनतांत्रिक दायित्व निभाने की थोड़ी बहुत कोशिश करते हैं और प्रतिरोध के स्वरों को भी सामने लाने की हिम्मत दिखाते हैं, सत्तासीन नेतृत्व से सवाल करने की ज़ुर्रत करते हैं, वे भी सत्तापोषक कारपोरेट घरानों की नज़र में खटकते हैं, गौतम अडानी द्वारा एनडीटीवी ख़रीदने की जीतोड़ कोशिश इसी का उदाहरण है। विरोध की आवाज़ वित्तीय पूंजी को क़तई बर्दाश्त नहीं। इसीलिए छोटे छोटे यूट्यब चैनल सोशल मीडिया का एक लोकप्रिय सूचना माध्यम बन रहे हैं।

ऐसे माहौल में लेखक कलाकार ही एक सतत प्रतिपक्ष बन कर संगठित या व्यक्तिगत स्तर पर अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभा रहे हैं, वे हिटलर मुसोलिनी के दौर में भी दुनियाभर में फ़ासीवाद के विरोध में संगठित हुए थे, कुछ ने तो अपनी जानें क़ुरबान कर दी थीं, आज भी लेखक कलाकार फ़ासीवाद के विरोध में इसीलिए खड़े हैं क्योंकि उन्हें अपनी अभिव्यक्ति की आज़ादी और अपने जनवादी अधिकारों से प्यार है, और वे यह जानते हैं कि यह आज़ादी देश के शोषित वंचित दलित अवाम की अभिव्यक्ति की और संगठित होने के अधिकार की आज़ादी का ही अभिन्न हिस्सा है। इसीलिए ऐतिहासिक किसान आंदोलन में और अन्य जनवादी आंदोलनों में लेखकों की आवाज़ पूरे समय शामिल रही। यह आवाज़ आगे भी शामिल रहेगी ही।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

एक महान मार्क्सवादी का जीवन

विजय प्रशाद

एजाज़ अहमद (1941-2022) ने 9 मार्च को अपनी किताबों, अपने बच्चों और अपने दोस्तों की आत्मीय ऊष्मा के बीच अंतिम सांस ली। ब्रिटिश भारत के मुज़्ज़फ़रनगर में जन्मे एजाज़ बचपन से ही पढ़ाकू रहे थे। उनके पिता ने उन्हें पढ़ने के लिए कुछ रेडिकल क़िस्म की किताबें दीं, इन किताबों ने उन्हें गंगा के मैदान के दोआब क्षेत्र के बाहर की दुनिया और पूंजीवादी व्यवस्था की सीमाओं से बाहर के संसार को समझने में मदद की और एजाज़ अहमद ने कम उम्र से ही अंतर्राष्ट्रीयता और समाजवाद का स्वप्न देखना शुरू कर दिया।

उनकी शिक्षा दीक्षा लाहौर (पाकिस्तान) में हुई जहां उनका परिवार, वर्ष 1947-48 में, विभाजन के बाद पलायन कर गया था, परंतु यह अध्ययन महाविद्यालय की कक्षाओं में उतना नहीं हुआ जितना वहां के कॉफ़ी हाउस और राजनीतिक संगठनों की बैठकों में हुआ। इन्हीं कॉफ़ी हाउसों में एजाज़ की मुलाक़ात उर्दू अदब के बेहतरीन अदीबों से हुई जिनसे उन्हें शायरी और राजनीति दोनों की शिक्षा मिली; राजनीतिक बैठकों में उनका सामना मार्क्सवादी विचारधारा की गहराई से हुआ, यहां उन्हें इस दुनिया को देखने की एक असीम दृष्टि मिली जो ताउम्र उनके साथ बनी रही। पाकिस्तान की वामपंथी राजनीतिक उथल पुथल में अपनी सक्रियता के चलते वे अधिकारियों की नज़र में आ गये और अंततः उन्हें देश छोड़कर न्यूयार्क जाना पड़ा।

शायरी और राजनीति - एजाज़ अहमद के ये दोनों ही शौक न्यूयार्क में परवान चढ़े। उर्दू शायरी के इश्क़ को वे उस समय के लोकप्रिय कवियों, एड्रिएन रिच, विलियम स्ट्राफ़ोर्ड तथा डब्लू एस मेरविन तक ले गये, इन लेखकों के सामने ग़ालिब की शायरी पढ़ते, मयकशी के बीच उन्हें ग़ालिब की भाषा और इस शायरी की व्याख्या में डूबते उतरते देखा। बाद में यही अभिनव काम एजाज़ की पहली किताब *ग़ालिब की ग़ज़लें* शीर्षक से वर्ष 1971 में प्रकाशित होकर हमारे सामने आया। ठीक इसी समय फ़िरोज़ अहमद के साथ मिलकर उन्होंने *पाकिस्तान फ़ोरम* नाम की एक आलोचनात्मक पत्रिका को प्रकाशित करने का निर्णय लिया जिसमें याह्या ख़ान (1969-1971) की सैन्य तानाशाही पर तथा दक्षिण एशिया में अत्याचारों का दस्तावेज़ीकरण किया था। साथ ही उन्होंने ज़ुल्फिक़ार अली भुट्टो की लोकतांत्रिक वापसी (1971-1977) और बलूचिस्तान में विद्रोह के बारे में भी लिखा। इसी अवधि में एजाज़ ने *मंथली रिव्यू* जैसी समाजवादी पत्रिकाओं के लिए दक्षिण एशियाई राजनीति के बारे में लिखना शुरू किया, जिसके साथ अगले कई दशकों तक उनका घनिष्ठ संबंध बना रहा। अस्सी के दशक में, एजाज़ अहमद भारत लौट आये। दिल्ली में निवास करते हुए उन्होंने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय सहित शहर की विभिन्न शिक्षण संस्थाओं में अध्यापन किया। इस अवधि में, एजाज़ ने आलोचना की एक लय पकड़ ली थी जिसकी परिधि में उत्तर आधुनिक और उत्तर-उपनिवेशवाद, हिंदुत्व और उदारीकरण,और संयुक्त राज्य अमेरिका और अमेरिका द्वारा संचालित वैश्वीकरण के आसपास केंद्रित नयी विश्व व्यवस्था जैसे विषय प्रमुख थे।

संस्कृति और साहित्य के प्रशंसक एजाज़ ने अपना एक विश्लेषण विकसित किया और बताया कि महानगरीय विश्वविद्यालयों द्वारा बहुत हल्के ढंग से तीसरी दुनिया की संस्कृतियों का मूल्यांकन किया जा रहा था। इस काम ने उत्तर-आधुनिकतावाद और उत्तर-उपनिवेशवाद के प्रभावी नकारात्मक मूल्यांकन का द्वार खोला, साथ ही प्रमुख मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचक फ्रेडरिक जेम्सन और ओरिएंटलिज़्म (प्राच्यवाद) के प्रमुख आलोचक

एडवर्ड सईद के काम का गहन अध्ययन शामिल है। एजाज़ के उत्तर-आधुनिकतावाद और उत्तर-उपनिवेशवाद के अध्ययन के केंद्र में उनके मार्क्सवाद का उनका खंडन था। 'उत्तर-मार्क्सवाद', उन्होंने मुझसे कहा, 'पूर्व-मार्क्सवाद' के अलावा और कुछ नहीं है, यह उस आदर्शवाद की वापसी है जिसे मार्क्स ने आगे बढ़ाया'। इस टिप्पणी के वक़्त एजाज़ के ज़ेहन में अर्नेस्टो लैक्लाऊ और चैंटल मौफ़े की किताब, *हेजमोनी एंड सोशलिस्ट स्ट्रैटेजी*(1985), थी, जिसमें इतालवी कम्युनिस्ट एंटोनियो ग्राम्शी को उत्तर-आधुनिक विचारक के रूप में लिखा गया था। इसी संदर्भ में एजाज़ ने ग्राम्शी के काम को बारीक़ी से पढ़ना शुरू किया। यह अध्ययन एजाज़ की क्लासिक किताब, *इन थियरी: क्लासेस, नेशंस, लिटरेचर्स* (वर्सो एंड ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1992) में प्रकाशित हुई थी। इस बात को संक्षेप में कहना कठिन है कि इस पुस्तक का विश्व भर के विद्वानों पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा।

जब मार्क्सवाद पर हमले हो रहे थे, एजाज़ उन गिने चुने विचारकों में से एक थे जिन्होंने इसकी प्रासंगिकता का ही नहीं, बल्कि इसकी आवश्यकता का एक परिष्कृत लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। 'उत्तर उपनिवेशवाद भी, अधिकांश चीज़ों की तरह, वर्ग का मसला है', उन्होंने इस तरह के तीखेपन के साथ लिखा जिससे उनका गद्य भी परिभाषित होता है। *इन थियरी* उनकी एक ऐसी किताब थी जिसने एक पूरी पीढ़ी को थियरी के बारे में सोचना और लिखना सिखाया। इस पुस्तक तथा *मंथली रिव्यू* में प्रकाशित निबंधों के माध्यम से एजाज़ ने मार्क्सवादी परंपरा की हिफाज़त करते हुए महत्वपूर्ण स्थापना प्रस्तुत की। 'मार्क्स अपरिमित है', समीर अमीन ने लिखा, इस पंक्ति की चर्चा एजाज़ ने मुझसे उस समय की जब हम एजाज़ की प्रस्तावना के साथ समीर के लेखन पर एक पुस्तक तैयार कर रहे थे। यह मसला अनंत है क्योंकि पूंजीवाद की आलोचना भी तब तक अधूरी है जब तक पूंजीवाद पर क़ाबू नहीं पा लिया जाता। इसलिए मार्क्स को ख़ारिज करना पूंजीवादी व्यवस्था और मानवता पर उसकी पकड़ की खोज के लिए बनाये गये उपकरणों के सबसे शक्तिशाली टूल्स को अस्वीकार करना है।

'प्रत्येक देश को वह फ़ासीवाद मिलता है जिसका वह हक़दार है', यह एक ऐसा वाक्य है जो एजाज़ के इस अवधि के लेखन में मिलता है। ग्राम्शी के उनके अध्ययन ने उन्हें वर्ष 1992 में बाबरी मस्जिद के ध्वंस से ठीक पहले और बाद की अवधि में हिंदुत्व के उदय को प्रभावी ढंग से रेखांकित करने में मदद की। भारत में एक पूरी पीढ़ी ने, उदारीकरण और तेज़ी से बढ़ते हिंदुत्व की घटनाओं से हतप्रभ, एजाज़ के स्पष्ट और प्रभावी गद्य में शरण ली, जिसने भारत में उदय होते कट्टरवादी दक्षिणपंथ के चरित्र की पहचान स्थापित की। उनका यह लेखन, लिनिइएज ऑफ़ दी प्रेज़ेंट : पॉलिटिकल एस्सेज़ (तूलिका, 1996) में संकलित है। कट्टरपंथ को लेकर ये विचार एजाज़ का लगातार पीछा करते हैं।अपने जीवन के अंतिम दशक में, उन्होंने बड़ी सावधानी से दक्षिण पंथ की कट्टरता का अध्ययन किया और अपनी कृतियों में अभिव्यक्त किया। यही अध्ययन वेलेक व्याख्यान के रूप में सामने आया जब उन्होंने वर्ष 2017 में कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय (इरविन) में व्याख्यान दिया जिसे 'लेफ़्ट वर्ड बुक्स' द्वारा संकलित कर प्रकाशित किये जाने की योजना है।

अपने लेखन में एजाज़ का एक योगदान यह है कि उन्होंने हमारी संस्कृति के अंदर की उस कठोरता पर ज़ोर दिया जो जाति व्यवस्था की दुर्दशा और पितृसत्ता के पदानुक्रम में निहित है। हर देश को वह फ़ासीवाद मिल रहा है जिसका कि वह हकदार है, इस सूत्र से उनका यही मतलब था। हिंदुत्व की जड़ों को समझने के लिए, क्रूर संस्कृति की मूल जड़ को समझना होगा, जिसमें निजीकरण के एजेंडे ने श्रम को और भी अधिक क्रूर बनाया और राजनीतिक हिंदू दक्षिणपंथ के उदय के लिए परिस्थितियां पैदा की हैं। उनके ये लेख, जो कि अधिकांशतः उनके द्वारा पूरे देश में विभ्रांति के समय व्याख्यान के रूप में दिये गये हैं आज भी क्लासिक बने हुए हैं। इनका पाठ और पुनर्पाठ आवश्यक है क्योंकि हम इन फ़ासीवादी ताक़तों से मानवीय गरिमा पर हमले का लगातार सामना कर रहे हैं। आशा पर ग्रहण लगभग पूरा होने पर भी एजाज़ ने हमें आत्मविश्वास दिया है।

वे कठिन वर्ष थे। वर्ष 1991 में भारत का उदारीकरण हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसी वर्ष इराक़

पर घातक हमला किया। अगले वर्ष 1992 में कट्टर दक्षिणपंथी ताक़तों ने अयोध्या में सोलहवीं शताब्दी की एक मस्जिद को नष्ट कर दिया। दो साल बाद 1994 में 'विश्व व्यापार संगठन' की स्थापना हुई। समाजवाद के संसाधन छीज रहे थे। इस दशक के दौरान, एजाज़ का लेखन और भाषण - अक्सर लघु पत्रिकाओं में और पार्टी प्रकाशनों में प्रकाशित होते थे और व्यापक रूप से प्रसारित होते थे। दिल्ली में हमें नियमित रूप से उन्हें सुनने का सौभाग्य मिला, न केवल सार्वजनिक स्थानों पर, बल्कि नेहरू मेमोरियल संग्रहालय और पुस्तकालय में कुट्टी के चाय घर जैसे स्थानों पर - जहां वे एक वरिष्ठ अध्येता थे। हमने उन्हें स्टूडेंट फ़ेडरेशन ऑफ़ इंडिया के आयोजनों में भी सुना जिसमें उन्होंने एक वक्ता के रूप में भाग लिया। वर्ष 1997 में, जब अरुंधति रॉय ने अपना उपन्यास, *द गॉड ऑफ़ स्मॉल थिंग्स* प्रकाशित किया, तो एजाज़ ने इसे बहुत ध्यान और उत्साह के साथ पढ़ा।

एक बार मैं एन. राम और एजाज़ के साथ एक बैठक में था, जब उन्होंने किसी किताब के बारे में बात की, और राम ने एजाज़ को इसके बारे में *फ्रंटलाइन* के लिए लिखने को कहा। वह निबंध - 'अरुंधति रॉय को राजनीतिक रूप से पढ़ना', साहित्यिक आलोचना का अनमोल नगीना है। यह बड़ी अजीब बात है कि यह निबंध एजाज़ के संग्रह या अरुंधति के काम पर उनकी किसी भी किताब में शामिल नहीं है। उस निबंध ने *फ्रंटलाइन* के साथ एक लंबा रिश्ता शुरू किया जो अंत तक चला। एजाज़ पाठकों को दुनिया में होने वाली घटनाओं के लिए उन्मुख करने के लिए लंबे लेख लिखे, विशेष रूप से 9/11 के बाद की घटनाओं के विनाशकारी मोड़, अफ़ग़ानिस्तान और इराक़ पर युद्ध, सीरिया और लीबिया में युद्ध... लैटिन अमेरिका में ह्यूगो शावेज के नेतृत्व में वामपंथ का विकास आदि। ये निबंध, एक बार फिर व्यापक रूप से प्रसारित हुए और एजाज़ की पुस्तक, *इराक़, अफ़ग़ानिस्तान एंड इम्पिरीयलिज़्म ऑफ़ अवर टाइम* (लेफ़्टवर्ड, 2004) का आधार बने।

1990 के दशक के मध्य में, सोवियत संघ के विघटन के बाद, यह स्पष्ट हो गया कि मार्क्सवाद विचारों की लड़ाई में पिछड़ गया था, क्योंकि नव-उदारवाद ने न सिर्फ़ लोकप्रिय संस्कृति (जिसके केंद्र में व्यक्तिवाद और लालच था) की शब्दावली में प्रवेश किया, बल्कि नव-उदरवाद के रूप में उत्तर-आधुनिकतावाद के माध्यम से बौद्धिक जगत में भी प्रवेश किया। एक गंभीर वामपंथी प्रकाशन परियोजना की कमी ने हम सभी को निराश किया। इसी अवधि में वर्ष 1999 में दिल्ली में 'लेफ़्ट वर्ड बुक्स' की स्थापना की गयी । एजाज़ इस पब्लिशिंग हाउस के पहले लेखकों में से एक थे - *ए वर्ल्ड टू विन* , प्रकाश करात द्वारा संपादित पुस्तक में *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* पर एक शानदार निबंध लिख रहे थे। एजाज़ लेफ़्टवर्ड बुक्स के संपादकीय बोर्ड में थे और उन्होंने पिछले दशकों में अपने काम की दिशा के साथ हम सभी को प्रोत्साहित किया। उनसे आख़िरी मुलाक़ात में, सुधन्वा देशपांडे, माला हाश्मी और मैंने एजाज़ के साथ उनके जीवन और उनके काम के बारे में एक लंबा साक्षात्कार करने के लिए कुछ दिन बिताये। यह साक्षात्कार अंततः *नथिंग ह्यूमन इज़ एलियन टू मी* (लेफ़्टवर्ड, 2020) में प्रकाशित हुआ। अपने अंतिम दो वर्षों के दौरान, एजाज़ ने मार्क्स के राजनीतिक लेखन के परिचय पर एक शृंखला करने की योजना बनायी।

'मार्क्स को उनके आर्थिक लेखन के कार्यों के लिए बहुत संकीर्ण माना जाता है, जो महत्वपूर्ण है', वे कहते हैं, 'लेकिन उनके राजनीतिक लेख उनकी क्रांतिकारी दृष्टि को समझने की कुंजी हैं'। हमने इनमें से कुछ किताबों के बारे में साक्षात्कार की एक शृंखला शुरू की (*कम्युनिस्ट घोषणापत्र*, *जर्मन विचारधारा* का पहला खंड, द *एटीन्थ ब्रूमायर*, पेरिस कम्यून पर मार्क्स का लेखन); हमने इस सामग्री को उनके द्वारा कल्पना की गयी भूमिका में बदलने और साथ ही मार्क्स पर उनके लेखन की एक पुस्तक तैयार करने की योजना बनायी।

वर्ष 2009 में, प्रबीर पुरकायस्थ और अन्य ने हमारे समय के महत्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा करने के लिए एक वेब-आधारित समाचार पोर्टल *न्यूज़क्लिक* की शुरुआत की तथा एजाज़ शुरुआती मेहमानों में से एक थे और *न्यूज़क्लिक* चैनल पर एक नियमित आवाज़ बने रहे। वे पश्चिम एशिया और उत्तरी अफ्रीका में युद्धों के साथ-साथ संयुक्त राज्य अमेरिका और चीन, दक्षिण अमेरिका और यूरोप में राजनीतिक घटनाक्रम के बारे में भी इस पोर्टल पर विस्तार से वार्ता करते रहे। यह बातचीत उस समय के महत्वपूर्ण अभिलेखों का संग्रह है। वे एजाज़ की बुद्धि, उसकी मुस्कान को भी सामने लाते हैं ताकि किसी को तीखी टिप्पणी के लिए सचेत किया जा सके। *फ्रंटलाइन* कॉलम और *न्यूज़क्लिक* साक्षात्कारों के बीच, लोगों की एक पीढ़ी ने न केवल इस या उस घटना के बारे में सीखा बल्कि यह भी

सीखा कि दुनिया को एक पूर्ण संरचना के रूप में कैसे देखना है, हमारे समय की महान प्रक्रियाओं के संबंध में घटनाओं को कैसे समझना है। इनमें से प्रत्येक हस्तक्षेप एक संगोष्ठी की तरह था, यह जानने के लिए कि क्या हो रहा है, इसके बारे में जानने के लिए कितना सोचना है।

एजाज़ ने भारत, कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका के विश्वविद्यालयों में पढ़ाया, साथ ही फ़िलीपींस से मैक्सिको तक व्याख्यान दिये। अपने जीवन के अंत में, वे *ट्राइकॉन्टिनेंटल: इंस्टीट्यूट फ़ार सोशल रिसर्च* में सीनियर फैलो बन गये, जहां उन्होंने मार्क्सवाद की असीमता पर नयी पीढ़ी के बुद्धिजीवियों को सलाह दी। वे हमारे समय में विचारों की लंबी अवधि की लड़ाई में नये बुद्धिजीवियों के विश्वास का निर्माण करने के लिए लोकप्रिय शिक्षा पर कुछ काम करने के लिए उत्सुक थे। एजाज़ जैसा शख़्स जब हमें छोड़ जाता है तो उसकी आवाज़ हमारे कानों में बनी रहती है। यह आवाज़ लंबे समय तक हमारे साथ रहेगी।

साक्षात्कार
ग्राम्शी और हिंदुत्व

विजय प्रशाद :1992 में अयोध्या में बाबरी मस्जिद के विनाश के बाद, आप अपना ध्यान बहुत गंभीरता से हिंदुत्व के उदय के सवाल पर लगाना शुरू करते हैं, न केवल इस मुद्दे को उठाते हैं बल्कि पूरी ताक़त से इसे सतह पर प्रकट करते हैं। आप शायद इन घटनाओं को समझने के लिए स्वयं के उन्मुखीकरण के लिए ग्राम्शी पढ़ रहे हैं। इस अवधि में आपने हिंदुत्व पर, आरएसएस पर कई महत्वपूर्ण व्याख्यान दिये और निबंध भी लिखे हैं। फ़िलवक़्त उसके विस्तार में जाने का समय तो नहीं है, लेकिन क्या आप इस नये संकट में स्वयं को उलझा हुआ पाते हैं।

एजाज़ अहमद : जब मैं पहली बार भारत में रहने के लिए लौटा, मुझे बहुत जल्दी एहसास हुआ कि भारत के बारे में मेरा ज्ञान वास्तव में बहुत उथला था। मुझे जितना हो सके कुछ समय सोचने, पढ़ने, देखने, समझने में लगाना था। ... यह बाबरी मस्जिद ध्वंस था जिसने मुझे भारत पर लिखने के बारे में अपने निषेध को त्यागने के लिए मजबूर किया। दिसंबर के अंत में, अयोध्या के कुछ ही हफ़्तों बाद, मैंने कलकत्ता में 'सेंटर फ़ॉर यूरोपियन स्टडीज़' में 'अमल भट्टाचार्जी स्मृति व्याख्यान' दिया। मेरे ज़ेहन में केवल आरएसएस था, लेकिन क्योंकि यह यूरोपीय अध्ययन केंद्र था, मुझे एक यूरोपीय विचारक को इस व्याख्यान के केंद्र में लाने के लिए मजबूर होना पड़ा और फ़ासीवाद के समय के महान बुद्धिजीवी ग्राम्शी इन परिस्थितियों में सही विकल्प लगे। इसलिए यह व्याख्यान 'हिंदुत्व के दिनों में ग्राम्शी का अध्ययन' था। उस निबंध के साथ दो बड़ी समस्याएं हैं। एक यह है कि इसमें बहुत समरूपता है: ग्राम्शी के अनुसार इटली में ऐसा ही हुआ था, और भारत में हमारे लिए यह इसी तरह प्रतिध्वनित है। इसी तरह, मैं उस व्याख्यान में भारत के बारे में सीधे अपने शब्दों में नहीं सोच रहा हूं, जिसमें ग्राम्शी के विचार मेरे अपने विचारों में समाहित हैं। इसके बजाय, मैं ग्राम्शी को उनके विचारों को लागू करने के लिए उद्धृत करता हूं, जो कि ग़लत काम है क्योंकि उनकी तरह के राजनीतिक बुद्धिजीवी अपने समय और स्थान की आवश्यकताओं के संदर्भ में ठोस रूप से सोचते हैं। फिर, मुझे 'डेक्कन डेवलपमेंट सोसाइटी' द्वारा आयोजित 'संस्कृति, समुदाय और राष्ट्र' पर एक कार्यशाला में भाग लेने के लिए एक साल बाद हैदराबाद आमंत्रित किया गया। यह अयोध्या मस्जिद के विनाश की पहली वर्षगांठ मनाने के लिए था। यह दूसरा व्याख्यान- 'ऑन द रुईन्स ऑफ़ अयोध्या' - बहुत लंबा था; इसे पूरा करने में लगभग डेढ़ घंटे का समय लगा। मैंने निश्चित रूप से तब से अब तक तर्क के स्तर पर ख़ुद को काफ़ी हद तक बदला और परिष्कृत किया है, लेकिन मुझे अभी भी लगता है कि आरएसएस पर मेरे विचार का मूल आधार, भारत में फ़ासीवाद और संबंधित मामलों पर उस निबंध में जो व्याख्या की गयी थी उसी पर आधारित हैं। तो इस तरह ये दोनों बुनियादी निबंध हैं। फिर एक और निबंध है जो मैंने दो साल बाद 'जर्मिनल' के लिए किया, जो दिल्ली विश्वविद्यालय में ' जर्मनिक एंड रोमांस स्टडीज़ ' विभाग की पत्रिका है, जो कि इतालवी फ़ासीवाद पर है। यह मेरे इतालवी फ़ासीवाद के व्यापक अध्ययन का परिणाम था और किस तरह से यह देश के विभिन्न हिस्सों में, ख़ासकर ग्रामीण इलाक़ों में ताक़तवर हुआ। पहले

के ग्राम्शी निबंध के विपरीत, जो भारतीय स्थिति के साथ अस्वाभाविक समानताओं से प्रभावित है, यह इतालवी फ़ासीवाद और इसकी वर्ग प्रथाओं की विशिष्टता को रेखांकित करता है। तब से, मैंने हमेशा इस बात पर ज़ोर दिया है कि व्यवहार में हर फ़ासीवाद ख़ासतौर से राष्ट्रीय रूप लेता है और समानताओं पर बहुत अधिक काम करना अनुत्पादक ही सिद्ध होगा। इसलिए, वैचारिक स्तर पर, मैं आरएसएस के बारे में विशेष रूप से उसके फ़ासीवादी चरित्र के बारे में सोचता रहा तथा इसके विपरीत, यह भी कि इसके कौन से वे अमल हैं,जो भारतीय राजनीति को लेकर इसके बोध में निहित हैं और इस बहुत ठोस स्थिति में यह किस तरह दक्षिणपंथी क्रांति कर सकता है। भारत के संदर्भ में जिन चीज़ों के बारे में मैं अभी तक नहीं सोच पाया उनमें से एक कृषि जगत में फ़ासीवाद की गहरी भूमिका है, जो इटली में बहुत महत्वपूर्ण थी। बाद में ही मुझे पता चला कि जर्मनी और स्पेन में, और आम तौर पर जहां भी फ़ासीवाद बढ़ता है, कृषि संबंधी सवाल कितने महत्वपूर्ण हैं। भारत में इन बातों के बारे में सैद्धांतिक रूप से सोचना मुश्किल है क्योंकि अनुभवजन्य आधार अच्छी तरह से विकसित नहीं है। हम वास्तव में देश के इतने सारे हिस्सों में भाजपा की सत्ता के प्रसार में मध्यम और धनी किसानों की भूमिका के बारे में बहुत अधिक अनुभवजन्य रूप से नहीं जानते हैं, इस दुनिया को हिंदुत्व के दृष्टिकोण से देखने के प्रति सहमति की तो यहां बात ही नहीं की जा रही है। उत्तर प्रदेश के किसान, आदित्यनाथ और उस राज्य में बीजेपी का नेतृत्व करने वाले उनके जैसे लोगों को कैसे देखते हैं? विश्वसनीय निर्णय लेने के लिए मेरे पास पर्याप्त अनुभवजन्य तथ्य नहीं हैं। मैंने मुस्लिम बहुल देशों में इस तरह के बदलाव के साथ लगभग बीस वर्षों के जुड़ाव के बाद भारत में सांप्रदायिकता और राजनीतिक धार्मिकता के बारे में लिखना शुरू किया। एक के बाद एक जगह इस्लामवाद वामपंथ या धर्मनिरपेक्ष अरब राष्ट्रवाद की हार के बाद पैदा हुए ख़ालीपन को भरने के लिए उभरा। इंडोनेशिया में कम्युनिस्टों के ख़ूनख़राबे में इस्लामी संगठन सुहार्तो के सैनिकों के प्रमुख सहयोगी थे। आज हम इस बात को भूल जाते हैं कि हिज़्बुल्लाह और अमाल के इस समय में, दक्षिणी लेबनान में शिया किसान कभी लेबनानी कम्युनिस्ट पार्टी के सामाजिक आधार थे। सऊदी अरब के वहाबवाद जिसे मैं 'रेगिस्तानी इस्लाम' कहता हूं, के साथ उसका प्रभुत्व सीधे तौर पर नासिर और अरब धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद की हार के समानुपाती था। ईरान में भी यही बात है- 1948 में, तेहरान में ब्रिटिश कॉउन्सिल ने विदेशी कार्यालय को एक गुप्त मेमो (पत्र) लिखा, कि तूदेह (ईरानी कम्युनिस्टों का संगठन)को कोई क्रांति करने की आवश्यकता नहीं है और वे केवल चुनावों के माध्यम से सत्ता हासिल कर सकते हैं। यह 1948 की बात थी। वर्ष 1953 में, सीआइए ने राष्ट्रवादियों को उखाड़ फेंका और इरान की खौफ़नाक गुप्तचर सेवा सवाक (SAVAK) को प्रशिक्षण देना शुरू कर दिया। यही गुप्तचर सेवा कम्युनिस्टों के ख़ूनख़राबे को अंजाम देती है और सिर्फ़ वही लोग अपवाद स्वरूप जीवित रह सके जो निर्वासन में जाने में कामयाब रहे या भूमिगत हो गये। और आख़िर में इस शून्य को भरने कौन आया? इस्लामवाद। जैसे ही अमेरिकियों ने धर्मनिरपेक्ष बाथिस्ट राज्य को नष्ट किया इस्लामवादियों और जातीय-राष्ट्रवादियों का एक पूरा समूह इराक़ में वर्चस्व और शक्ति के लिए आगे बढ़ गया। राष्ट्रवाद का प्रश्न एक महत्वपूर्ण भूभाग है जिस पर धर्मनिरपेक्ष वामपंथ और धार्मिक अधिकारों के बीच यह संघर्ष छिड़ जाता है। धर्मनिरपेक्ष अरब राष्ट्रवाद की हार के बाद सबसे प्रतिगामी प्रकार के सर्व इस्लामवादी (पैन-इस्लामवादी) पैदा होते हैं। हाल ही में स्वतंत्र समाजों और साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रवाद एक वस्तुनिष्ठ आवश्यकता है। पूंजीवाद के अवस्थांतरण के लिए भी यह एक वस्तुपरक आवश्यकता भी है क्योंकि इस तरह का संक्रमण एक बहुत ही दर्दनाक प्रक्रिया है और उस प्रक्रिया के दबाव में समाज के विघटन को रोकने के लिए एक राष्ट्रीय जुड़ाव का होना आवश्यक है । यदि धर्मनिरपेक्ष वामपंथ उस स्थान पर कब्ज़ा करने में विफल रहता है, तो धार्मिक दक्षिणपंथ का इस पर कब्ज़ा होगा।

विजय प्रशाद : दूसरा बिंदु, जिसे आप बेहद बेचैनी के साथ यहां उठाते हैं, वह नृशंसता या क्रूरता की संस्कृति को लेकर है। आप कहते हैं कि संघ के राजनीतिक विमर्श में एक ऐसी संस्कृति की पहचान हुई है, जो धार्मिकता के अधिनायकवादी रूपों के साथ बनती है और नये नये तरीक़ों का निर्माण करने में मिली हर नाकामी लोगों के उन बड़े समूहों को पर्याप्त रूप से नवीनता का जोख़िम उठाने देती है, जो हमेशा उन लोगों में से एक बड़े समूह को उस परिधि में आगे बढ़ने को लेकर प्रोत्साहित करते हैं, जो उन्हें जाने-पहचाने से दिखते हैं; रूढ़िवाद का जन्म न

सिर्फ़ विशेषाधिकार और उस विशेषाधिकार की रक्षा करने की इच्छा से पैदा हुआ है, बल्कि यह रूढ़िवाद,और शायद निश्चित रूप से दर्द के अहसास और आने वाले दिनों की परेशानियों के डर से भी पैदा होता है।

एजाज़ अहमद : फ़ासीवाद का जनाधार वर्ग विशेषाधिकार से नहीं, बल्कि वर्ग और जाति की पीड़ा से ज़्यादा जुड़ा हुआ है। यदि आप बाबरी मस्जिद के नष्ट होने की तस्वीरों को देखें, तो आप उन लोगों के बारे में पूछते हैं जो गुंबदों पर चढ़ गये थे , 'ये कौन लोग हैं ? वे किस वर्ग के हैं?' वे उच्च वर्ग या उच्च जातियों से नहीं आते हैं; ये वे लोग हैं जो पूंजीवाद और जाति आधारित समाज के अंतिम शिकार हैं। इस तरह की अनावश्यक हिंसा उन्हें शक्ति की भावना देती है - अपनी स्वयं की शक्तिहीनता पर क़ाबू पाने का भ्रम। कोई दूसरा तरीक़ा नहीं है जिससे उनमें गरिमा की भावना पैदा हो, इसलिए यह उनके लिए गरिमा की कल्पना है। इस पर मेरी सोच लुम्पेन-सर्वहारा वर्ग की भूमिका के बारे में सोचने से आती है, दो सौ वर्षों में प्रति-क्रांतिकारी आंदोलनों में सक्रिय रहे। यह कैसा सर्वहारा वर्ग है जो सर्वहारा वर्ग से भी ग़रीब है, सभी प्रतिक्रांतिकारी कार्यों का चारा बन जाता है? यह कैसे संभव होता है कि गुजरात में हुई हत्याओं में आदिवासी प्रमुख रूप से भाग लेते हैं या 1984 में सिखों की हत्या में दलित ?

आपके द्वारा उद्धृत उस परिच्छेद में वह सब कुछ है। हिंदू कहलाने की गरिमा जातिहीन लोगों को दिये जाने के नाम पर संघ इन सबका आह्वान कर सकता है। यह महात्मा गांधी के उस विचित्र विचार का ही बहुत हिंसक संस्करण है कि 'दलित' शब्द को 'हरिजन' शब्द से बदल देने से किसी तरह अछूतों की गरिमा में वृद्धि होगी। वामपंथ इन्हीं बाधाओं के ख़िलाफ़ आगे बढ़ता है; ये बाधाएं हमेशा वामपंथ के ख़िलाफ़ होती हैं...लाखों की संख्या और भारतीय संदर्भ में तो करोड़ों की तादाद में लोगों को लामबंद करना एक अविश्वसनीय उपलब्धि है। यह वास्तव में बेहद गंभीर बात है कि ब्राह्मणवाद जाति व्यवस्था की तमाम चुनौतियों के साथ सहस्राब्दियों से अपनी जगह पर उपस्थित है। साम्यवाद बहुत ही ठोस, बहुत ही ऐतिहासिक रूप से धरातल के भीतर गहरे तक धंसी उस ताक़त के विरोध में काम करता है।

विजय प्रशाद : 1990 के दशक में आपने अपने कई निबंधों में, 'क्रूरता की संस्कृति' पदबंध का प्रयोग किया। क्या आप इस पर कुछ प्रकाश डालेंगे?

एजाज़ अहमद : मैंने वास्तव में 'कल्चर्स ऑफ़ क्रुएल्टी' शीर्षक से एक विस्तृत निबंध प्रकाशित किया है। भारत में हर साल हज़ारों महिलाओं की हत्या उनके ही परिवार के सदस्यों द्वारा शुद्ध लैंगिक हिंसा के कारण की जाती है; अन्य हज़ारों महिलाओं को पर्याप्त दहेज न लाने या पतियों या ससुराल वालों की अवज्ञा करने के कारण मारा पीटा जाता है या उनके चेहरे विकृत कर दिये जाते हैं। हर साल हज़ारों दलित मारे जाते हैं। अनगिनत दलित महिलाओं के साथ जातिगत और वर्गगत नफ़रत के कारण बलात्कार होता है। इस तरह की दुनिया में, सांप्रदायिक उद्देश्यों से हत्या या बलात्कार करना आसान हो जाता है। मेरा विचार है कि सांप्रदायिक हिंसा, विशेष रूप से मुस्लिम-विरोधी हिंसा, दैनिक क्रूरताओं के व्यापक संजाल का एक पहलू है। आज़ाद भारत में मुसलमानों से ज़्यादा दलित मारे गये। अनेक ग़ैर-मुस्लिम महिलाओं की हत्या या बलात्कार किया गया है। तमाम तरह की क्रूरताएं हैं।

मेरा मानना है कि नेहरू तब एकदम सही थे,जब उन्होंने कहा था कि हिंदू सांप्रदायिकता को विशेष ताक़त के साथ विरोध करने की ज़रूरत है, क्योंकि यह भारत में एकमात्र संगठित प्रवृत्ति है,जो संभवतः फ़ासीवाद में बदल सकती है। हालांकि, मुझे लगता है कि आरएसएस को लेकर हम जिस तरह की बातें हमेशा करते हैं, उसमें कहीं न कहीं कुछ न कुछ समस्या है, हम ऐसे बातें करते हैं कि मानो बाक़ी समाज बहुत ही सभ्य, उदारवादी, बहुत आधुनिक रहा हो, और जैसे कि बस यही (फ्रिन्ज) छोटा सा हिस्सा है, जो मुसलमानों के ख़िलाफ़ भयानक क्रूरता की भावना के साथ चल रहा है। आइये हम मुसलमानों के ख़िलाफ़ इस क्रूरता को इस परिप्रेक्ष्य में देखें। आरएसएस हिंदू-मुस्लिम प्रश्न के इर्द-गिर्द उन्माद पैदा करके उदार हिंदुओं की आत्मा पर क़ब्ज़ा करना चाहता है, क्योंकि मुसलमानों की रक्षा कौन करता है? ये वामपंथी और हिंदू उदारवादी हैं। वामपंथियों और हिंदू उदारवादियों की उस एकजुटता के बिना,

आरएसएस के लिए बहुत बड़ी संख्या में मुसलमानों को मारना और बाक़ी को समाज के हाशिये पर दूसरे दर्जे के नागरिकों के रूप में धकेलना आसान हो जायेगा। आरएसएस मुसलमानों के ख़िलाफ़ एक जन उन्माद पैदा करना चाहता है ताकि वे उन वामपंथियों और हिंदू उदारवादियों को राष्ट्र-विरोधी और यहां तक कि हिंदू-विरोधी के रूप में नामित कर सकें, जो धार्मिक अल्पसंख्यकों के समान अधिकारों की रक्षा करते हैं। इस सब में, यहूदीवाद आरएसएस के लिए वास्तविक मॉडल है, जिस तरह नाज़ीवाद इज़रायल में यहूदीवादी चरमपंथियों के लिए फ़िलिस्तीनियों के साथ उनके व्यवहार के लिए वास्तविक मॉडल है। फिर भी, इसका एक और पक्ष है जिसे किसी भी हालत में नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए, कि सांप्रदायिक प्रश्न पर यह कुल एकाग्रता दलितों के ख़िलाफ़, महिलाओं के ख़िलाफ़ हिंसा के सवाल को दबा देती है। हालांकि वे तमाम दूसरी क्रूरताएं वास्तव में हमारे समाज की वह संरचनात्मक विशिष्टता हैं, जिन्हें आप एक ख़ास तरह के प्रतिगामी, फ़ासीवादी राजनीति के साथ भी नहीं जोड़ सकते हैं, क्योंकि यह बहुत कुछ वैसा है,जैसा कि हमारा समाज है। जातिगत हिंसा आंशिक रूप से वर्गगत हिंसा है, लेकिन यह आंशिक रूप से जातिगत हिंसा ही है। यह क्रूरता आदिवासियों के साथ भी है। यही 'क्रूरता की संस्कृति' वाले पदबंध का सार है।

भारत के धनी वर्गों और उच्च जातियों को दलित महिला के साथ छेड़छाड़ और बलात्कार करना बहुत आसान लगता है। उनके लिए इस बात से क्या फ़र्क़ पड़ता है कि वे जिस महिला का बलात्कार कर रहे हैं वह दलित है या मुसलमान? यह उसी विस्तार का हिस्सा है। इसकी जवाबी राजनीति महज़ सांप्रदायिकता विरोधी नहीं हो सकती, बल्कि इसके ख़िलाफ़ सांप्रदायिक, जातिगत और लिंगगत पीड़ितों का एक लामबंद संघर्ष ही काम करेगा; यह संघर्ष उस पूरी राष्ट्रव्यापी हालत के ख़िलाफ़ हो सकता है, जिसे मैंने 'क्रूरता की संस्कृति' कहा है।

(साक्षात्कार : *नथिंग ह्यूमन इज़ एलियन टू मी* (लेफ़्टवर्ड, 2020) का एक अंश)

vijay@leftword.com

अनुवाद : मणि मोहन

मो. : 9425150346

O

आपको याद होगा कि मार्क्सवाद का महत्व ख़त्म हो जाने की कथा बहुत पुरानी है। शुरू से ही कहा जा रहा है कि मैक्स वेबर के बाद समाजविज्ञान में मार्क्सवाद ख़त्म हो गया है; फिर चर्चा होने लगी कि कीन्स के बाद तो अर्थशास्त्र में मार्क्सवाद का कोई महत्व नहीं रह गया है। दूसरी आलमी जंग (विश्वयुद्ध) के बाद पश्चिमी यूरोप के देशों में पारलिमानी जम्हूरियत (संसदीय लोकतंत्र) का रिवाज आम हुआ तो कहा गया कि मेहनतकशों ने अपने सियासी हुक़ूक़ जिस तरह अमरीका और बर्तानिया में संसद और चुनाव के ज़रिये हासिल किये हैं, उसी तरह अब वो सारी दुनिया में ये हुक़ूक़ संसदीय शासन के ज़रिये हासिल कर सकते हैं यानी राजनीति में भी अब मार्क्सवाद का कोई महत्व नहीं रह गया है। साथ ही जब उन बहुत से देशों में कल्याणकारी राज्य बने, तो कहा गया कि अब तो आर्थिक ढांचे भी सरमायादारों और मज़दूर यूनियनों के समझौते से बन रहे हैं, अब मार्क्सवाद का क्या महत्व है? इसी नुक़्ता-ए-नज़र को आम करने के लिए उन्हीं दिनों अमरीकन लेखक डेनियल बेल की वो मशहूर किताब, *विचारधारा का अंत (दि एंड ऑफ़ आइडियोलोजी*) छपी जिसकी छाप पश्चिमी दुनिया पर आज भी इतनी गहरी है कि अब समाज और राजनीति के बारे में उत्तर आधुनिकतावाद जो कुछ कहता है, बेल की कही हुई बातों को एक फ्रांसीसी रंग देकर ही कहता है। लेकिन उत्तर आधुनिकतावाद के उरूज (उत्थान) से बहुत पहले ही बेल की आवाज़ में आवाज़ मिलाकर जॉन गालब्रेथ ने कहना शुरू कर दिया था कि अब न तो सरमायादारी का कोई मानी है न समाजवाद का, क्योंकि जो सनअती (औद्योगिक) समाज कभी बना था वो तो बन के टूट भी चुका, अब तो पोस्ट-इंडस्ट्रियल (उत्तर औद्योगिक) समाज है, जिसमें मार्क्सवाद तो क्या, किसी भी आइडियोलोजी का कोई महत्व नहीं है। यही विचारधाराएं हैं जिनके ताज़ातरीन मोड़ पर पहुंचकर फ़ुकुयामा ने हाल ही में एलान किया है कि जिस ज़माने में आइडियोलोजी तो क्या, इतिहास का भी अंत हो चुका, उसमें भला मार्क्सवाद का क्या महत्व होगा।

—एजाज़ अहमद, 'आज के ज़माने में मार्क्सवाद का महत्व' से एक अंश

एक अडिग, अविचल मार्क्सवादी

रविभूषण

एजाज़ अहमद (1941-9.3.2022) विख्यात मार्क्सवादी दार्शनिक, सुप्रसिद्ध साहित्यालोचक, विश्वविख्यात चिंतक, विचारक, राजनीतिक सिद्धांतकार, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरोधी, अनुवादक, कवि और पत्रकार थे। प्रभात पटनायक ने उन्हें 'मार्क्सवाद का अपहोल्डर' और अक़ील बिलग्रामी ने एक 'रोबस्ट' जन बुद्धिजीवी कहा है। एजाज़ के जीवन का बड़ा हिस्सा, लगभग पैंतालीस वर्ष, भारत में बीता। मुजफ़्फ़रनगर (उत्तर प्रदेश) के जिस गांव में उनका जन्म हुआ था, वहां न बिजली थी, न स्कूल। घर में उनकी आरंभिक शिक्षा हुई और बहुत बाद मैट्रिक करने के मात्र तीन वर्ष पहले वे स्कूल गये। परिवार की कोई स्त्री कभी स्कूल नहीं गयी थी और न कोई आदमी कॉलेज गया था। बचपन में उन्होंने व्यापक रूप से उर्दू साहित्य पढ़ा, जिसमें प्रगतिशील कविता और कथा-साहित्य की संख्या अधिक थी। आरंभ में कथा-साहित्य अधिक पढ़ा। जीवन पारंपरिक था, पर नये विचार नयी-नयी पुस्तकों से सामने आने लगे थे। पिता ने आरंभ में उन्हें पढ़ने के लिए जो चार किताबें दी थीं, उनमें एम.एन. राय की किताब, *हिस्टॉरिकल रोल ऑफ़ इस्लाम*(1938) और लेनिन की एक जीवनी थी। एजाज़, मंटो और लेनिन को पढ़कर सयाने हुए थे। दस वर्ष से कम की उम्र में ही उन्हेंने एम.एन. राय आदि को पढ़ा था। उस समय उनकी इच्छा लेखक बनने की नहीं थी। पचास के दशक के मध्य में, जब उनके पिता ने पाकिस्तान जाने का निश्चय किया, उनकी उम्र लगभग चौदह -पंद्रह की रही होगी। पाकिस्तान में कॉलेज में जाने के बाद उन्होंने लेखक बनने का निश्चय किया। वहां उन्होंने राजनीतिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेना आरंभ किया। कॉलेज के पहले वर्ष 1956 में, जब वे मात्र 15 वर्ष के थे, राजनीतिक कार्यों-गतिविधियों में शरीक हुए। छात्र-प्रदर्शन में हिस्सा लिया। कॉलेज में वे गंभीरतापूर्वक लेखन आरंभ कर चुके थे। बी.ए. में ही उनकी कहानियां और अनुवाद प्रकाशित होने लगे थे। लाहौर के फ़ोरमैन क्रिश्चियन कॉलेज में उन्होंने साहित्य और समाज विज्ञान की पढ़ाई की। इंटरमीडिएट के दो वर्षों में अर्थशास्त्र का अध्ययन किया था। इतिहास पढ़ा, थोड़ी फ़ारसी भी सीखी, अंग्रेज़ी का गहरा अध्ययन किया। एजाज़ मानविकी और समाज विज्ञान के अंतर को ग़लत मानते हैं। उन्होंने 'पोएक्टिस' और व्यावहारिक, वैचारिक, प्रत्ययात्मक ज्ञान को पुनर्स्थापित करने पर बल दिया है। आरंभ में ही उन्होंने मार्क्स, लेनिन, फ्रायड, सार्त्र, प्लेटो सबको पढ़ डाला था। विजय प्रशाद ने उनमें एक साथ विद्वत्ता और पांडित्य, विवेक और असीम करुणा-संवेदना देखी है। विशाल अध्ययन से उनमें पांडित्य आया और सिद्धांत से विवेक। एजाज़ ने आरंभ में ही 'साहित्यिक कृति की ठोस समझ' पर ध्यान दिया था, जिसे हम सलमान रुश्दी के 'शेम' पर लिखे उनके लेख 'रुश्दीज़ शेम: पोस्ट मॉडर्निज़्म, माइगरैन्सी एंड रिप्रैज़ेंटेशन ऑफ़ वुमेन' (*ई पी डब्ल्यू*, 15 जून 1991) और अरुंधति रॉय के उपन्यास द *गॉड ऑफ़ स्माल थिंग्स* पर *फ्रंट लाइन*, 8 अगस्त 1997 लिखे गये लेख *'रीडिंग अरुंधति रॉय पॉलिटिकली'* में देखते हैं।

एजाज़ अहमद के लेखन, व्याख्यान और इंटरव्यू के मुख्यत: दो चरण हैं- 1956-57 से 1980 के दशक तक और दूसरा चरण नव उदारवादी अर्थ व्यवस्था, सोवियत संघ के विघटन और बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद। इस दूसरे चरण में *कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो* जिसे उन्होंने छात्र-जीवन में ही पढ़ा था उस पर लगभग चालीस वर्ष बाद उन्होंने एक लंबा लेख लिखा- 'द कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो: इन इट्स ओन टाइम एंड इन आवर्स' (*ए वर्ल्ड टु विन*, 1999 में संकलित)। अस्सी के दशक के मध्य में भारत लौटने के पहले और उसके बाद के लेखन में, भारतीय संदर्भ का मेरी

समझ से आज अधिक महत्व है। वे सर्वाधिक भारत में रहे 40-45 वर्ष। पाकिस्तान में लगभग 18-20 वर्ष रहे और लगभग बीस वर्ष अमेरिका में। साठ के दशक के अंत में वे न्यूयॉर्क गये। वहीं रहते हुए उन्होंने ग़ालिब पर किताब लिखी- *ग़ज़ल्स ऑफ़ ग़ालिब* (1971) ग़ालिब की ग़ज़लों के अनुवाद में उनके साथ शामिल थे- डब्ल्यू एस मर्विन, ए डी एन रिच, विलियम स्टैफ़र्ड, डेविड रे, टॉमस फिट्ज़ सिमंस, मार्क स्टैंड और विलियम हंट। सत्तर के दशक में न्यूयॉर्क में रहते हुए एजाज़ पाकिस्तान पर लिख रहे थे। पाकिस्तान में वे साहित्यिक रूप से अधिक सक्रिय थे। अमेरिका जाने के बाद उनकी राजनीतिक सक्रियता बढ़ी। वहां वे एक सप्ताह के भीतर ही वियतनाम के युद्ध-विरोधी आंदोलन और ब्लैक मुक्ति आंदोलन में शरीक हुए थे। यहीं उन्होंने बड़ी दुनिया के बारे में व्यापक रूप से सत्तर के दशक में सोचना आरंभ किया। कोलंबिया यूनिवर्सिटी में 1970-71 में मात्र छह महीने रहने के बाद ही उन्हें वहां रहना समय का अपव्यय लगा। पी.एच.डी. करने का उनके लिए कोई मतलब नहीं था।

सत्तर के दशक में विश्व के विविध हिस्सों में अनेक घटनाएं घटने लगी थीं। 1975 में भारत में आपात्काल लगा था, 1977 में पाकिस्तान में सैन्य शासन स्थापित हुआ, 1978 में अफ़गानिस्तान में कम्युनिस्ट 'कू' हुआ और 1979 में अफ़गानिस्तान में इस्लामिक क्रांति हुई। दुनिया तेज़ी से बदल रही थी। 1978 में उनका लेख आया- 'डिमोक्रेसी एंड डिक्टेटरशिप इन पाकिस्तान' (*जर्नल ऑफ़ कंटेम्पोरेरी एशिया*, वॉल्यूम 8, इश्यू 4, 1978) सत्तर के दशक में वे अमेरिका से पाकिस्तान वापस आये। फ़िरोज़ अहमद की पत्रिका *पाकिस्तान फ़ोरम* से वे जुड़े और न्यूयार्क से प्रकाशित प्रसिद्ध समाजवादी पत्रिका, *मंथली रिव्यू* में उन्होंने लेख लिखना आरंभ किया। 1979 में उन्होंने पाकिस्तान छोड़ा। अमेरिका से भारत वे अस्सी के दशक में आये और लगभग तीन दशक तक यहां रहे। एजाज़ का अधिक समय भारत में बीता। भारत उनका अपना घर था।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक के पहले उनकी केवल एक पुस्तक ग़ालिब पर आयी। उनकी सारी किताबें 1992 और उसके बाद की हैं। *इन थियरी: क्लासेज़, नेशंस, लिटरेचर* (1992) से एजाज़ वैश्विक स्तर पर प्रसिद्ध और चर्चित हुए। उनके लिए वर्तमान प्रमुख था। अपने समय के सभी सिद्धांतों और सवालों पर उन्होंने मौलिक, तार्किक एवं प्रभावशाली ढंग से विचार किया है। *इन थियरी* को छोड़कर उनकी सभी पुस्तकें उनके निबंधों के संग्रह हैं। *इन थियरी* सैद्धांतिक पुस्तक है। पहले अध्याय, 'साहित्यिक सिद्धांत और तीसरे विश्व का साहित्य: कुछ संदर्भ' (लिटरेरी थियरी एंड थर्ड वर्ल्ड लिटरेचर : सम कंटेक्स्ट्स) में उन्होंने फ्रेडरिक जेमसन की अवधारणा पर विस्तार से विचार किया। अमेरिकी साहित्यालोचक एवं सिद्धांतकार फ्रेडरिक जेमसन का *सोशल टेक्स्ट* में *'थर्ड वर्ल्ड लिटरेचर इन द एरा ऑफ़ मल्टीनेशनल कैपिटलिज़्म'* लेख प्रकाशित हुआ था। जेमसन के अनुसार अमेरिका, कनाडा और पश्चिमी यूरोप पहली दुनिया है और सोवियत यूनियन और यूरोप का पूर्वी ब्लॉक दूसरी दुनिया है। अमेरिका में रहते समय एजाज़ ने जेमसन पर लिखा था, एजाज़ ने *इन थियरी* के चार अध्याय *'थर्ड वर्ल्ड लिटरेचर', लैंग्वेज ऑफ़ क्लास, आइडियोलॉजीज़ ऑफ़ इमिगरेशन, इंडियन लिटरेचर : नोट्स टुवर्डस 'द डेफ़िनिशन ऑफ़ ए कैटेगरी'* और *'थ्री वर्ल्डस थियरी: एंड ऑफ़ ए डीबेट'* सबसे पहले दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग और जेएनयू के अंग्रेज़ी विभाग में 1988 में सेमिनारों में प्रस्तुत किये थे। वे दिल्ली आ चुके थे। दिल्ली में ही *इन थियरी* के बड़े हिस्से का लेखन हुआ। एजाज़ ने साहित्यिक आलोचना के लिए इतिहास-बोध के साथ राजनीतिक-आर्थिक परिदृश्य को सदैव सामने रखा और देशकाल की समग्रता में सब पर विचार किया। उनके पहले 'तीसरी दुनिया' (थर्ड वर्ल्ड) जैसी निर्मित श्रेणी की किसी ने न तो आलोचना की थी और न इस अवधारणा पर प्रश्न खड़े किये थे। तीसरी दुनिया के बारे में निर्मित विचार-सिद्धांत पश्चिमी थे, जिसकी उन्होंने आलोचना की। अमेरिकी बुद्धिजीवी जब वाम-प्रभाव से दूर हुए, यह श्रेणी निर्मित-विकसित हुई। साहित्यिक विचार और सिद्धांत जिस समय और सामाजिक स्थितियों में जन्म लेते और प्रभावशाली बनते हैं, उन पर एजाज़ का विशेष ध्यान था। वे खरे और सच्चे मार्क्सवादी होने के कारण दुनिया को इस प्रकार की श्रेणियों में विभाजित करने के विरुद्ध थे। तीसरी दुनिया के देशों का विभाजन पूंजीवादी और समाजवादी जैसी कोटियों के विभाजन से सर्वथा, अलग था। तीसरी दुनिया का साहित्य अनेक भाषाओं में रचित है। तीसरी दुनिया के देशों में सांस्कृतिक भिन्नताएं हैं। एजाज़ ने अकाट्य तर्कों से इस प्रकार की निर्मित की गयी श्रेणी को ख़ारिज किया। उन्होंने जेमसन के 'राष्ट्रीय रूपक' (नेशनल एलिगरी) पर प्रश्न खड़े किये। राष्ट्रीय रूपक वाला जेमसन का सिद्धांत

जिन राजनीतिक स्थितियों की उपज था, उन पर एजाज़ का विशेष ध्यान था। अपने विवेचन-विश्लेषण में उन्होंने सदैव ऐतिहासिक-राजनीतिक स्थितियों को ध्यान में रखा है। एडवर्ड सईद के ओरिएंटलिज़्म में उन्होंने कई आश्चर्यजनक चीज़ें भी पायीं, पर प्रणाली और पद्धति (मेथडॉलॉजी) को एक कमज़ोर अंश के रूप में देखा, 'भारतीय साहित्य' (इंडियन लिटेरेचर) जैसी किसी 'कैटेगरी' के पक्ष में भी वे नहीं थे- *इंडियन लिटरेचर: नोट्स टुवर्डस द डेफ़िनिशन ऑफ़ ए कैटेगरी* में उन्होंने इस पर व्यापक ढंग से विचार किया। उनके अनुसार राष्ट्रीय साहित्य का विचार यूरोपीय राष्ट्रराज्य के लिए पूर्णतया उपयुक्त है क्योंकि वहां की भाषा एक है। एक भाषा होने के कारण उनका साहित्य एक है। भारत में उन्होंने कोई एक राष्ट्रीय भाषा नहीं मानी है। वे अंग्रेज़ी और हिंदी को 'लिंक' भाषा के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार भारतीय साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य के रूप में नहीं पढ़ाया जा सकता। तुलनात्मक रूप में उनका अध्ययन किया जा सकता है। जिस समय एडवर्ड सईद के ओरिएंटलिज़्म जेमसन के *'तीसरी दुनिया का साहित्य और राष्ट्रीय रूपक'* एवं भारतीय साहित्य की चारों ओर गूंज थी, एजाज़ ने इन सब पर नितांत मौलिक ढंग से विचार किया। साहित्य और संस्कृति के मार्क्सवादी एवं उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन में उन्होंने गंभीर आलोचनात्मक एवं वैचारिक हस्तक्षेप किये हैं। *इन थियरी* ने उत्तर औपनिवेशिक आलोचनात्मक संवादों में सार्थक हस्तक्षेप किया। अकादमिक जगत में सैद्धांतिक-वैचारिक स्तर पर इस पुस्तक ने एक हलचल पैदा कर दी थी। इंग्लैंड में इसकी व्यापक स्तर पर रिव्यू हुई- *'द गार्जियन'* और *'द फ़ाइनेंशिएल टाइम्स'* में भी इसे वहां सराहा गया था, पर अमेरिका में इससे भिन्न स्थिति थी। *सोशल टेक्स्ट* में जेमसन पर एजाज़ का जब पहला लेख प्रकाशित हुआ था, तब बाद के एक अंक (*सोशल टेक्स्ट* नं. 17, आरंभ 1987) में जेमसन ने दो पृष्ठों में एक मैत्रीपूर्ण टिप्पणी लिखी थी, पर पुस्तक के प्रकाशित होने के बाद जेमसन और जेमसोनिएंस ने अधिक तीखी प्रतिक्रियाएं दीं। ऐसा ही सईद-संबंधी विचारों के साथ भी घटा। सईद वाले अध्याय को एजाज़ ने सईद के मित्रों को जो उनके भी मित्र थे, दिखाया था और सब उनसे सहमत थे, पर बाद में अपशब्दों और दुर्वचनों की उन पर जो बौछार हुई, वह उनके लिए आश्चर्यजनक था। *इन थियरी* के पहले संस्करण में टेरी ईगलटन का *'बर्ल्ब'* था, जिसे बाद के संस्करणों से हटा दिया गया। टैरी ईगलटन ने लिखा था कि कुछ 'रैडिकल' आलोचक मार्क्सवाद को भूल गये होंगे, लेकिन मार्क्सवाद अहमद के भयानक, साहसी फ़ैशनरहित 'क्रिटीक' के आकार में नहीं भुलाया गया है।

मार्क्सवाद के प्रति ऐसी अटूट, सुदृढ़ निष्ठा बहुत कम मार्क्सवादियों में दिखायी देगी। *पहल* द्वारा आयोजित भाऊ समर्थ व्याख्यानमाला में उन्होंने 'आज के ज़माने में मार्क्सवाद का महत्व' पर व्याख्यान दिया था। इस व्याख्यान में उन्होंने मार्क्सवाद का महत्व केवल साहित्य और संस्कृति से न मान कर राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सवालों से भी माना। सोवियत रूस के विघटन के बाद मार्क्सवाद के अंत की बात जब ज़ोर शोर से की जा रही थी, एजाज़ ने बीसवीं सदी के आरंभ से ही मैक्स वेबर के बाद समाज विज्ञान में मार्क्सवाद के ख़त्म हो जाने की बात की ओर हमारा ध्यान दिलाया था और कहा था कि कीन्स के बाद अर्थशास्त्र में भी मार्क्स और मार्क्सवाद का महत्व न मानने वाले कम नहीं थे। वे मार्क्सवाद के महत्व के समाप्त हो जाने की बात को पुरानी कहते हैं, जो 'सोवियत यूनियन के बनने से बहुत पहले शुरू हुई थी और सोवियत यूनियन के टूट जाने के बाद भी जारी है।' एजाज़ ने 'पूंजी' को 'सर्वाधिक सत्तावादी/अधिकारवादी' कहा है, जिसका पुनरुत्पादन निरंतर विद्यमान हिंसा के बिना संभव नहीं है। वे आज के ज़माने में सरमायादारी को किसी बेहतर सिद्धांत के बल पर नहीं, पूंजी के बल पर अधिक देखते हैं। उन्होंने आज के ज़माने को मार्क्सवाद का ही ज़माना कहा है। मार्क्सवाद का इतिहास सोवियत यूनियन और दूसरी कम्युनिस्ट पार्टियों और सरकारों के इतिहास से बहुत पुराना और बहुत बड़ा है, जो उस समय तक जारी रहेगा, जब तक सरमायादारी मौजूद है क्योंकि मार्क्सवाद वर्गीय समाज को समझने और बदलने का हथियार है। मार्क्सवाद साम्राज्यवाद और पूंजीवाद को समझने का एकमात्र सिद्धांत है। जब तक पूंजीवाद और साम्राज्यवाद क़ायम रहेगा, मार्क्सवाद का महत्व बरक़रार रहेगा। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि आज केवल केरल में ही वामपंथ की सरकार है और त्रिपुरा-पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चा की सरकार नहीं है। देश की अस्सी प्रतिशत जनता आज भी अनिवार्य आवश्यकताओं और सुविधाओं से वंचित है। आज के ज़माने को एजाज़ अहमद ने दुनिया में समाजवादी सरकारों के टूटने और साम्राज्यवाद की विश्व-विजय का ही ज़माना न कहकर लोकतंत्र और समाजवाद की लड़ाइयों से निकले

'सैकड़ों छोटे-छोटे इन्क़लाबियों का भी ज़माना' कहा है। मार्क्सवाद के इतिहास में उन्होंने चार महत्वपूर्ण सवाल देखे – जम्हूरियत का सवाल, मेहनतकश जनता के शोषण का सवाल, औरतों के हुक़ूक़ का सवाल और साम्राज्यवाद का सवाल।

आधुनिक इतिहास राजनीति और संस्कृति के सुप्रसिद्ध सिद्धांतकार एजाज़ अहमद ने अल्थुसर, बेंजामिन और ब्रेख्ट पर अपने लेखन के लिए सुप्रसिद्ध साहित्यालोचक माइकेल स्प्रिंकर (8.2.1950-12.8.1999) के संगृहीत लेखन का अनुवाद, *ए सिंगुलर वॉइस: कलेक्टेड राइटिंग्स ऑफ़ माइकेल स्प्रिंकर*, अमेरिकी उपन्यासकार और आलोचक फ्रेड पी फ़ेल और मधुमिता रॉय के साथ किया। उन्होंने कई कविताएं भी लिखीं, पर उनका प्रकाशन नहीं किया। उनकी कई किताबें हैं – *लिनेज ऑफ़ द प्रेज़ेंट : आइडियोलॉजी एंड पॉलिटिक्स इन कंटेम्पोरेरी साउथ एशिया* (1996, 2000), *ऑन कम्युनलिज्म एंड ग्लोबलाइज़ेशन: आफ़ेंसिव ऑफ़ द फ़ार राइट* (2002), *मार्क्स एंड एंगेल्स ऑन द नेशनल एंड कॉलोनियल क्वेश्चंस : सेलेक्टेड राइटिंग्स* (संपादन 2004), *रिफ़लेक्शंस ऑन अवर टाइम : सेवेन एस्सेज़ ऑन द ट्वेन्टीएथ सेंचुरीज़* (2004), *इराक़, अफ़गानिस्तान एंड द इम्पीरियलिज्म ऑफ़ अवर टाइम* (2004), *इंडिया: लिबरल डिमोक्रेसी एंड द एक्सट्रीम राइट* (2020), *नथिंग ह्यूमन इज़ एलियन टू मी* (2020), विजय प्रशाद के साथ बीस विषयों पर उनसे की गयी विस्तृत बातचीत है। आरंभ में, *पाकिस्तान प्रोग्रेसिव* पत्र में उन्होंने कई लेख लिखे। *मंथली रिव्यू, सोशलिस्ट रजिस्टर, सोशल साइंटिस्ट* में उनके अनेक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। *सेमिनार, ई पी डब्ल्यू, जर्नल ऑफ़ आर्ट्स एंड आइडियाज* में भी कई लेख छपे। उनके पाठकों का दायरा व्यापक है, अंतर्राष्ट्रीय है। एजाज़ *फ्रंट लाइन* के संपादकीय सलाहकार और *न्यूज़ क्लिक* (समाचार वेबसाइट) के समाचार विश्लेषक थे। नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एंड लाइब्रेरी में लंबे समय तक प्रोफ़ेशनल फ़ेलो रहे। जेएनयू के राजनीति विज्ञान सेंटर और टोरंटो कनाडा, की यार्क यूनिवर्सिटी में राजनीति विज्ञान के विज़िटिंग प्रोफ़ेसर रहे थे। उनके लेखन एवं व्याख्यान में ऐसे अनेक सूत्र वाक्य हैं, जो अलग से एक सुचिंतित लेख और एक पुस्तक की भी मांग करते हैं। उनकी चिंता में मुख्यत भारतीय उप महाद्वीप, एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका था। उन्होंने इतने विषयों, देशों पर विस्तार से लिखा है कि उसकी एक मुक़म्मल सूची भी बनाना कठिन है। आतंक, युद्ध, संस्कृति, नव उदारवाद, अधिनायकवाद, फ़ासीवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, भूमंडलीकरण आदि से जुड़े उनके लेखों के साथ इराक़, पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, तिब्बत, इज़रायल, ईरान, अमेरिका, हैत्ती, लेबनान, लैटिन अमेरिका, यूरोप, कोलंबिया, लिबिया आदि देशों से जुड़े उनके अनेक लेख अभी तक संकलित नहीं हुए हैं। अगले कुछ वर्षों में इन सबके पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित होने की संभावना है। उनके विचार चिंतन, सरोकार का दायरा आश्चर्यजनक रूप से व्यापक है।

एजाज़ ने बीसवीं सदी को एक त्रिकोण के रूप में देखा है, जिसमें एक ओर अगर 'साम्राज्यवादी प्रभुत्व' था तो दूसरी ओर उसके विरुद्ध समाजवाद और राष्ट्रीय मुक्तिकामी शक्तियों द्वारा छेड़े गये संघर्ष भी थे। उनके अनुसार समाजवादी आंदोलन 18वीं सदी के ज्ञानोदय के विवेकवादी तथा समतावादी मूल्यों का मुख्य प्रतिपादक बना था। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति और 1989-90 के बीच के 'शीतयुद्ध' को ख़ारिज करने वाले वे संभवत: अकेले मार्क्सवादी विचारक हैं। उन्होंने 'शीतयुद्ध' (कोल्ड वार) को 'मीडिया द्वारा आविष्कृत अभी तक की सबसे भ्रष्ट शिष्टोक्ति' कहा है क्योंकि 'द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ के विघटन के बीच के पैंतालीस साल वैश्विक स्तर पर एक अविरल, उग्र तथा ऐतिहासिक रूप से अभूतपूर्व गृहयुद्ध के साल' थे। इन पैंतालीस वर्षों में 'तीसरी दुनिया' के देशों में लगभग दो सौ युद्ध लड़े गये थे। ग्राम्शी ने दो क्रांतियों के मध्य के काल को 'पुनर्स्थापन का काल' कहा था। उत्तर आधुनिकतावाद के वे आलोचक हैं क्योंकि इसने साम्राज्यवाद के सवाल को दबाया और मार्क्सवाद पर ही नहीं, अठारहवीं सदी के 'ज्ञानोदय' पर भी हमला किया क्योंकि ज्ञानोदय ने विवेक और समता को सर्वोपरि माना था। एजाज़ ने उत्तर आधुनिकतावाद की 1990 के दशक और उसके बाद भी लगातार आलोचना की। इस विषय पर उन्होंने पार्टी क्लास में भी विचार किया था, जो बाद में *मार्क्सिस्ट* में प्रकाशित हुआ था। ल्योतार ने इसे 'आधुनिकतावाद का अंतिम चरण' बाद में कहा था, फ़ूको ने इस पद को नापसंद किया था, देरिदा ने विखंडन की

बात की थी। एजाज़ इन सब पर और डेविड हार्वे पर भी विचार करते हैं। उन्होंने 'सौंदर्य संबंधी उत्तर आधुनिकता' और 'दार्शनिक उत्तर आधुनिकता' में अंतर किया है। दार्शनिक अर्थ में उत्तर आधुनिकतावाद 'प्रबोधन' को ख़ारिज करता है और नीत्शे, हाइडेगर और मैक्स वेबर के दर्शन की ओर पहुंचता है, जिसे एजाज़ ने मार्क्स और मार्क्सवाद का नकारात्मक दर्शन माना है। दूसरी ओर सामाजिक-राजनीतिक विचार में उत्तर आधुनिकतावाद ने अमेरीकियों को प्रभावित किया। वे गालब्रेथ की *एफ़्लुएंट सोसायटी* (1958) में प्रस्तुत तर्क को सामने रखते हैं कि अतीत में बड़ा औद्योगिक समाज संपन्न अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यक ग़रीबों में विभाजित था। उत्तर आधुनिकतावाद पर विचार के क्रम में वे साठ के दशक में पूंजीवादी आर्थिक-सामाजिक संरचनाओं में बदलाव देखते हैं और अमेरिकी शैली के पूंजीवाद का विकास देखते हैं। वे साठ के दशक में हो रहे चिंतन के परिवर्तन में जाते हैं। पहली बार ल्योतार ने मार्क्सवाद के संदर्भ में 'महावृत्तांत' (ग्रैंड नैरेटिव) पद का प्रयोग किया था, जिसने मार्क्सवाद की प्रासंगिकता ख़ारिज करने की कोशिश की। मार्क्स और एंगेल्स ने विचारों की बात न कर, प्रमुख विचारों की बात की, जो एजाज़ के लिए विशेष महत्वपूर्ण है। ये प्रमुख विचार शासक वर्ग के विचार होते हैं। उन्होंने मार्क्सवाद को प्रमुख विचारों का हिस्सा न मान कर सदैव विरोधी विचारों का हिस्सा माना, जो कहीं अधिक अविजेय, अकाट्य सच है। उन्होंने दो भिन्न प्रकार के सवाल किये- क्या ल्योतार के 'मुक्ति/उद्धार के मेटा नैरेटिव के अंत' और फ़ुकुयामा के 'एंड ऑफ़ हिस्ट्री' में मूलत: कुछ कुछ एक जैसा है और उत्तर आधुनिकतावाद की अनेकरूपता और पश्चिम के उत्तर सोवियत युग के कम्युनिस्ट विजयवाद में समानता है?

उत्तर उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद-विरोध पर उनके विचारों को समझना आज कम उपयोगी नहीं है। वे संरचनावाद को आरंभ में सार्त्र और द्वंद्वात्मकता पर आक्रमण करते देखते हैं और लेवी स्त्रॉस की इस घोषणा की याद दिलाते हैं कि वे (स्त्रॉस) मार्क्सवाद को नृतत्वविज्ञान के क्षेत्र में कुछ निश्चित प्रकार की अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) के अध्ययन में शामिल कर रहे हैं। अकादमिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में एजाज़ अहमद का अधिक महत्व है, पर अस्सी के दशक के मध्य से भारत में हो रहे बदलावों पर उनका काफ़ी ध्यान था। भारतीय लोकतंत्र, शासन-तंत्र, राज्य-तंत्र, आरएसएस, भाजपा और इस मुल्क में फैल रहे फ़ासीवाद पर उनका ध्यान बाबरी मस्जिद ध्वंस (1992) के तुरंत बाद गया। यह एक बड़ी घटना थी, जिसका संबंध आडवाणी की राम जन्म भूमि रथ-यात्रा से उत्पन्न धार्मिक उन्माद से था, पर उस समय 1989 से 1991 तक इस पर अधिक विचार नहीं किया गया था। बाबरी मस्जिद ध्वंस एक प्रकार से भारत की सामासिक संस्कृति का भी ध्वंस था, जिसकी सही पहचान उन्होंने अपने बहुचर्चित व्याख्यान, 'रीडिंग ग्राम्शी इन द डेज़ ऑफ़ हिंदुत्व' (बाद में 'फ़ासिज़्म एंड नेशनल कल्चर: रीडिंग ग्राम्शी इन द डेज़ ऑफ़ हिंदुत्व' शीर्षक से *सोशल साइंटिस्ट*, वाल्यूम 21, नं. 3/4, मार्च-अप्रैल 1993, पृष्ठ 32-68 (कुल 37 पृष्ठ) में की। बाबरी मस्जिद ध्वंस के कुछ सप्ताह बाद उसी महीने (दिसंबर 1992) में कलकत्ता के 'सेंटर फ़ॉर यूरोपीयन स्टडीज़' में अमल भट्टाचार्जी मेमोरियल लेक्चर के समय उनके दिमाग़ में केवल आर एस एस था, पर 'यूरोपीय अध्ययन-केंद्र' में उन्होंने अपना व्याख्यान यूरोपीय विचारकों और ग्राम्शी पर केंद्रित किया, जो फ़ासिज़्म के दौर के सबसे बड़े मार्क्सवादी बुद्धिजीवी थे। उस समय व्याख्यान का शीर्षक था- 'रीडिंग ग्राम्शी इन द डेज़ ऑफ़ हिंदुत्व'। इसके बाद उन्होंने हिंदुत्व, आर एस एस पर कई लेक्चर दिये, कई लेख लिखे। एजाज़ ने स्वीकारा है कि अस्सी के मध्य में भारत आगमन के समय भारत के संबंध में उनका ज्ञान सामान्य और सतही था। उन्होंने अपना समय पढ़ने, चिंतन करने और देखने-समझने में लगाया। इसका अधिक श्रेय वे 'तीन मूर्ति'(नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम व लाइब्रेरी) को देते हैं। बाबरी मस्जिद ध्वंस ने उन्हें भारत पर लिखने के लिए विवश किया। इस लेख के साथ उन्होंने दो बड़ी समस्याओं का उल्लेख किया है। वे इटली और भारत में एक प्रकार का सादृश्य देख रहे थे। ग्राम्शी के अनुसार जो इटली में था उसकी प्रतिध्वनि भारत में कैसे सुनायी पड़ रही है। इस लेक्चर में भारत के संबंध में अपने 'टर्म' में उन्होंने सीधे रूप से विचार किया। ग्राम्शी इटली में फ़ासीवाद के मूल पर, स्रोत पर विचार कर रहे थे और एजाज़ भी 'भारतीय फ़ासीवाद के ऐतिहासिक मूल' को देख रहे थे। एक वर्ष बाद उन्हें 'डेक्कन डेवलपमेंट सोसायटी' ने हैदराबाद में एक वर्कशाप 'कल्चर, कम्युनिटी एंड नेशन' में आमंत्रित किया था। यह बाबरी मस्जिद ध्वंस की पहली वर्षगांठ थी। एजाज़ का यह दूसरा लेक्चर *'ऑन द रुइन्स ऑफ़ अयोध्या'* (*सोशल साइंटिस्ट*, वॉल्यूम 21 नं. 7/8, जुलाई-अगस्त 1993, पृष्ठ

17-48, कुल 32 पृष्ठ, 'कल्चर, कम्युनिटी, नेशन: ऑन द रुइन्स ऑफ़ अयोध्या, शीर्षक से प्रकाशित) डेढ़ घंटे का था। पहली बार उन्होंने एक बड़ा फ्रेमवर्क तैयार किया जिसे बाद में अनेक वर्षों तक भारतीय संप्रदायवाद के अध्ययन में लगाया। उन्होंने 1992 से 2015 तक इसी फ्रेमवर्क को आवश्यक रूप से विस्तारित करने की बात कही है। 2015 के ग्रीष्म में उन्होंने एक लेख लिखा- *'इंडिया : लिबरल डिमोक्रेसी एंड द एक्सट्रीम राइट'*, जो *सोशलिस्ट रजिस्टर* के 2016 के संस्करण में प्रकाशित हुआ था। लेख लिखने के एक वर्ष पहले भारत में भाजपा की सरकार बन चुकी थी और नरेंद्र मोदी प्रधानमंत्री बन चुके थे। 2014 और 2019 के चुनाव-परिणाम की एजाज़ ने कल्पना नहीं की थी। ये परिणाम उनके लिए झटके की तरह थे, भयावह थे। यह उनके लिए अप्रत्याशित था।

1990 के बाद एजाज़ ने हिंदुत्व, भारतीय उदारवाद, क्रूरता की संस्कृति पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने 1992 से 2014 के बीच अपने विचारों में हुए विकास की बात कही है, जब उन्होंने भारत के संबंध में *सोशलिस्ट रजिस्टर* में लिखा। इस समय वे अनेक मुद्दों पर कहीं अधिक गहराई से सोच रहे थे। वे उदार संस्थाओं और धुर दक्षिणपंथ के शासन में कोई अंतर्विरोध नहीं देखते हैं। धुर दक्षिणपंथ द्वारा इन संस्थाओं का उनके भीतर से अधिग्रहण कर उसके ज़रिये शासन करने की बात उन्होंने कही है, जो नाज़ियों के सर्वथा विपरीत है क्योंकि उन्होंने सत्ता में आने पर संस्थाओं को समाप्त किया। ब्रिटेन में उन्होंने थैचर के टोरी और ब्लेयर की लेबर पार्टी में समाभिरूपता देखी। अमेरिका में उन्होंने ऐसा ही रिपब्लिकंश और डेमोक्रेट्स के संबंध में कहा है। उनके अनुसार दो दलीय व्यवस्था पूंजी के दो धड़ों के रूप में आपस में संघर्ष करती है। वे विभिन्न संदर्भों में हंगरी के प्रधानमंत्री विक्टर ओरबान (राष्ट्रीय रूढ़िवादी फ़िडेंस पार्टी के वर्तमान नेता), तुर्की के राष्ट्रपति रजब तैयब इरदुगान, अमेरिकी पूर्व राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प और भारतीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को एक साथ रखते हैं जिनमें से किसी को मूल रूप से फ़ासिस्ट नहीं कहा जा सकता। किसी ने भी अपने देश में उदार राज्य–संरचना को समाप्त नहीं किया है। एजाज़ लंबे समय तक इस प्रश्न से जूझते हैं कि उदार संस्थानिक संरचनाओं और धुर दक्षिणपंथ के शासन में अंतर्विरोध कहां है? अमेरिका को उन्होंने केवल साम्यवाद और समाजवाद के विरोध में ही न देख कर, तीसरी दुनिया के आर्थिक राष्ट्रवाद के भी विरोध में देखा है। उनके लिए प्रत्येक देश अपने अनुसार फ़ासिज़्म प्राप्त करता है, जैसा वह 'डिज़र्व' करता है। जर्मनी, इटली, स्पेन, पुर्तगाल सब देशों में अंतर था। अपने समय में वे उदार और फ़ासिस्ट के अनेक संयोजन/समुच्चय के साक्षी थे। एजाज़ का फ़ासिज़्म के प्रति विचार द्वंद्वात्मक है। एकाधिकार पूंजीवाद के युग में सभी पूंजीवादी राज्यों में फ़ासिज़्म की प्रवृत्ति एक सामान्य 'फ़ेनोमेनन' के रूप में देखी गयी है, पर वह अपने शास्त्रीय रूप में बहुत कम स्थानों पर विजयी रही है। एजाज़ आर एस एस को नाज़ीवाद नहीं मानते। नाज़ीवाद का सभी तरह का अध्ययन हमें फ़ासिज़्म के आर एस एस ब्रांड के बारे में नहीं बतायेगा। वे यूरोपीय फ़ासीवाद के आर एस एस के फ़ासीवाद में समानता, समरूपता को वस्तुत: सतही कहते हैं। ग्राम्शी के गंभीर अध्ययन में उनके फ़ासीवादी चिंतन को उन्होंने गंभीरता से देखा। ग्राम्शी ने अपने सामने यह बड़ा सवाल खड़ा किया था कि इटली के समाज और इतिहास में ऐसा क्या है, जिसने बड़ी आसानी से फ़ासिस्टों का मार्ग प्रशस्त किया? 1920 में इटली में वाम कहीं अधिक शक्तिशाली था। उस समय वहां फ़ासिस्ट गठन हुआ था। तीन वर्ष बाद मुसोलिनी सत्ता में आया और 1926 में वह चरम पर जा पहुंचा। ग्राम्शी देश के बुर्जुआ राष्ट्रवाद में, इतिहास और समाज में उन चिह्नों, तत्वों की तलाश कर रहे थे, जिससे वाम पराजित हुआ और फ़ासिज़्म की आसानी से जीत संभव हुई। भारत के संबंध में भी एजाज़ को इन सवालों ने मथा। *प्रिज़न नोट बुक्स* के बड़े हिस्से में ग्राम्शी ने इटली के इतिहास पर चिंतन/ पुनर्विचार किया था। *'हिंदुत्व'* के दिनों में ग्राम्शी को पढ़ते हुए एजाज़ ने फ़ासिज़्म और राष्ट्रीय संस्कृति पर 1993 में ही विचार किया. वे जर्मनी, इटली और स्पेन को देखते हैं। उन्होंने यह माना कि भारत में फ़ासिज़्म दूसरे देशों से भिन्न होगा, यह उसके अपने इतिहास और समाज का 'प्रोडक्ट' होगा।

एजाज़ सांप्रदायिक हिंसा को, चाहे वह कितनी भी घृणित और वीभत्स क्यों न हो फ़ासिज़्म नहीं कहते। आर एस एस और उसके अनेक असंसदीय मोर्चों में कई फ़ासिस्ट लक्षण देखते हैं, पर ऐसे लक्षण उन्होंने वैश्विक स्तर पर अनेक चरम दक्षिणपंथी पार्टियों और दर्जनों आंदोलनों में भी देखे! इटली से उन्होंने यह नतीजा निकाला कि फ़ासिज़्म सत्ता में तब आता है, जब उदारवादी और सामाजिक डेमोक्रेट्स उसके विरुद्ध लड़ने में असफल होते हैं और वाम पर मताग्रही/ हठधर्मी और मतांध होने का अरोप मढ़ा जाता है। उन्होंने कांग्रेस को मुख्य रूप से दोषी ठहराया है,

जिसने आर एस एस के विकास को रोकने और उससे लड़ने की अधिक कोशिश नहीं की, वे आर एस एस और उनके फ्रंट्स के विकास एवं तरक़्क़ी के लिए मुख्य रूप से नरसिम्हा राव, नीतीश कुमार, मायावती और चंद्र बाबू नायडू को ज़िम्मेदार मानते हैं। उन्होंने आर एस एस को अपने सार में फ़ासिस्ट कहा है और इसके राजनीतिक मोर्चा भाजपा के द्वारा अन्य प्रश्नों को सामने रखने की बात कही है जिसने सत्ता हथिया कर शक्ति प्राप्त की। 2014 के बाद फ़ासिज़्म का प्रश्न उनके लिए और अधिक प्रमुख हुआ। जिप्सन जॉन और जीथीश पी.एम को दिये एक इंटरव्यू ('द स्टेट इज़ टेकेन ओवर फ़्रॉम विदिन', *फ्रंट लाइन*, 2 अगस्त, 2019) में उन्होंने हिंदुत्व, संप्रदायवाद, फ़ासीवाद, सेकुलरिज़्म और वाम की संभावनाओं पर बात की है। यह इंटरव्यू 2019 के संसदीय चुनाव के पहले लिया गया था जिसे चुनाव परिणाम के बाद अपडेट किया गया। 2019 में मोदी की जीत को जनादेश कहना उनके लिए संदिग्ध/ संदेहास्पद है क्योंकि लोगों को तथ्यों पर आधारित बौद्धिक-राजनीतिक बहसों का लाभ नहीं मिला। उन्होंने आश्चर्यजनक रूप से भारतीय राजनीति के अमेरिकीकरण की बात कही। एक ओर बड़े नेता को मसीहा और रक्षक के रूप में प्रस्तुत करना और दूसरी ओर भय और उन्माद (हिस्टीरिया) का व्यवस्थित रूप से उत्पादन, जो अब मानदंड बन चुका है। एजाज़ 2014 के बाद भारत के उदार लोकतंत्र और चरम दक्षिणपंथ को कहीं अधिक गहराई से देख रहे हैं। उस समय लोकसभा में भाजपा के बहुमत के लिए कांग्रेस के चुनावी ह्रास के साथ-साथ वाम को भी प्रमुख माना। भारतीय समाज में सेकुलरिज़्म के प्रति सही प्रतिबद्धता का अभाव उन्होंने देखा। उनका स्पष्ट मत है कि राजनीति ने भारतीय समाज का हिंदूकरण किया है। चुनाव आयोग और उच्च न्यायालय सहित भारतीय राज्य की प्रमुख संस्थाओं में वे क्षरण देखते हैं। वे मोदी को पहला प्रधानमंत्री मानते हैं, जिन्हें चुनाव के पूर्व बड़े पूंजीपतियों का समर्थन था। उन्होंने न केवल भारतीय राजनीति को अमेरिकी मॉडल पर अध्यक्ष प्रेजिडेंशियल के रूप में लागू किया, अपितु अपने चुनाव में लगभग उतनी ही राशि ख़र्च की जितनी बराक ओबामा ने अपने राष्ट्रपति चुनाव में की होगी। एजाज़ ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि कॉरपोरेट से इकट्ठी की गयी जमा राशि ने नरेंद्र मोदी को केवल आर एस एस और विहिप से नहीं, भाजपा से भी स्वतंत्र किया। उनके पास इतनी धन राशि थी जिससे वे आस एस एस के कैडर की निष्ठा-संरचना को ख़रीद सकते थे। मोदी-शाह की अजेयता संभवत: उस आश्चर्यजनक संपति का हिस्सा है।

एजाज़ अहमद ने 1992 के बाद के 25 वर्ष का एक बड़ा हिस्सा विशेष रूप से नाज़ीवाद के अध्ययन में और यूरोप में दो शताब्दियों में प्रतिक्रांतिकारी दक्षिणपंथ एवं आधुनिक फ़ासीवाद के अध्ययन चिंतन में लगाया। उनका विश्वास था और वे इस नतीजे पर पहुंचे भी थे कि फ़ासीवाद और नाज़ीवाद जिस संकट से उत्पन्न हुआ था वे हालात दोबारा उत्पन्न नहीं होंगे। उनका विशेष ध्यान सामाजिक संरचना पर था। उन्होंने एक पद 'अनुकृत मौलिकता' (इमिटेशन और ऑरिजिनैलिटी को मिला कर 'इमिटेटिव ऑरिजिनैलिटी') निर्मित किया जो मुख्यत: भारतीय है, पर अन्यत्र कठोर चिह्नों का वाहक भी है। उन्होंने संस्थाओं के ज़रिये आर एस एस के 'लांग मार्च' की बात कही है। आर एस एस ने एक योजना और रणनीति (स्ट्रेटेजी) को बहुत पहले निर्धारित किया था कि वह उदार संस्थानिक संरचना को जहां स्वीकार करेगा वहां राज्य की संस्थाओं को उसके भीतर से प्राप्त कर राज्य शक्ति हासिल करेगा। यही आर एस एस का 'लांग मार्च' था। राज्य का अधिग्रहण उसने भीतर से कर लिया है। 2019 में ए.जी. नूरानी की किताब, *द आर एस एस : ए मेनेस टू इंडिया* और वाल्टर एंडरसन एवं श्रीधर दामले की किताब, *मेसेंजर्स ऑफ़ हिंदू नेशनलिज़्म : हाउ द आर एस एस रीशेप्ड इंडिया* प्रकाशित हुई, जिसकी समीक्षा एजाज़ ने 'स्ट्रिक्टली टेक्नीकल' शीर्षक से *लंदन रिव्यू ऑफ़ बुक्स* (वाल्यूम 42,नं.6, 19 मार्च 2020) में की। इसमें उन्होंने भाजपा को आर एस एस के अनेक मोर्चों में से एक, केवल राजनीतिक मोर्चा कहा है। आर एस एस की बदौलत नरेंद्र मोदी गुजरात के मुख्यमंत्री और भारत के प्रधानमंत्री बने। एजाज़ ने इस रिव्यू में आर एस एस द्वारा कभी अपनी संपति के पारदर्शी हिसाब न देने की बात कही है। उसने अपने सदस्यों की जानकारी भी नहीं दी है। आर एस एस में पारदर्शिता का अभाव है। उसने हिंदू राष्ट्रवादी हिंसा को सामान्य बना डाला है। एजाज़ ने नरेंद्र दाभोल कर, गोविंद पनसारे, एम एम कलबुर्गी और गौरी लंकेश की हत्या के बारे में लिखा और यह बताया कि इनमें से कोई भी मुसलमान नहीं था। ये सब हिंदुत्व की परियोजना के विरोधी थे जिसे आर एस एस 'राष्ट्रविरोधी' कहना पसंद करता है। इनके क्लोंस अब देश में प्रचुर मात्रा में हैं। एजाज़ लिंचिंग, जम्मू-कश्मीर का विभाजन, नागरिकता बिल और नागरिकों के राष्ट्रीय

रजिस्टर के उल्लेख के साथ अनुराग ठाकुर के आहवान – 'देश के ग़द्दारों को, गोली मारो सालों को', हरियाणा के लीलाराम गुर्जर, परवेश वर्मा सब का ज़िक्र करते हैं। भारत उनका घर था, जहां यह सब घट रहा था और एजाज़ इसे देखकर चिंतित थे।

फ़ासीवाद के इटैलियन और जर्मन रूप से आर एस एस प्रेरित था, पर आर एस एस का फ़ासीवाद इससे भिन्न भी है। नेहरू अपने इस आग्रह से कभी नहीं हटे थे कि आर एस एस फ़ासिस्ट के कठोर तकनीकी अर्थ से अलग नहीं है। उसकी स्थापना ही इस सिद्धांत पर हुई थी कि हिंदू राष्ट्र को एक धार्मिक सांस्कृतिक एवं सैन्य पुनर्जागरण की ज़रूरत है। एजाज़ के अनुसार स्वाधीन भारत के तीन चरण हैं। पहला चरण 1947 से 1975 तक का हैं। नेहरूयुगीन भारत में वे लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, आदि को केवल सैद्धांतिक स्तर पर देखते हैं न कि व्यावहारिक स्तर पर। दूसरे चरण की शुरुआत उन्होंने 1977 से मानी है। जय प्रकाश नारायण के आंदोलन को उन्होंने दक्षिणपंथी जनोत्तेजक (पोपुलिस्ट) आंदोलन कहा है। जिसमें आर एस एस की पैठ कहीं अधिक थी। 1977 की पहली ग़ैरकांग्रेसी सरकार को वे विशेष रूप से रेखांकित करते हैं। जब आर एस एस को भारतीय राजनीति में वैधता प्राप्त हुई। 1977 से 1982 के पांच वर्ष के बीच आर एस एस का घातीय गति से प्रचार प्रसार हुआ । 1980 के मध्य से संघ परिवार ने शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त की । आर एस एस और भाजपा ने सामाजिक सांस्कृतिक तौर पर भारत को बदलने में सफलता पायी। 1980 के दशक के मध्य में सांप्रदायिक हिंसा द्वारा सांस्कृतिक एवं चुनावी डिविडेंड्स पाने की ओर वे हमारा ध्यान दिलाते हैं। उन्होंने भाजपा को योजनाबद्ध रूप से सांप्रदायिक और कांग्रेस को व्यावहारिक रूप से सांप्रदायिक कहा है। उनके अनुसार हज़ारों की संख्या में सिखों के नरसंहार ने हिंदू राष्ट्र की एकता की सेवा की। राम जन्मभूमि आंदोलन ने कांग्रेस से हिंदू बहुमत को छीना और संघ परिवार के लिए इसे जीता। पांच वर्ष में भाजपा 2 की संख्या से बढ़कर 1989 में 85 की संख्या पर पहुंची। दो वर्ष बाद रथ यात्रा और 'ख़ून की नदी' के बाद यह संख्या 120 पर जा पहुंची। बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद के चुनाव में भाजपा की संसदीय सीटें बढ़कर 161 हो गयीं। अब सांप्रदायिक हिंसा को छोड़ना संघ के लिए राजनीतिक मूर्खता होती। 2002 के पहले नरेंद्र मोदी एक मामूली व्यक्ति थे, बाद में मोदी और शाह पहले राज्य स्तर पर और उसके बाद संघीय स्तर तक कभी नहीं रुके। भाजपा को एजाज़ ने वास्तविक रूप में केवल अकेली राष्ट्रीय पार्टी कहा है अपवाद के रूप में एजाज़ केवल वाम को रखते हैं और कांग्रेस सहित किसी को भी राजनीतिक पार्टी नहीं मानते हैं। सबके लिए सेकुलरिज़्म सुविधा का मामला है। भाजपा और तृणमूल कांग्रेस को उन्होंने अपराधी राजनीतिक शक्तियों में रखा है।

लगभग पैंतीस वर्ष के भारत पर एजाज़ ने विस्तार से विचार किया है। स्वाधीन भारत का तीसरा चरण नव उदारवादी अर्थ-व्यवस्था के दौर का है। 1991 की नव उदारवादी आर्थिक नीतियों से भारतीय राज्य-व्यवस्था के चरित्र में वे एक गुणात्मक बदलाव देखते हैं। कांग्रेस ने जो पौधा रोपा था, वह आज विशाल वृक्ष के रूप में मौजूद है। नव उदारवादी अर्थव्यवस्था को उन्होंने 'चरम पूंजीवाद' कहा है। मोदी के प्रधानमंत्री बनने, बनाने के अभियान में 'उग्र हिंदुत्व का मुद्दा' न होकर 'आर्थिक विकास और वृद्धि का मुद्दा' था। नरेंद्र मोदी की जीत ने एजाज़ को कई मान्यताओं पर सोचने को बाध्य किया। 1950 के दशक तक आर एस एस हाशिये की शक्ति था। स्वतंत्र पार्टी की असफलता के बाद इसने असंतुष्ट पूंजीपतियों का विश्वास पाना आरंभ किया। पूंजीपति वर्ग का दक्षिणपंथी धड़ा आर एस एस की ओर आकर्षित हुआ। ऐसी शक्तियों के एक बड़े गठबंधन बनने और आर एस एस की विरोधियों की शक्तियों के समाप्त होने के बाद पूंजीपति उनके पीछे इकट्ठे हुए। एजाज़ पूंजीवादी और बुर्जुआज़ी में अंतर करते हैं। भारतीय पूंजीपतियों के लिए 'बुर्जुआज़ी' पद का प्रयोग प्रचलित और रूढ़ है, पर एजाज़ के अनुसार भारतीय पूंजीपति वर्ग जमशेद जी टाटा और कुछ अन्य पारसी पूंजीपतियों को छोड़कर बहुत अंशों में अपनी मानसिकता में 'लालाजी' हैं, जिनका धर्म केवल मुद्रा या धन है। उनके पास अपना कोई ऐतिहासिक-सांस्कृतिक 'मिशन' नहीं है। जर्मन पूंजीपति वर्ग ने कम्युनिस्टों के भय से नाज़ियों का विरोध नहीं किया। भारतीय पूंजीपतियों ने कभी भी शिवसेना और आर एस एस के गुंडों का विरोध नहीं किया। एजाज़ ने केवल अकेले पूंजीपति जमशेद जी टाटा का उल्लेख किया है, जिन्होंने सरकार और व्यापारियों के बीच की गोपनीय बैठक में 1992 के बंबई हत्या कांड के समय बाल ठाकरे की गिरफ़्तारी की मांग की थी। एजाज़ बिड़ला, बजाज और गांधी के अन्य संरक्षकों को, भारतीय बुर्जुआज़ी के राष्ट्रीय रूप में उनके

चरित्र को 'मिथ' कहते हैं। आर एस एस का प्रश्न उनके लिए बहुत जटिल रहा है। वे स्वीकारते हैं कि भारतीय संप्रदायवाद, आर एस एस और उसके मोर्चों के बारे में कई लेख लिखने के बाद भी उन्होंने उसके वर्गचरित्र पर व्यवस्थित रूप से विचार नहीं किया। विजय प्रशाद से बातचीत में आर एस एस पर लेखन में इसे उन्होंने अपनी 'एक बड़ी कमजोरी माना है'। वे आर एस एस को उसके चरित्र में आंतरिक रूप से फ़ासिस्ट कहते हैं और उसे केवल जमींदार और बुर्जआजी की देन नहीं मानते। आर एस एस की स्थापना महाराष्ट्र के ब्राह्मणों ने की थी जिन्होंने मध्यवर्ग के अनेक धड़ों में प्रमुख भूमिका अदा की। आर एस एस के मध्यवर्गीय महाराष्ट्रीय ब्राह्मण ने अपने को शिवाजी द्वारा निर्मित राज्य का उत्तराधिकारी माना और उन्हें मुग़ल और ब्रिटिश शासन के बाद भारत का वास्तविक शासक कहा। एजाज़ इसे उनकी 'आत्मछवि का वैचारिक निर्माण' कहते हैं, चाहे वे महाराष्ट्रियन हों या न हों। इस विचारधारा में पुराना महाराष्ट्र अंतिम बड़े हिंदू राज्य के हिंदू राष्ट्र का वास्तविक अर्थों में व्यापक वृतांत है। एजाज़ ने इसे 'भारतीय राज्य का प्रतिक्रियावादी विचार' कहा है, जो अपने मूल में पुनरुत्थानवादी है और आर एस एस का प्रांतीय मध्यवर्ग, मध्यवर्ग के 'आधुनिक मिशन' के विरुद्ध है, जिसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व किया। बड़े सीमांती जमींदार और पुराने रजवाड़ों के शासक परिवारों ने आर एस एस को संरक्षण दिया और दुकानदारों, व्यापारियों के बड़े समूहों ने उसकी आर्थिक मदद की। रियासतों, रजवाड़ों के महाराजा, पराजित वर्ग के प्रतिनिधि थे, जिनकी शक्तियों में नेहरू और पटेल ने कटौती की थी। नेहरू और कांग्रेस के प्रति आर एस एस की घृणा का एक बड़ा कारण, यह भी था।

कांग्रेस शैली का 'सैकुलरिज़्म' और भाजपा शैली के बहुसंख्यकवाद को एजाज़ ने 'एक व्यवस्था के अंदर की विचारधाराएं' कहा है। वे सैकुलरिज़्म के विचार को प्रबोधन काल के 'स्वतंत्रता, बंधुत्व और समानता' से जोड़ते हैं। व्यापक रूप से सैकुलरिज़्म भ्रातृत्व, बंधुत्व और भाईचारा से जुड़ा है। एजाज़ एक बड़ा सवाल सामने रखते हैं : क्या एक जाति आधारित समाज भाईचारे से जुड़ा हो सकता है? क्या बिना समानता के यह संभव है? क्या सैकुलरिज़्म समाजवाद के बिना संभव है? बहुसंख्यकवाद को काफ़ी ज़हरीला मानने के बाद भी वे उदारवाद को नहीं भूलते, जिसने 'सैकुलरिज़्म' के साथ छल किया, उसे धोखा दिया। एजाज़ हमें याद दिलाते हैं कि तेलंगाना के कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ किसने सेना भेजी और किसने केरल में दुनिया की पहली निर्वाचित वाम सरकार को बर्ख़ास्त किया? वे विरोधियों को याद दिलाते हैं, जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया और उनकी संततियों को याद दिलाते हैं, जिन्होंने कांग्रेस से कहीं अधिक कम्युनिस्टों से घृणा की। जय प्रकाश नारायण ने आपात्काल में आर एस एस से गठबंधन को महत्व दिया। 1977 में जब पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे की सरकार आयी थी उसी समय केंद्र में आर एस एस, समाजवादी और कई कांग्रेसी एक साथ थे। उसी समय से उन्होंने 'वाम का राजनीतिक एकांत' देखा है। किसी न किसी समय प्रत्येक क्षेत्रीय दल ने आर एस एस के राजनीतिक मोर्चे का साथ दिया है। इंदिरा विरोध में जय प्रकाश के आंदोलन और आर एस एस में निकट का सहयोग था। जनता सरकार में जनसंघ कहीं अधिक प्रभावशाली था। इंदिरा गांधी के आपात्काल से मोदी के 'अधिकारवाद' को देखना एजाज़ को 'विचित्र' लगता है। इंदिरा विरोधी आंदोलन को वे भारतीय दायें बाजू की राजनीति के विभिन्न रूपों में 'एक संयुक्त उपक्रम' के रूप में देखते हैं। गुजरात और पटना के छात्र-आंदोलन में अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद को उन्होंने मुख्य खिलाड़ी कहा है। वे यह बताना नहीं भूलते कि जय प्रकाश नारायण ने आर एस एस और मोरारजी देसाई के साथ काम किया था और वे 'कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ्रीडम' के दौर से अमेरिका के पुराने मित्र थे। एजाज़ जयप्रकाश नारायण के प्रति सख़्त हैं। वे किसी के साथ मुरव्वत नहीं करते। जनता पार्टी की सरकार में आर एस एस के प्रतिष्ठानों ने संसद में प्रवेश कर प्रमुख पद प्राप्त किये। इंदिरा विरोधी आंदोलन को उन्होंने इंदिरा सरकार के प्रगतिशील निर्णयों के विरुद्ध देखा। इंदिरा गांधी का सुधारवादी कार्यक्रम आज के नव उदारवादी शासकों की इच्छा के विरुद्ध था। आर एस एस इंदिरा गांधी का शत्रु था, आज आर एस एस सत्ता में है। इंदिरा की ज़्यादतियों की स्थायी रूप से नव फ़ासीवादी चरित्र से तुलना करने के पक्ष में एजाज़ नहीं हैं। वे आपात्काल की स्थितियों के कारक-रूप में जय प्रकाश नारायण, आर एस एस और दक्षिणपंथी कांग्रेसी मोरारजी देसाई 'गैंग' (गिरोह) को देखते हैं। मोदी के समय में आर एस एस की क्रूरताएं कहीं अधिक बढ़ीं हैं। आज के

समय से आपात्काल की तुलना उन्हें संगत नहीं लगती। इंदिरा गांधी की प्रतिबद्धता धार्मिक और 'रेसिस्ट' के प्रति नहीं थी। वहां न हिंसा थी, न दक्षिणपंथी परियोजनाएं, जबकि आर एस एस की शाखा की सदस्यता प्राप्त करते ही हिंसा के प्रति प्रतिबद्धता बढ़ जाती है। एजाज़ आपात्काल और मोदी शासन के दबाव के बीच अंतर देखते हैं, आपात्काल से तुलना को एकदम 'विनोदी' कहते हैं।

एजाज़ के अनुसार आर एस एस अब अपना एजेंडा लागू करने में कहीं अधिक सक्षम है। वे वाजपेयी और आडवानी की तुलना में नेताओं के नये ग्रुप को - मोदी से आदित्यनाथ तक - कहीं अधिक असभ्य, अशिष्ट (क्रूर) और रक्तपिपासु मानते हैं। आर एस एस के ख़राब तत्व सत्ता में तब फैले जब भाजपा अपनी चुनावी शक्ति में शीर्ष पर जा पहुंची। जिस दाव-पेंच और रणनीति और युक्तियों से वे सत्ता में पहुंचे, उन्हें वे क्यों छोड़ें? धर्म के व्यापारीकरण पर एजाज़ का विशेष ध्यान है। आज के भारत की पचास वर्ष पहले के भारत से तुलना करने पर उनका कथन है कि जिस प्रकार सेकुलर राष्ट्रवाद और साम्यवाद इंडोनेशिया, ईरान, इराक़, मिस्र जैसे देशों में एक राजनीतिक प्रवृत्ति के रूप में प्रमुख था और अब वहां इस्लामवाद कई रूपों में प्रमुख है, लभग भारत के संबंध में भी यही सच है। साम्राज्यवाद ने सेकुलर राष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ वैसी ही लड़ाई लड़ी, जैसी साम्यवाद के विरुद्ध; क्योंकि दोनों साम्राज्यवादी हितों के लिए एक जोख़िम थे। आज भारत बीस वर्ष पहले की तुलना में कहीं अधिक 'हिंदुआइज़्ड' है। अस्सी के दशक से ही पूंजीवादी राजनीति में वे एक फ़ासिस्ट 'ट्रेंड' देखते हैं। उन्होंने राष्ट्रीय बुर्जुआज़ी और बिचौलिया पूंजीपति के बीच 'चिर सम्मानित अंतर' के मिटते जाने की बात कही, कल का राष्ट्रीय बुर्जुआज़ी आज प्राय: बिचौलिया बन गया है।

एजाज़ अहमद में एक दूर दृष्टि थी। 2014-15 में पूर्वी यूक्रेन की भयावह हिंसा पर प्रवीर पुरकायस्थ ने उनसे जो बातचीत की थी, वह इस समय के रूस-यूक्रेन युद्ध को समझने में बहुत उपयोगी है। उस समय उन्होंने दूसरे युद्ध की संभावना व्यक्त की थी। मार्क्सवाद के कारण एजाज़ ने सब कुछ को सदैव संपूर्णता में देखा। कहीं भी उनकी दृष्टि खंडित नहीं है। परंपरावादी बुद्धिजीवियों की पोशाक में उन्होंने 'फ़ासीवादी बुद्धिजीवी' की उपस्थिति की बात की। हिंदुत्व के साथ ब्राह्मणवाद पर भी विचार किया, जो अपने निष्कर्ष में 'धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, तार्किकता, धार्मिक सद्भाव और बहुलता की हमारी आधुनिक परंपरा के विरुद्ध' खड़ा होता है। 'अतीत के साम्राज्य के स्मृति-मोह' को, उन्होंने कुछ लिहाज से 'किसी साम्राज्य पर वास्तविक अधिकार की स्थिति से कहीं ज़्यादा बुरा' माना है। उनके लिए इतिहास और साहित्य, 'इल्म के मैदान' में यादों के चिराग़ जलाये रखने में' सबसे अधिक कारगर हैं। एजाज़ के विवेचन-विश्लेषण को समझने और उनसे सीख लेने की आज कहीं अधिक ज़रूरत है। वे नये ढंग से चीज़ों को देखने-समझने में मददगार हैं। ग्राम्शी को उन्होंने लेनिन की तरह 'पराजय का महान मार्क्सवादी दार्शनिक' कहा है। प्रचलित मान्यताओं से भिन्न उनकी अनेक मौलिक मान्यताएं हैं। 'द फ़ॉल आउट ऑफ़ 1989' में 1978 के बाद के चीन पर उन्होंने विचार किया। वे कम्युनिस्ट राज्य-व्यवस्था का विघटन सोवियत रूस में 1989 से नहीं मानकर, चीन में 1978 से देखते हैं। देंग के सत्ता में आने के बाद चीन के रूपांतरण का आरंभ हुआ। चीन के इतिहास को वे दो हिस्सों में देखते हैं – 1949 से 1978 के पहले तक और फिर 1978 के बाद। गोर्बाचोव के पेरेस्त्रोइका की नीतियों में चीन के रूपांतरण की उन्होंने एक भूमिका देखी है। वे 'एक्सट्रीम कैपिटलिज़्म' के साथ 'नेशनल क्वेश्चन' पर विचार करते हैं (*सोशलिस्ट रजिस्टर*, 2019)। उन्होंने 'फ़ासिज़्म इन अमेरिका' पर भी विचार किया। एजाज़ को पढ़ना अपने समय को समझना है। उनके लिए राजनीतिक आंदोलन का महत्व है। वे सामाजिक आंदोलन के विचार को राजनीतिक आंदोलन के विचार से अलग करते हैं। उनके अनुसार सामाजिक आंदोलन राजनीतिक आंदोलन के विरुद्ध हैं। 'सामाजिक आंदोलन' पद कोई निर्दोष पद नहीं है। इसे वे राजनीति का व्यापक अस्वीकार कहते हैं। जिस समय ग्राम्शी के 'सबाल्टर्न' को एक भिन्न रूप में देखा जा रहा था, एजाज़ ने उसका खंडन कर यह बताया कि ग्राम्शी ने इस पद का प्रयोग कामगारों और श्रमिकों के लिए किया है।

एजाज़ ने भारत में वर्ग-संघर्ष के प्रश्न को जाति के प्रश्न से जोड़कर देखा है। उनके अनुसार जाति की समाप्ति के बिना भारत में कोई समाजवादी क्रांति संभव नहीं है। आंबेडकर को जाति के विनाश के मामले में वे सही ठहराते हैं। आंबेडकर इस तर्क में सही थे कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने वास्तव में ऐतिहासिक रूप से जाति को नहीं समझा कि वह वर्ग-निर्धारण की कुंजी है और प्रमुख विचारधाराओं के निर्माण में उसका महत्व है। 'वर्ग और जाति' दोनों के

अंत:संबंध पर उन्होंने ध्यान दिलाया है। एजाज़ ने उदार बुर्जुआ की राजनीति में जाति की एक भिन्न प्रकार की प्रमुखता देखी है। जाति के प्रश्न पर वे कांग्रेस और भाजपा दोनों की आलोचना करते हैं क्योंकि इन दोनों ने अपने 'ऊंचे सिनिकल' रास्ते से जाति के मुद्दे को चालाकी से प्रभावित किया। मार्क्स ने संबंध-श्रेणी में पूंजी की तरह सामाजिक संबंध में 'वर्ग' को सबसे ऊपर रखा है। एजाज़ भारतीय संदर्भ में 'वर्ग' के साथ 'जाति' को भी प्रमुख मानते हैं।

एजाज़ ने अपने उस विश्वास की पुनर्परीक्षा करने को कहा है कि जाति का प्रश्न 'हिंदुत्व' की परियोजना को किसी प्रकार हरा देगा। चुनावी राजनीति में जाति की प्रमुख भूमिका है। जाति को समझे बिना भारतीय समाज और राजनीति का अध्ययन नहीं किया जा सकता। जाति के नाश को उन्होंने भारत में वर्ग-संघर्ष की पूर्व स्थिति के रूप में देखा है। भारतीय मार्क्सवाद के साथ वैश्विक स्तर पर मार्क्सवाद को आज के संदर्भ में समझने में और पूरी निष्ठा के साथ मार्क्सवाद के साथ बने रहने, सक्रिय होने में उनसे मदद मिलती है। मार्क्सवाद को उन्होंने 'असमाप्त विज्ञान' कहा है। उन्होंने मार्क्सवादी विचार के 'पूर्ण लौह फ्रेम' में अपने समय की सभी घटनाओं का विकास देखा। एजाज़ ने मार्क्सवाद को 'जार्गन' में 'रिड्यूस' नहीं किया। बड़ी ज़िम्मेदारी के साथ, गंभीरता के साथ उन्होंने मार्क्सवादी जनबुद्धिजीवी की भूमिका का निर्वाह किया। वे अंतिम दिनों में भारत में नहीं रह सके। भारत में रहने के लिए अमेरिकी पासपोर्ट के होने को उन्होंने 'विडंबनापूर्ण' कहा है।

एजाज़ पर्वत की तरह अडिग, अविचल मार्क्सवादी थे। हमें उनकी यह बात याद रखनी चाहिए, जो उन्होंने बाबरी मस्जिद ध्वंस के तीन वर्ष बाद ही *पहल* के अपने व्याख्यान में कही थी, 'आज जब कि भारत में एक कल्चरल नेशनलिज़्म सांप्रदायिक और फ़ास्सिट शक्ल में पेश हो रहा है, अगर हम उसके जवाब में उतना ही मज़बूत बल्कि उससे ज़्यादा मज़बूत एक सेकुलर, जनवादी और समाजवादी नेशनलिज़्म न बना पाये तो क्या यह इम्कान (आशंका) नहीं है कि हमारे आज के प्रगतिशील अदीबों और बुद्धिजीवियों में से बहुत से लोग एक एक करके टूटते चले जायेंगे और हमारी परंपरा की उस परिभाषा में जज़्ब होते चले जायेंगे जो फ़ास्सिटों की तरफ़ से आ रही है।'

मो. 9431103960

O

यहां मैं इस बहस में नहीं उलझना चाहता कि इतिहास का अंत हो जाने से फ़ुकुयामा का क्या मतलब है, न मेरी मुराद यह है कि वेबर और कीन्स और डेनियल बेल और गालब्रेथ और उत्तर आधुनिकतावाद और फ़ुकुयामा के बीच कोई फ़र्क़ नहीं हैं। फ़र्क़ हैं और बहुत गहरे और बुनियादी हैं। मैं बात कुछ और कह रहा था, वह यह कि मार्क्सवाद का महत्व ख़त्म हो जानेवाली बात बहुत पुरानी है और तरह-तरह की विचारधाराओं में से होकर गुज़री है; यह बात सोवियत यूनियन के बनने से बहुत पहले शुरू हुई थी और सोवियत यूनियन के टूट जाने के बाद भी जारी है। चुनांचे, अगर हम मार्क्सवाद का महत्व ख़त्म हो जाने या बहुत घट जाने की बात करते हैं तो हमें पता हो कि यह महत्व कब और कैसे ख़त्म हुआ : समाजवैज्ञानिक और आर्थिक सोच के मैदान में वेबर और कीन्स के आने के बाद, यानी दूसरी आलमी जंग में सियासी और इक़्तसादी (आर्थिक) तब्दीलियों के सबब, जिनकी बुनियाद पर दूसरी आलमी जंग के बाद पूरे मग़रिबी यूरोप में पारलिमानी जम्हूरियत और कल्याणकारी राज्य का रिवाज आम हुआ या पश्चिमी दुनिया में जराअत (कृषि) हत्ता कि सनअत के भी जवाल (पतन) के बाद, और इस उत्तर औद्योगिक (पोस्ट इंडस्ट्रियल) समाज के बन जाने से, जिसकी बात भी 1960 के बाद ही शुरू हुई या फ़ुकुयामा के बक़ौल नज़रिया ही नहीं बल्कि इतिहास भी ख़त्म हो जाने के बाद यानी पिछले पांच-दस सालों के दौरान?

इन सवालों को बस मैं सवाल की शक्ल में ही छोड़ता हूं क्योंकि इन सवालों का जवाब फ़राहम करने की कोशिश की जाए तो बात कहीं-की-कहीं निकल जाएगी।

—एजाज़ अहमद, 'आज के ज़माने में मार्क्सवाद का महत्व' से एक अंश

हमारा समय और एजाज़ अहमद

प्रणय कृष्ण

एजाज़ अहमद भारतीय उपमहाद्वीप की पृष्ठभूमि के उन श्रेष्ठतम मार्क्सवादी चिंतकों में से एक थे जिन्होंने विश्व स्तर पर मार्क्सवादी, उपनिवेश-विरोधी चिंतन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसी पृष्ठभूमि के इक़बाल अहमद, हम्ज़ा अल्वी, तारिक अली, परवेज़ हुडबॉय आदि की तरह उन्होंने जन-बुद्धिजीवी की भूमिका निभायी। पाकिस्तान में राजनितिक स्तर पर आरंभ से ही वाम आंदोलन के दमन के माहौल में इन चिंतकों ने दुनिया के अलग अलग मुल्कों में जाकर अपनी स्वतंत्र मेधा की उपलब्धियों से विश्व स्तर पर चल रहे मानवीय मुक्ति प्रयासों और अकादमिक जगत को समृद्ध किया। एक उर्दू साहित्यालोचक के बतौर अपना बौद्धिक सफ़र शुरू करने वाले एजाज़ अहमद की आधुनिक विश्व के इतिहास, मार्क्सवादी विचारधारा, विश्व साहित्य, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, दर्शन और राजनीतिक अर्थशास्त्र में गहरी दख़ल थी। विद्वत्ता का इतना बड़ा दायरा उनकी मेधा ने तय किया जो बेमिसाल है।

भारत में उनके आगमन के बाद 1992 में प्रकाशित उनकी पुस्तक, *इन थियरी : क्लास्सेस, नेशंस, लिट्रेचर्स* , ने एक मार्क्सवादी क्लासिक के रूप में दुनिया भर के विद्वानों को प्रेरित किया और उन्हें विभिन्न 'उत्तरवादी' सिद्धांतों को चुनौती देने के लिए बौद्धिक ढांचा प्रदान किया। उनकी महत्वपूर्ण कृतियां 1980 के दशक के अंत और 1990 के दशक की शुरुआत में प्रकाशित होना शुरू हुई जो वह समय था जिसमें सोवियत संघ में समाजवाद के धक्का खाने और आख़िरकार उसके विघटन के माहौल में मार्क्सवादी विचारों को ख़ारिज करने के लिए ठोस बौद्धिक और राजनीतिक प्रयास अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर किये जा रहे थे। शीत युद्ध के बाद साम्राज्यवाद नये नये रूपों में किस तरह सक्रिय है, इसे एजाज़ अहमद ने विलक्षण अंतर्दृष्टि के साथ उजागर किया। भारत में 1990 के दशक से उदारीकरण और हिंदुत्व की सांप्रदायिक राजनीति के उभार के परस्पर सबंध को उन्होंने अनेक लेखों, व्याख्यानों और साक्षात्कारों के ज़रिये स्पष्ट किया। अपने एक लेख 'इंडिया : लिबरल डिमोक्रेसी एंड द एक्सट्रीम राइट' (2016) में अहमद यह तर्क देते हैं कि हिंदू राष्ट्रवाद के 'उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के प्रति दुविधात्मक रवैये' ने मोदी के लिए कॉर्पोरेट समर्थन को सुविधाजनक बनाया है। अमेरिका और योरप के विपरीत, जहां दक्षिणपंथ ने वैश्वीकरणविरोधी भंगिमा अख़्तियार की हुई है (ट्रम्प, लेपेन, ब्रेक्सिट आदि), भारतीय दक्षिणपंथ दृढ़ता से वैश्वीकरण समर्थक है। अहमद का कहना है कि सांप्रदायिक हिंसा की लगातार, छोटी छोटी ख़ुराकों के ज़रिये आरएसएस ने दुश्चिंता की एक स्थायी स्थिति निर्मित की है। उसने दक्षिणपंथ की ओर से सुधार और क्रांति का द्वंद्वात्मक संश्लेषण किया है। आरएसएस ने 'संस्थानों के माध्यम से एक लंबा मार्च' किया है, जिसमें आगे बढ़ने के लिए विभिन्न क़िस्म के मोर्चों, सांप्रदायिक हिंसा और संसदीय भागीदारी का प्रभावी संयोजन किया गया है।

अपनी पुस्तक, *लीनिएजेज़ ऑफ़ द प्रेज़ेंट: आइडियोलॉजी एंड पॉलिटिक्स इन कंटेम्परारी साउथ एशिया* (वर्सो, 2000) में उन्होंने सोवियत विघटन के बाद के दौर में राजनितिक सिद्धांत की भूमिका को नये सिरे से स्थापित किया। अपने लेख, *'द कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो :* इन इट्स ओन टाइम एंड आवर्स' (1999), में एजाज़ अहमद *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* का महत्त्व पूंजीवाद की उस प्रवृत्ति को चिन्हित करने में मानते हैं जो कि सर्वहाराकरण, वर्गीय ध्रुवीकरण और पूंजी के आदिम संचय को विश्वव्यापी बनाती चली जाती है। *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* ने इन प्रक्रियाओं की शिनाख़्त एशिया और अफ्रीका में इनके उभार से बहुत पहले ही कर ली थी।

मैंने 1990 के दशक में जे एन यू में अध्ययन के दिनों में एजाज़ साहब को विश्वविद्यालय परिसर में देखा और मैं तब उनसे पहली बार मिला। सोवियत विघटन के बाद, उग्र भूमंडलीकरण की ज़द में भारत भी आ चुका था।

भारत में यह उग्र सांप्रदायिकता के राजनितिक उठान का दौर था और साथ ही सामाजिक न्याय की ताक़तों के उदय का भी। अकादमिक दुनिया में 'उत्तर' सैद्धांतिकी का ज़ोर बढ़ता जा रहा था। ऐसे परिवेश में एजाज़ साहब के जे एन यू में विज़िटिंग प्रोफ़ेसर के रूप में आने की मिलीजुली प्रतिक्रिया थी। जे एन यू समुदाय में जो शिक्षक और शोधकर्ता 'उत्तर' सैद्धांतिकी की ओर झुकाव रखते थे या फिर जो मार्क्सवाद के साथ उसका संश्रय चाहते थे, उन्होंने एजाज़ साहब के आगमन को थोड़ा ठंडे रूप में लिया जबकि वे लोग जो समाजवाद के संकट का हल खोजने के क्रम में मार्क्सवादी अध्ययन का विकास चाहते थे, उनके लिए एजाज़ साहब का आना एक उत्साहजनक परिघटना थी। उन्हीं दिनों जे एन यू में भारत के एक और यशस्वी मार्क्सवादी चिंतक प्रोफ़ेसर रणधीर सिंह का भी अक्सर आना जाना होता था। वे एजाज़ साहब की तरह जे एन यू से संस्थागत रूप से नहीं जुड़े थे, लेकिन छात्र उन्हें सुनने अच्छी तादाद में जुटते थे। एजाज़ साहब और रणधीर सिंह भारत में वाम राजनीति की कार्यनीतिक दिशा की बहस में भले ही अलग अलग पक्षों से जुड़े थे, लेकिन दोनों ही विश्व स्तर पर मार्क्सवादी अध्ययन और समझ के अद्यतन विकास के प्रति समर्पित थे और उनका विश्वदृष्टिकोण और अध्ययन क्षितिज विराट था।

मुझे अभी भी लगता है कि इक्कीसवीं सदी में जो भी कार्यकर्ता और विचारक मार्क्सवाद के प्रति हमारे उपमहाद्वीप में प्रतिबद्ध हैं या फिर सहानुभूति रखते हैं, उन्हें एजाज़ साहब की, *In Theory: Nations, Classes, Literatures* तथा रणधीर सिंह की, *Crisis of Socialism: Notes in Defence of a Commitment* का अवश्य ही अध्ययन करना चाहिए।

सन 2006 में इलाहाबाद में सज्जाद ज़हीर जन्मशताब्दी के आयोजन के लिए एक समिति का गठन हुआ जिसका संयोजक उर्दू आलोचक प्रो. अली अहमद फ़ातमी को और सह-संयोजक मुझे बनाया गया। मैंने उद्घाटन के लिए प्रो. एजाज़ अहमद का नाम प्रस्तावित किया। समिति के अधिकांश सदस्यों की एजाज़ साहब की शख़्सियत और कृतियों से वाकफ़ियत नहीं थी। लिहाजा मैंने उनके कृतित्व के बारे में संक्षेप में अवगत कराया और तय हुआ कि वे ही इस दो-दिवसीय समारोह का उद्घाटन करेंगे। कार्यक्रम के दौरान उन्हें और भी नज़दीक से देखने, सुनने और समझने का मौक़ा मिला। कुछेक बातों पर हलकी फुलकी बहस भी हुई। निजी बातचीत के दौरान उन्होंने उत्तर प्रदेश में वामपंथी आंदोलन की स्थिति जाननी चाही और यह भी कि जाति के प्रश्न को वाम कार्यकर्ता ज़मीनी स्तर पर कैसे संबोधित करते हैं। उद्घाटन भाषण उन्होंने जिस नफ़ीस उर्दू में दिया, वैसी भाषा इलाहाबाद में शायद दशकों से सुनी नहीं गयी थी। एजाज़ अहमद उन बिरले चिंतकों में थे जिनके काम को डिसिप्लिन्स के खांचों में नहीं बांटा जा सकता। *इन थियरी* जैसी पुस्तक इसका बेहतरीन सबूत है।

सन 2007 में इलाहाबाद में 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की 150 वीं वर्षगांठ और भगत सिंह की जन्मशती पड़ी। इस अवसर पर उद्घाटन का दायित्व प्रो. रणधीर सिंह ने उठाया।

मार्क्स के भारत सबंधी लेखों का उचित परिप्रेक्ष्य : एजाज़ अहमद का दृष्टिकोण

मार्क्स का भारत संबंधी लेखन अख़बारी होते हुए भी बेहद संश्लिश्ट था और इतना विवादास्पद कि उसने ख़ुद मार्क्सवादियों से लेकर उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतकारों तक के बीच गंभीर बहसों को जन्म दिया। 1857 की 150वीं वर्षगांठ पर वाम प्रगतिशील ख़ेमे में एक ज़ोरदार बहस उठी। राजेंद्र यादव और विभूतिनारायण राय के नेतृत्व में वाम-प्रगतिशील लेखकों के एक हिस्से ने 1857 की बग़ावत को प्रतिक्रियावादी ठहराते हुए भाषण दिये और लेख लिखे।

इनके लिखे का सार यह था कि 1857 का विद्रोह धार्मिक और जातिवादी आग्रहों से संचालित उच्चवर्णीय सामंतों का विद्रोह मात्र था और यदि वह सफल होता तो भारत कभी भी रिपब्लिक नहीं बन पाता, उलटे वह खंड खंड बिखर जाता। 1857 में आम जन की भागीदारी, बहुजन की भागीदारी के अनेक वृत्तांत तब भी मौजूद थे और आज तो और भी हैं, लेकिन इन विद्वानों ने उसे कोई ख़ास महत्त्व नहीं दिया। बहरहाल, 1857 को प्रतिक्रियावादी या प्रगतिशील ठहराने वाले दोनों पक्षों ने कार्ल मार्क्स के भारत सबंधी लेखों का उपयोग किया। जो विद्वान् इसे प्रतिक्रियावादी मानते थे उन्होंने मार्क्स के लेखों में भारत की एक ठहरे हुए गतिरुद्ध समाज की छवि को उभारा और 1857 को उन्होंने इसी ' विशृंखलित आत्मनिर्भर गांवों वाली परिवर्तनहीन सामाजिक व्यवस्था' की रक्षा का विद्रोह

साबित किया। जबकि मार्क्स के भारत संबंधी लेखन में ही सबसे पहले 1857 को सैनिक विद्रोह या ग़दर से बढ़कर भारतीय राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति के रूप में पहचाना गया। यह विद्रोह उनके अनुसार अंग्रेज़ों द्वारा इस गतिरुद्ध व्यवस्था को तोड़ने के प्रगतिशील प्रयासों के ख़िलाफ़ था। इस बहस में हस्तक्षेप के क्रम में मुझे एजाज़ अहमद की पुस्तक, *इन थियरी* में 'Orientalism and After : Ambivalence and Metropolitan Location in the Work of Edward Said' तथा 'Marx on India : A Clarification' शीर्षक अध्यायों से बड़ी सहायता मिली। इन लेखों में मार्क्स के भारत सबंधी लेखों की क्लोज़ रीडिंग है और साथ ही एडवर्ड सईद द्वारा मार्क्स को भी ओरिएंटलिस्ट क़रार दिऐ जाने के विरुद्ध प्रतिभाशाली बहस है, लेकिन इस बहस में हमारे लिए काम की दो ज़रूरी चीज़ें थीं। अव्वल तो यह कि मार्क्स द्वारा भारत की जो सनातन अवरुद्धता की तस्वीर खींची गयी थी, उसे एजाज़ साहब ने पश्चिम में पूरब के बारे में उस समय तक के ज्ञान की सीमाओं के संदर्भ में देखने की सिफ़ारिश की। वह मार्क्स के प्राच्यवादी दृष्टिकोण का परिचायक नहीं थी। इस क्रम में उन्होंने संक्षेप में मार्क्स की भारत के बारे में खींची तस्वीर का अधुनातन ऐतिहासिक शोधों के आलोक में प्रत्याख्यान भी किया। दूसरी ओर, उन्होंने अंग्रेज़ों द्वारा भारत के सामाजिक संकट का जो समाधान खोजा गया उसे ग़ैर-क्रांतिकारी और पश्चगामी बताया। और यहां उन्होंने मार्क्स के इन्हीं लेखों का सहारा लिया। मार्क्स के भारत सबंधी लेखों का जैसा विवेकयुक्त पाठ उन्होंने किया, वह भारत में 1857 के विद्रोह के स्वरूप पर चल रही समकालीन बहसों के लिए अत्यंत मूल्यवान था। प्रसंगवश यह बताते चलें कि 1857 की 150वीं वर्षगांठ पर इलाहाबाद के अपने उद्घाटन भाषण में रणधीर सिंह ने भी मार्क्स के भारत सबंधी लेखों के सतर्क पाठ का आग्रह किया। उन्होंने कहा कि यदि ये लेख बकवास भी माने जायें , तो भी यह मार्क्स की बकवास थी, किसी ऐरे-ग़ैरे की नहीं। आशय यह कि उसमें भी अंतर्दृष्टि के बहुमूल्य मोती हैं।

मार्क्स के भारत सबंधी लेखों के संदर्भ स्पष्ट करते हुए और परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए एजाज़ साहब ने लिखा, 'बीमारी और ग़रीबी के दिनों में मित्र एंगेल्स के कहने पर मार्क्स ने *न्यूयार्क ट्रिब्यून* में भारत संबंधी 33 टिप्पणीनुमा लेख प्रकाशित कराये। 12 लेख 1853 में, 15 लेख 1857 में और 6 लेख 1858 में। मार्क्स के इन लेखों को काफ़ी कचारा निचोड़ा गया है और विद्वानों ने उनके भारत संबंधी विचारों के विकास तथा उनके अन्य गंभीर लेखन के समानांतर इन अख़बारी लेखों को रखकर गंभीर अध्ययन किये हैं। आज भारत के मार्क्सवादी बौद्धिक जानते हैं कि जब मार्क्स भारत के बारे में लिख रहे थे तो पूरब के बारे मे पश्चिमी ज्ञान अत्यंत सीमित था, कि भारत के विशृंखलित, आत्मनिर्भर गांवों की छवि मार्क्स ने हेगेल से शब्दशः ग्रहण की थी, कि एशिया की परिवर्तनहीन, गतिरुद्ध छवि 19वीं सदी के योरप को हाब्स और मान्टेस्क्यू जैसे ज्ञानोदय के अग्रदूतों से विरासत में मिली थी, कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत की कृषि अर्थव्यवस्था उतनी परिवर्तनहीन और स्वायत्त ग्राम-समुदायों वाली न होकर विनियम और विनियोजन (एप्रोप्रियेशन) के कहीं बड़े संचारतंत्र के साथ जुड़ी हुई थी, कि कृषि तकनीक शताब्दियों से वैसी गतिरुद्ध न थी, जैसी मार्क्स ने समझी थी, कि स्वायत्त ग्राम इकाइयों को केंद्रीय स्तर पर जल-प्रबंधन से जोड़ने वाले निरंकुश राजतंत्र (हाइड्रालिक स्टेट) की धारणा ग़लत थी, बल्कि छोटे बांध, उथले कुएं, स्थानीय तालाब जो कि पारिवारिक और सामूहिक श्रम से तैयार किये जाते थे, उनकी सिंचाई में उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका थी जितनी कि केंद्रीय स्तर पर नियोजित जल-प्रबंधन की, कि भूसंपत्ति का वैसा अभाव न था जैसा मार्क्स ने समझा था और किसानों के अलग अलग तबक़ों का अस्तित्व काफ़ी पहले से था, कि 'एशियाटिक मोड आफ़ प्रोडक्शन' की धारणा भारत के संदर्भ में 'अप्रामाणिक' है, आदि।'

अहमद भारत में उत्पादन पद्धति की जड़ता को 18वीं सदी से मानते हुए बढ़ती आ रही औपनिवेशिक ताक़तों के ख़िलाफ़ कोई मोर्चा न बन पाने की कमज़ोरी की शिनाख्त करते हैं। लेकिन भारतीय सामाजिक गतिरोध का कोई प्रगतिशील समाधान अंग्रेज़ों ने दिया, इसे ख़ारिज करते हैं। उन्होंने लिखा, '... तकनीक और उत्पादन की वास्तविक जड़ता जो 18वीं सदी में अभिव्यक्त हुई, साथ ही साथ क्षेत्रीय और राजवंशों के लगातार चलने वाले विनाशकारी युद्धों ने बढ़ती चली आ रही औपनिवेशिक ताक़त के विरुद्ध किसी व्यावहारिक संश्रय का बनना असंभव बना दिया। उपनिवेशवाद ने हमारे समाज के इस संकट का एक ग़ैर-क्रांतिकारी और पतनोन्मुख समाधान प्रस्तुत किया।'

'उत्तर'वादी सैद्धांतिकी से प्रकांड बहस

इन थियरी (1992) पुस्तक उत्तर-संरचनावाद, उत्तर-आधुनिकतावाद और उत्तर-औपनिवेशिकता के सैद्धांतिक आधारों और उनके मुख्य विषयों के साथ एक महत्वपूर्ण बहस के रूप में सामने आयी। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी महानगरीय केंद्रों के विश्वविद्यालयों में पढ़ने और पढ़ाने वालों में ग़ैर-योरपीय मूल के लोगों की संख्या में वृद्धि तथा 1960 के दशक के छात्र आंदोलनों ने असहमति और विरोध के एक रेडिकल माहौल को जन्म दिया। इस माहौल ने बौद्धिक अन्वेषण के बने बनाये तरीक़ों, व्याख्या की पद्धतियों और सांस्कृतिक व्यवहारों के प्रतीकन की प्रणालियों के प्रति एक असंतोष के सैद्धांतीकरण को जन्म दिया, लेकिन 60 के दशक के आंदोलनों के समाप्त होते-होते सांस्कृतिक असंतोष तथा राजनीतिक असहमति के तमाम रूपों को संस्थाबद्ध रूपों से अनुकूलित कर नखदंतविहीन बना लिया गया। एजाज़ अहमद असंतोष को अनुकूलन में बदलने के इसी बिंदु को आज के तमाम 'उत्तर'वादी सिद्धांतों का मूल मानते हैं जिसके तहत राजनीतिक-सांस्कृतिक सक्रियता की संस्कृति को पाठ की संस्कृति में बदला गया और वे प्रश्न जो मार्क्सवादी राजनीति से सीधे जुड़े थे उनका उत्तर-आधुनिक दिशा में पुनर्संयोजन किया गया। इसी प्रक्रिया में तमाम नये-नये सिद्धातों का विस्फोट हुआ। विभिन्न क़िस्म के सैद्धांतिक और विषयगत संयोजनों में पश्चिमी ज्ञान के विविध क़िस्म के विकासमान रूपों को संग्रथित करने के प्रयास हुए। बैंजामिन, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, लुकाच, भाषाविज्ञान, व्याख्याविज्ञान (हर्मिन्यूटिक्स), दृष्यप्रपंचविज्ञान (फेनॉमिनॉलॉजी), संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद, रूसी रूपवाद, ग्राम्शी, फ्रायड, जाक लाकान आदि के विचारों के विविध क़िस्म के संयोजन सिद्धांतों के रूप में प्रकट हुए।

एजाज़ अहमद ने इस व्यापक अकादमिक परिप्रेक्ष्य में साम्राज्य, उपनिवेश, राष्ट्र, देशांतरण, उत्तर-औपनिवेशिकता आदि प्रश्नों को केंद्रित कर विकसित किये गये साहित्य सिद्धांतों पर ही अपनी आलोचना को केंद्रित किया। उन्होंने 1960 के बाद विकसित तीसरी दुनिया के राष्ट्रवाद के सिद्धांत से लेकर राष्ट्र और राष्ट्रवाद जैसी कोटियों के उत्तर-संरचनावादी विखंडन तक की सैद्धांतिकी को मार्क्सवादी दृष्टिबिंदु से प्रश्नांकित किया। इन नये सिद्धांतों ने ख़ुद मार्क्सवाद का कैसा निरूपण किया यह भी अहमद की चिंता का केंद्रीय विषय है। अहमद यह रेखांकित करते हैं कि उपनिवेश और साम्राज्य के प्रश्नों पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण बहुधा तीसरी दुनिया के राष्ट्रवादों की मुख्य प्रेरणा रहा। संरचनावाद का पश्चिमी अकादमी पर जो आरंभिक असर था, ख़ासतौर पर ब्रिटेन में, उसका अल्थ्यूसर मार्का मार्क्सवाद से गहरा संबंध था। उत्तर-संरचनावाद तक आते आते मार्क्सवाद को उत्पादन पद्धति के आख्यान, विधेयवाद, इतिहासवाद, अनुभववाद और यहां तक कि प्राच्यवाद से ग्रस्त सिद्धांत के रूप में परिभाषित करने का चलन चल पड़ा। दूसरी ओर मार्क्सवाद की कुछ अवधारणाओं और वक्तव्यों को उसके राजनीतिक व्यवहार से काटकर उसे पढ़त सिद्धांत या पाठ विश्लेषण की पद्धति के रूप में बदलने की कोशिशें हुईं। एजाज़ अहमद ने इस पूरी प्रक्रिया में अंतर्निहित दक्षिणपंथी रुझानों को रेखांकित किया।

राष्ट्र की कोटि और संस्कृति की राजनीति

राष्ट्रवाद के सवाल पर भी इन नये सिद्धांतों की कमज़ोरियों पर उन्होंने उंगली रखी। तीसरी दुनिया के राष्ट्रवाद जैसी संकल्पनाओं की मार्फ़त राष्ट्रवाद को एक सैद्धांतिक अमूर्तन में बदले जाने की आलोचना करते हुए अहमद ने रेखांकित किया कि राष्ट्रवाद कोई एक चीज़ नहीं है। अनेक तरह की विचारधाराएं और राजनीतिक व्यवहार राष्ट्रवादी दावे करते हैं। राष्ट्रवाद के अलग अलग ख़ास अनुभवों के विश्लेषण से ही प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवादों को अलगाया जा सकता है। अहमद ने राष्ट्रवाद और संस्कृति की कोटियों को एक में मिलाकर 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' जैसी साझा कोटि या अवधारणा बनाये जाने की आलोचना करते हुए यह रेखांकित किया कि 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की विचारधारा एकरूपीकरण की प्रवृत्ति लिए रहती है जिसके चलते क्षेत्रीय संकीर्णता, उलट नस्लवाद तथा देशी रूढ़िवाद के लिए इसका इस्तेमाल आसान हो जाता है। इसके माध्यम से निम्नपूंजीपति वर्ग अपने सांस्कृतिक व्यवहारों और आकांक्षाओं को अखंड राष्ट्रीय संस्कृति के प्रतीकों के रूप में स्थापित करने का अवसर पाता है। अहमद ने यह रेखांकित किया कि 'राज्य की राजनीतिक कोटि, क़ानून के नियमन और दमन की कोटि, राजनीतिक पार्टियां या वर्गीय संगठनों जैसी संस्थागत प्रक्रियाओं की अपेक्षा संस्कृति और साहित्यिक/सौंदर्यात्मक दायरा उन

अधिरचनाओं में से है जो अर्थव्यवस्था से अपेक्षतया अधिक दूरी पर स्थित हैं। इसीलिए यह दायरा आदर्शीकरण और सैद्धांतिक स्खलन के लिए अधिक मुफ़ीद पड़ता है।'

अहमद ने ज़ोर देकर कहा, 'मैं राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद का सुनिश्चित द्वंद्वात्मक निषेध मानने को तैयार नहीं हूं। यह द्वंद्वात्मक स्थिति सिर्फ़ समाजवाद की हो सकती है ... कोई भी राष्ट्रवाद क्या भूमिका निभायेगा, यह वर्गीय ताक़तों के विन्यास तथा उन सामाजिक-राजनीतिक व्यवहारों से तय होता है जो कि उस शक्तिसंरचना को संगठित करते हैं जिसके भीतर कोई ख़ास राष्ट्रवादी पहलक़दमियां ऐतिहासिक रूप से प्रभावकारी बनती हैं ।... अतः कोई भी संघर्ष राष्ट्र और राज्यमात्र के ख़िलाफ़ नहीं, बल्कि वर्ग, राष्ट्र और राज्य की विभिन्न ठोस अभिव्यक्तियों के ख़िलाफ़ संचालित होता है।'

एजाज़ साहब के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उत्तर औपनिवेशिक राज्यों में पनपा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद न तो साम्राजयवाद विरोधी हो सकता है और न ही पूंजीवाद-विरोधी। प्रतिक्रियावाद और आतंरिक तबाही उसके लक्षण हैं। भारत में अब जो घट रहा है उसे समझने में भी यह विश्लेषण बहुत कारगर है। उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रवाद से सांस्कृतिक या धार्मिक राष्ट्रवाद की ओर संक्रमण को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रेखांकित करते हुए एजाज़ अहमद ने लिखा, 'उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद एक ओर राष्ट्रवादी विचारधाराओं तथा पूंजीवादी नेतृत्व वाले उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों के रूप में, तो दूसरी ओर क्रांतिकारी युद्धों और क्रांति के बाद समाजवादी, वामपंथी राज्यों के रूप में सन् 1970 के दशक के आख़िरी वर्षों तक दुनिया की (राजनीतिक) संरचना का केंद्रीय संघटक तत्व था।... सन् 1980 के दशक तक आते आते विश्व-राजनीतिक संरचना में ऐतिहासिक परिवर्तन हो चुका था। उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद और समाजवादी ऐतिहासिक प्रवाह से उत्पन्न क्रांति के पश्चात् उभरे राज्यों की घेरेबंदी पूरी हो चुकी थी और उनकी उत्पादक शक्तियों को निकृष्ट क़िस्म की जड़ता में फेंक दिया गया था। नये रेडिकलवाद में पैठ बना चुकी कम्युनिस्ट-विरोधी विचारधाराओं का इस्तेमाल यह साबित करने में किया गया कि समाजवाद किसी काम का नहीं है।... उन उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों में, जहां राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में पनपे राष्ट्रवाद से हर तरह के चमत्कार की उम्मीद की गयी थी, वहां एक ओर तो राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग ज़बर्दस्त ढंग से मज़बूत हुआ, जिसने गुटनिरपेक्ष आंदोलन तथा व्यापार की शर्तों को तय करने वाले उत्तर-दक्षिण वार्ताओं पर मज़बूत पकड़ बनायी, वहीं दूसरी ओर इन राज्यों में आंतरिक विकास की अवरुद्धता, पूंजीवाद पर बढ़ती निर्भरता, निरंकुश दमनकारी शासन, धार्मिक कट्टरवाद, राजनीति और समाज के बीच बढती खाई, साम्राज्यवादी अनुदानों, निवेश तथा सरपरस्ती का शिकंजा भी बढ़ता गया। इन राज्यों की उपनिवेशवाद-विरोधी अंतर्वस्तु पहले ही चरितार्थ हो चुकी थी और राष्ट्रवाद का जो कुछ भी अंश बचा रह गया था वह या तो तेज़ी से हवा हो गया या फिर उसने भीषण तबाही मचायी।' तबाही के दृष्टांत के रूप में उन्होंने खुमैनी के नेतृत्व वाली ईरानी क्रांति के बाद धार्मिक फ़ासीवाद पर आधारित राज्यसत्ता को उद्धृत किया।

तीसरी दुनिया के राष्ट्रवाद पर आधारित साहित्य सिद्धांतों से बहस

अहमद ने अपनी पुस्तक, *इन थियरी* में जेमसन की तीसरी दुनिया के राष्ट्रवाद की धारणा पर आधारित तीसरी दुनिया के साहित्य को राष्ट्रीय रूपक के बतौर पढ़े जाने की प्रस्तावना तथा एडवर्ड सईद की चिंतनपद्धति के अंतर्विरोधों की आलोचना की है। 'जेमसंस रेटॉरिक ऑफ़ अदरनेस एंड द नेशनल एलेगरी' शीर्षक तीसरे अध्याय में उन्होंने 'तीसरी दुनिया के साहित्य के ज्ञानात्मक सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांत' रचने की जेमसन की कोशिशों की समीक्षा की। जेमसन की यह धारणा उनके प्रसिद्ध लेख 'बहुराष्ट्रीय पूंजी के युग में तीसरी दुनिया का साहित्य' ('थर्ड वर्ल्ड लिटरेचर इन द एरा ऑफ मल्टीनेशनल कैपिटल') में अभिव्यक्त हुई। सबसे पहले अहमद ने तीसरी दुनिया की अवधारणा की ही सैद्धांतिक स्थिति को अमान्य करते हुए उसे वाद-विवाद के लिए ही उपयोगी संकल्पना बताया। उन्होंने तीसरी दुनिया के ढेरों देशों की सैकड़ों भाषाओं के साहित्य के लिए कोई एक ज्ञानात्मक सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांत बनाने की आकांक्षा को प्रश्नांकित करते हुए यह कहा कि ऐसा करना बेबर के मॉडल पर आदर्श प्रारूप (आइडियल टाइप) बनाकर ही संभव है। ऐसा करना प्राच्यवादी अध्येताओं की ऐतिहासिक रूप से अपनायी गयी उन पाठ-प्रक्रियाओं का ही दोहराव है जिनके तहत वे 'इस्लामिक सभ्यता' या 'भारतीय सभ्यता' जैसी एकरूप निर्मितियों को खड़ा करते थे। उदाहरण के

लिए, भारत के बारे में प्राच्यवादी विद्वानों ने कुछ ख़ास कृतियों के पाठ के आधार पर जो धारणाएं बनायीं, उन्हें भारतीय संस्कृति का नाम दे दिया। ये आमतौर पर वेद, उपनिषद, पुराण आदि उच्च संस्कृति के मानक ग्रंथ थे। इसी प्रकार सैकड़ों भाषाओं में लिखा तीसरी दुनिया का साहित्य जो बहुरंगी और वैविध्यपूर्ण है, उसके अनुवादों की पश्चिम में अनुपलब्धता कुछ ख़ास योरपीय भाषाओं में रचे तीसरी दुनिया के साहित्य को ही प्रातिनिधिक माने जाने की स्थिति पैदा करता है। इन्हीं के आधार पर तीसरी दुनिया के साहित्य का ज्ञानात्मक सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांत यदि खड़ा किया जाना है तो वह वैसा ही एकांगी और अवास्तविक होगा जैसा कि प्राच्यवाद।

एजाज़ अहमद के अनुसार 'तीसरी दुनिया का साहित्य' जैसी ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिसे कि सैद्धांतिक ज्ञान के आंतरिक तौर पर सुसंगठित विषय के रूप में निर्मित किया जा सके। काल निर्धारण, सामाजिक और भाषिक ढांचे, राजनीतिक और वैचारिक संघर्ष जो कि साहित्यिक उत्पादन के क्षेत्र में संचालित होते हैं, ऐसे बुनियादी मुद्दे हैं जिन्हें 'तीसरी दुनिया के साहित्य' जैसी सामान्य संज्ञा के भीतर समेटा नहीं जा सकता।

एजाज़ अहमद की एक महत्वपूर्ण आपत्ति यह भी है कि जेमसन के लिए पहली दुनिया और दूसरी दुनिया उत्पादन-तंत्र (क्रमशः पूंजीवाद और समाजवाद) के संदर्भ में व्याख्यायित हैं जबकि तीसरी दुनिया की परिभाषा उस दुनिया के बाहर से थोपी गयी एक परिघटना (साम्राज्यवाद/उपनिवेशवाद) के आधार पर की गयी है। एजाज़ अहमद यह आरोप लगाते हैं कि दरअसल तीन दुनियाओं की यह परिभाषा वैचारिक रूप से विश्व को दो हिस्सों में बांटती है- एक वे लोग जो इतिहास के निर्माता हैं (पहली और दूसरी दुनिया के लोग) और एक वे (तीसरी दुनिया के लोग) जो कि इतिहास के विषय (ऑब्जेक्ट) हैं। अहमद के अनुसार हीगल के बहुचर्चित 'स्वामी दास' के संबंध को ही यहां पहली और तीसरी दुनिया के बीच अंतर्विरोध को समझने का मुख्य प्रत्यय बना दिया गया है। तीसरी दुनिया के तमाम देशों का उत्पादन तंत्र क्या है? क्या वे प्राक्-पूंजीवादी हैं? या वे संक्रमण की अवस्था में हैं? यदि वे संक्रमणकालीन अवस्था में हैं, तो ये संक्रमण किस अवस्था से किस अवस्था की ओर हो रहा है? इन सब प्रश्नों के अलावा इन तीन दुनियाओं में से प्रत्येक दुनिया के अलग अलग देशों की अवस्था क्या एक ही है? क्या भारत, ब्राज़ील, अर्जेंटीना, नमीबिया, नाइजीरिया, मेक्सिको, वियतनाम के उत्पादन तंत्रों की अवस्था एक ही है या अलग-अलग? दरअसल, जेमसन पहली दुनिया को पूंजीवादी और तीसरी दुनिया को प्राक्-पूंजीवादी या ग़ैरपूंजीवादी मान कर चले हैं। यहां एजाज़ अहमद ने भारत का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए रोचक प्रश्न उठाये हैं। भारत में पूंजीवादी देशों की सारी विशेषताएं मिलती हैं- विशाल बाज़ार के लिए उत्पादन, कृषि और उद्योग के बीच तथा विभिन्न उद्योगों के बीच लगातार तीव्र गति से बढ़ता विनिमय, फ्रांस और जर्मनी मिलाकर जितने तकनीशियन हैं, उससे ज़्यादा बड़ा तकनीकी समूह भारत के पास है, भारत की कई बहुराष्ट्रीय कंपनियां दुनिया की सबसे बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों में शुमार हैं, सन् 1947 से लेकर अब तक भारत में पूंजीवादी लोकतंत्र की निरंतरता बनी हुई है जो कि पुर्तगाल और स्पेन जैसे सबसे पुराने उपनिवेशवादी देशों में भी नहीं बनी रह पायी है, आदि-आदि। लेकिन भारत का यह पूंजीवादी लोकतंत्र उन तमाम तरह की अराजकताओं और हिंसा को लिये हुए है जिसकी कल्पना (गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से) पश्चिमी योरप या जापान जैसे देशों के संदर्भ में नहीं की जा सकती जहां बूर्जुआ राजनीतिक आत्मवत्ता आम जनता के स्तर पर निर्मित की जा चुकी है। भारत के बूर्जुआ लोकतंत्र की आधी आबादी की माली हालत एंगेल्स की 1845 में प्रकाशित पुस्तक, *द कंडीशन ऑफ़ दि वर्किंग क्लास इन इंग्लैंड* में वर्णित दशा से भी गयी-बीती है। ऐसे में भारत पहली दुनिया (पूंजीवादी ढांचा) का हिस्सा है या ग़रीबी, बेकारी, भुखमरी जैसी विशेषताएं लिये हुए तीसरी दुनिया (प्राक्-पूंजीवादी संरचना) का हिस्सा है?

यदि तीसरी दुनिया को 'उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के अनुभव' के ही संदर्भों में परिभाषित किया जाना है, तो प्राथमिक विचारधारात्मक संरचना जिसमें यह विमर्श संचालित होना है वह 'राष्ट्रवाद' ही ठहरेगी। ज़ाहिर है कि जब ऐसा मान ही लिया जाये तो कोई भी साहित्य की दुनिया में उसी निष्कर्ष पर पहुंचेगा जिस पर जेमसन पहुंचते हैं अर्थात् 'तीसरी दुनिया के सभी साहित्यिक उत्पादन (टेक्स्ट) अनिवार्यतः राष्ट्रीय रूपक हैं।' जेमसन की योजना में 'तीसरी दुनिया' के लोगों के चुनने के लिए दो ही विकल्प हैं-या तो उनके अपने 'राष्ट्रवाद' या फिर 'भूमंडलीय अमरीकी उत्तर-आधुनिक संस्कृति'। एजाज़ अहमद ये प्रश्न करते हैं कि क्या उनके लिए कोई अन्य

विकल्प सचमुच नहीं है? क्या वे दूसरी दुनिया (समाजवादी ब्लाक) में शुमार नहीं हो सकते? वास्तव में जेमसन जिस दौर में ये विकल्प प्रस्तावित कर रहे हैं वह सोवियत संघ के ढहने के बाद का दौर है। अहमद प्रश्न करते हैं, 'कभी एक मार्क्सवादी विमर्श भी हुआ करता था, एक चीज़ थी जिसे 'समाजवादी और/या कम्युनिस्ट संस्कृति' कहा जाता था जो न राष्ट्रवादी था, न उत्तर-आधुनिक। क्या वह हमारे विमर्श से पूरी तरह ग़ायब हो चुकी है, यहां तक कि एक चाहत के तौर पर?'

जेमसन यहां (राष्ट्रवाद/उत्तर-आधुनिकतावाद की) ऐतिहासिक परिघटनाओं को जिस तरह परस्पर-विरोधी द्वित्व के भीतर पूरी तरह समेट लेने की जल्दबाज़ी करते हैं, उससे इस तथ्य के लिए कोई जगह नहीं बच जाती कि तथाकथित तीसरी दुनिया के 'राष्ट्रवादों' में सिर्फ़ वे राष्ट्रवाद ही अमरीकी सांस्कृतिक दबावों का प्रतिरोध कर सके या वास्तविक विकल्प पैदा कर सके जो कि पहले ही व्यापक समाजवादी राजनीतिक व्यवहार में समाहित और अभिव्यक्त हो रहे थे। इनके अलावा जो भी राष्ट्रवाद बचे, उन्हें 'भूमंडलीय अमरीकी उत्तर-आधुनिक संस्कृति' के साथ अपना तालमेल बैठाने में कोई परेशानी नहीं हुई। ईरानी राष्ट्रवाद (खुमैनी के नेतृत्व वाला इस्लामी राष्ट्रवाद) कट्टर कम्युनिस्ट-विरोधी था और उसने सामाजिक पुनरुज्जीवन नहीं, बल्कि फ़ासीवाद को जन्म दिया। अहमद लिखते हैं, 'इस बात का न तो कोई सैद्धांतिक आधार है और न ही व्यावहारिक प्रमाण कि तथाकथित तीसरी दुनिया के पूंजीवादी राष्ट्रवादों को उत्तर-आधुनिकता से कोई परहेज़ होगा। वे तो उसे चाहते हैं।... यदि समाजों की परिभाषा उत्पादन-संबंधों के आधार पर न होकर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के आधार पर होगी, यदि वे सदा के लिए पूंजीवाद (पहली दुनिया) और समाजवाद (दूसरी दुनिया) के बीच लड़ाई के बाहर ही लटके रहेंगे, यदि इतिहास की प्रचालक शक्ति वर्ग निर्माण, वर्गसंघर्ष या फिर वर्ग, लिंग, राष्ट्र , नस्ल, क्षेत्र आदि की एक दूसरे को काटती रेखाओं के अंतर्विरोध नहीं हैं, बल्कि राष्ट्रीय शोषण के एकात्म अनुभव हैं ... तब भला राष्ट्रीय दमन के अलावा किस अन्य बात की कहानी कही जा सकती है?'

सईद की प्राच्यवाद की अवधारणा और उसकी ज्ञानात्मक विसंगतियों से बहस

सईद के 'प्राच्यवाद' शीर्षक ग्रंथ की आलोचना करते हुए एज़ाज अहमद ने उसे सारसंग्रहवादी बताया है। अहमद 'प्राच्यवाद' की पाठ-पद्धति को फ़ूको की विमर्श की धारणा से प्रेरित बताते हैं। फ़ूको ने 16वीं शताब्दी से पहले किसी भरे-पूरे विमर्श की बात नहीं की। विमर्श की उनकी धारणा मध्यकाल के बाद पैदा हुए तर्कवाद, राजसत्ता के आधुनिक रूपों, आधुनिक संस्थाओं, वस्तुरूप में आर्थिक उत्पादन तथा तर्कयुक्त योजनाओं के आधुनिक रूपों के अस्तित्व की सहवर्ती स्थितियों को मानकर चलती है। किंतु फ़ूको की विमर्श की धारणा को स्वघोषित तौर पर इस्तेमाल करने वाले सईद पश्चिमी ज्ञानात्मक उत्पादों में प्राच्यवादी विमर्श को प्राचीन यूनान से लेकर नितांत समकाल तक जारी मानते हैं। फ़ूको की विमर्श की धारणा की परीक्षा को अलग विषय मानते हुए अहमद, सईद द्वारा उसके इस्तेमाल के अंतर्विरोधों को रेखांकित करते हैं। फ़ूको पश्चिमी ज्ञानमीमांसा को 16वीं से 18वीं शताब्दी के बीच योरप के ऐतिहासिक विकास में ही अवस्थित करते हैं। मार्क्सवादी शब्दावली में इसे पूंजी के आदिम संचय से लेकर औद्योगिक क्रांति तक पूंजी के विकास का दौर कह सकते हैं। एक ओर तो फ़ूको से प्रभावित पाठ-पद्धति के दबाव में सईद प्राच्यवाद को उपनिवेशवाद से संबद्ध आधुनिक विमर्श के रूप में प्रस्तावित करते हैं तो दूसरी ओर उसे वे प्राचीन यूनानी सभ्यता से लेकर अब तक चली आ रही एक मानसिकता के रूप में व्याख्यायित करते हैं। इस प्रकार वे प्राच्यवाद की तीन परिभाषाएं देते हैं। एक परिभाषा के अनुसार प्राच्यवाद अकादमिक ज्ञान का अंतःअनुशासनिक क्षेत्र है जो नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास आदि आधुनिक अनुशासनों में अंतर्व्याप्त है। दूसरी परिभाषा के अनुसार वह अनेक शताब्दियों से चली आ रही पूरब के बारे में एक पश्चिमी मानसिकता है जो पूरब और पश्चिम के आस्तित्विक और ज्ञानमीमांसीय विभेद पर आधारित है। इस परिभाषा में सईद एशाइलस से लेकर मार्क्स तक को समेट लेते हैं। तीसरी परिभाषा के अनुसार वे प्राच्यवाद का आरंभ 18वीं सदी के अंत से मानते हैं। एज़ाज अहमद चुटकी लेते हुए लिखते हैं, '...यह समझना मुश्किल है कि प्राच्यवादी विमर्श उत्तर-ज्ञानोदय युग में शुरू हुआ या कि योरोपीय सभ्यता के उदय के साथ, प्लासी की लड़ाई के युग में शुरू हुआ या ट्रॉय के युद्ध के समय।' अहमद के अनुसार फ़ूको का विमर्श सिद्धांत अपने

आप में चाहे जैसा हो किंतु वह सुपरिभाषित है और एक विमर्श और दूसरे विमर्श के बीच घालमेल नहीं करता। अहमद के अनुसार फ़ूको की पद्धति को स्वघोषित रूप से अपनाने वाले सईद तुलनात्मक साहित्य और भाषाशास्त्र की उच्च मानववादी परंपरा (हाई ह्यूमनिस्ट ट्रेडीशन) की पद्धति अपनाते दिखते हैं जो कि फ़ूको की मानववाद-विरोधी (एंटी ह्यूमनिस्ट) पद्धति के ठीक विपरीत है। सईद की आख्यान पद्धति और कृतियों का चुनाव, दोनों ही एक वैकल्पिक मानववादी परंपरा की धारणा से संचालित हैं। इस धारणा के अनुसार एक एकीकृत योरोपीय पश्चिमी अस्मिता, इतिहास के आरंभ से ही विद्यमान है जिसने अपने विचारों और कृतियों के माध्यम से इस इतिहास को आकार दिया है; प्राचीन ग्रीस से लेकर 20वीं सदी तक योरोपीय अस्मिता और विचारधारा का एकीकृत अखंड इतिहास कुछ ख़ास मूल्यों और आस्थाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होता है जो कि सारतः स्थायी हैं; यह इतिहास अपने मानक ग्रन्थों में अंतर्भूत है। सईद उच्च मानववादी परंपरा के इस ढांचे का प्रतिलोम खड़ा करने के प्रयास में इसी ढांचे की प्रक्रियाओं का अनुसरण करते दिखायी देते हैं। फ़ूको का विमर्श सिद्धांत कभी भी मानक ग्रंथों का आधार नहीं ग्रहण करता। फ़ूको का इतिहास-दर्शन इतिहास में निरंतरता नहीं, बल्कि विच्छिन्नताओं की खोज करता है। फ़ूको का विमर्श सिद्धांत एक विमर्श को दूसरे में लय नहीं करता। सईद मार्क्स के चिंतन को भी प्राच्यवादी विमर्श का हिस्सा बताते हैं जबकि फ़ूको उसे राजनीतिक अर्थशास्त्र के विमर्श का हिस्सा मानते हैं। सईद ने समूचे योरोपीय साहित्य को पूरब के अवमूल्यन के इतिहास का सहभागी बना दिया है- एशाइलस से लेकर एडवर्ड लेन तक। योरप के औपनिवेशिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व की आलोचना की एक सुविकसित पश्चिमी परंपरा को ज्ञानोदय का इतिहासवाद कहकर ख़ारिज करने वाले सईद पश्चिम या योरप की एक समरूप जड़ छवि बनाते हैं जो सारतः एक ऐसे अभियान, कल्पना और इच्छा की अभिव्यक्ति है जिसके ज़रिये पूरब का अवमूल्यन किया जाता है। सईद प्राच्यवादी विमर्श को परिभाषित करने में कई तरह की पद्धतियों का इस्तेमाल करते हैं। यदि उपनिवेशवाद के शताब्दियों पहले से यानी पश्चिमी सभ्यता के उदय के साथ ही प्राच्यवाद का आरंभ हो गया था तो यह मानना पड़ेगा कि प्राच्यवाद ने ही उपनिवेशवाद को पैदा किया। यदि ऐसा नहीं है तो फिर किसी साम्राज्यवादी प्रभुत्व की इच्छा के बग़ैर पश्चिम, आरंभ से ही पूरब का अवमूल्यन किस लिए करता चला आ रहा था? यहां सईद उत्तर--संरचनावादी धारणाओं का सहारा लेते दिखायी देते हैं जिसके अनुसार अस्मिता का निर्माण अन्यकरण के ज़रिये होता है अर्थात पश्चिमी अस्मिता पूरब के अन्यकरण पर आधारित है। इसे मान भी लिया जाये तो 'अन्यकरण' अनिवार्यतः 'अवमूल्यन' में क्यों बदल जाता है? सईद कहीं-कहीं मनोविश्लेषण की ज़ुबान भी बोलते दिखायी देते हैं जिसके अनुसार पश्चिम अहं की चिंता से ग्रस्त होकर अन्य(पूरब) का आक्रामक वस्तुकरण करता है। एक जगह सईद प्राच्यवाद को पैरानोइया क़रार देते हैं। एक पूरी सभ्यता को वे मनोरोग से ग्रस्त बता देते हैं। उनके विवेचन से ऐसा ज़ाहिर होता है मानो योरप, ग़ैर-योरप के बारे में सच्चा ज्ञान उत्पन्न करने में अस्तित्वमूलक अर्थों में अक्षम है। सईद इस बात का ज़िक्र भी नहीं करते कि उपनिवेशों के बुद्धिजीवी तबक़े ने प्राच्यवादी धारणाओं का किस प्रकार अभिग्रहण किया; उन्हें स्वीकार किया या बदला या चुनौती दी या पुनरुत्पादित किया। सामाजिक कर्ताओं के रूप में उन्होंने वर्ग, जाति, धर्म, क्षेत्र और लिंग की विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक अवस्थितियों और अंतर्विरोधों के तहत प्राच्यवाद के साथ कैसी अंतःक्रिया की, यह सईद के विश्लेषण में कहीं भी दिखलायी नहीं पड़ता। एजाज़ अहमद ने सईद के पद्धतिगत सारसंग्रहवाद को रेखांकित करते हुए प्राच्यवाद की उनकी धारणा को असमाधेय अंतर्विरोधों से ग्रस्त दिखलाया। एजाज़ साहब के इन चंद विमर्शों की यह बानगी उनके कृतित्व का वास्तविक महत्त्व स्पष्ट करने के लिए नाकाफ़ी है। एजाज़ अहमद के लिए मार्क्सवादी सिद्धांत और व्यवहार लगातार विकासमान है। सिद्धांत को नयी से नयी परिघटना और नये अंतर्विरोधों की व्याख्या में सक्षम होने के लिए अद्यतन बनाया जाना होगा। उन्होंने उपनिवेशवाद, पितृसत्ता, नस्लवाद और 'विकास' के कारण पारिस्थितिक विनाश की अधिक समग्र समझ और आलोचना का निर्माण करने के लिए मार्क्सवादी विधि का उपयोग किया।

अहमद हमारे समय के विलक्षण आवयविक बुद्धिजीवी रहे जिन्होंने जनांदोलनों और वाम राजनीति के साथ जीवन के अंतिम क्षण तक गहरा रिश्ता क़ायम रखा। उनकी कृतियां आनेवाली पीढ़ियों के लिए भी अमूल्य धरोहर हैं।

मो. 7838302388

साम्राज्य और साहित्य चिंतन के संबंधों पर विचार

वैभव सिंह

एजाज़ अहमद वामपंथी चिंतक और साहित्यालोचक के रूप में देश-विदेश के गंभीर प्रबुद्ध लोगों में व्यापक ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। वे भारत में जन्मे लेकिन विभाजन के समय उनका परिवार पाकिस्तान चला गया। अपने उत्कृष्ट बौद्धिक जीवन में उन्होंने भारत समेत कनाडा और अमेरिका के विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया। भारत में जेएनयू (नयी दिल्ली) में विज़िटिंग प्रोफ़ेसर रहे और जामिया मिलिया इस्लामिया में ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ान चेयर पर प्रोफ़ेसर के तौर पर शोध किया। तीन मूर्ति पुस्तकालय में विज़िटिंग फ़ेलो के तौर पर भी कार्यरत रहे। भारत, पाकिस्तान और यूरोप के समाजों के आंतरिक अनुभवों के आधार पर उन्होंने विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं, महाद्वीपीय अंतःसंबंधों और बौद्धिक वर्चस्वों के बारे में सघन विश्लेषण किये हैं। एक 'पब्लिक इंटलेक्चुअल' को कई बार पूर्वग्रहों से मुक्त होकर निर्मम और तटस्थ विश्लेषण करने पड़ते हैं। एजाज़ बड़ी ईमानदारी से, अक्सर ही अतिवाद की सीमा तक जाकर, या फिर साहित्यिक कृतियों के पूर्वनिर्धारित मनमाने अर्थ निकालने का आरोप लगने के ख़तरे उठाकर भी ईमानदारी से यह काम करते हैं। उनकी बौद्धिक बेचैनियां उनकी पुस्तकों में मुट्ठी तानकर हर पंक्ति, हर पृष्ठ और हर उद्धरण में चहलकदमी करती प्रतीत होती हैं। उन बेचैनियों में अपने पाठकों को भी संक्रमित कर देने का भरपूरा उत्साह और साहस है। वे भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के मध्य रहने की अपनी नियति को भी रेखांकित करते हैं और इसे अपनी ज्ञानमीमांसा के विकास के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी मानते हैं। उनके द्वारा लिखित पुस्तके हैं : *इन थियरी- क्लासेज़, नेशनंस, लिटरेचर, लिनिएजेज़ आफ़ द प्रेज़ेंट, इराक़ अफ़ग़ानिस्तान एंड इंपीरियलिज़्म आफ़ अवर टाइम, इन अवर टाइम- एंपायर, पॉलिटिक्स एंड कल्चर, आन कम्युनलिज़्म एंड ग्लोबलाइज़ेशन* आदि। पाठक सहज ही देख सकता है उनकी पुस्तकों के शीर्षक में 'प्रेज़ेंट' और 'इन अवर टाइम' जैसे शब्दों का भरपूर प्रयोग होता है और यह इसका संकेत है कि एजाज़ अहमद अतीत की परिघटनाओं के जटिल सिद्धांतकार नहीं, बल्कि वर्तमान में विश्व में चल रही ऐतिहासिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं और कला-साहित्य पर पड़ने वाले उनके प्रभावों के आलोचक हैं। उनकी स्थापनाएं दिलचस्प ढंग से विवादास्पद भी हैं और उन्हें अकादमिक मान्यताओं को लेकर विवाद से कोई परहेज़ भी नहीं है। उन्होंने रचना और समाज के संबंधों के आधार पर साहित्यिक सैद्धांतिकी को निर्मित करने का प्रयास नहीं किया है। इसके स्थान पर सैद्धांतिकियों के निर्माण और उत्पादन के पीछे सक्रिय परिस्थितियों, ख़ासतौर पर यूरोप-अमेरिकी की सामाजिक स्थितियों व उनसे जन्म लेते अकादमिक दृष्टिकोणों को अपनी विवेचन सामग्री के रूप में उपयोग किया है।

उनकी विभिन्न पुस्तकों में *इन थियरी* (1992) को साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में विशेष रूप से महत्त्व प्राप्त हुआ। इसमें एजाज़ अहमद ने उपनिवेशवाद, बुर्जुआ संस्कृति के विकास, तीसरी दुनिया की अवधारणा, प्रव्रजन और समाजवाद के विशेष संदर्भों में साहित्यिक सिद्धांतों के विकास का विश्लेषण किया है। वर्तमान में तीसरी दुनिया जैसी कोई श्रेणी नहीं रह गयी है क्योंकि जब समाजवादी देशों की दूसरी दुनिया ही विलुप्त हो गयी तो तीसरी दुनिया कहां बचेगी। उनकी स्मृतियों में उपनिवेशवाद के अनुभव भले हों पर वे उपनिवेशवादी देशों के साथ किन्हीं व्यवहारिक सच्चाइयों के कारण या नये ज़माने की दशाओं के कारण एकजुट होने के लिए प्रयासरत है। भूमंडलीकरण की प्रायोजित आंधी ने इन विभाजनों को उखाड़ दिया है। तीसरी दुनिया के देश भी उभरती अर्थव्यवस्था वाले देश, विकासशील देश या बाज़ार अर्थव्यवस्था प्रधान देश के तौर पर पहचाने जाने लगे हैं। लेकिन साहित्य-सिद्धांतों के निर्माण में थर्ड वर्ल्ड को ध्यान में रखा गया और इसका व्यापक प्रभाव भी रहा। एजाज़ अहमद ने भी तीसरी दुनिया

कहलाने वाले एशियाई, अफ्रीकी और लैटिन अमेरिकी मुल्कों के साहित्य के बारे में पश्चिम में तैयार होने वाली अवधारणाओं, सिद्धांतों और व्याख्या के दृष्टिकोण के बारे में ख़ास विमर्शात्मक मुठभेड़ें की हैं। एक ओर भारत जैसे देश हैं जहां हिंदी व अन्य भाषाओं के साहित्य की व्यापक उपस्थिति के बावजूद अंग्रेज़ी साहित्य को 'नेशनल' और अन्य भाषा के साहित्य को क्षेत्रीय की तरह प्रस्तुत किया जाता है तो दूसरी ओर लैटिन व अफ्रीकी मुल्कों के साहित्य को 'थर्ड वर्ल्ड लिटरेचर' में रखने की उदारता के नाम पर उन्हें एक इस प्रकार से व्याख्यायित किया जाता है जो साहित्य में उत्तर आधुनिक औपनिवेशिक संस्कृति वाले यूरोप व अमेरिका के बौद्धिक प्रभावों को बढ़ाने का काम करते हैं। विश्लेषण के क्रम में उन्होंने 'थर्ड वर्ल्ड लिटरेचर' की धारणा का तार-तार कर देने वाला विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसमें उनकी मुख्य मान्यता यह है कि पश्चिम में तीसरी दुनिया की रचनाशीलता की स्वीकृति का संबंध प्रवास और प्रव्रजन (immigration) की स्थितियों के साथ जुड़ा हुआ है। बीसवीं सदी में पश्चिम में, ख़ासकर 60 के दशक के बाद पश्चिम में भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक-जातीय समुदाय के लोग एकत्र होते रहे हैं जिनका चरित्र उन लोगों से अलग था जो अमेरिका में केवल ग़ुलामी के लिए लाये जाते थे। नये क़िस्म के प्रव्रजन में सत्ता व मध्यवर्गीय नौकरियों में हिस्सा मांगने वाले लोग भी थे और इस प्रक्रिया ने 'थर्ल्ड वर्ल्ड लिटरेचर' की धारणा को स्थापित किया। इसी प्रकार दूसरे महायुद्ध के बाद अमेरिका में अश्वेतों के आंदोलन में तेज़ी आयी जिसने अश्वेत साहित्य यानी ब्लैक लिटरेचर को जन्म दिया। इसी अश्वेत साहित्य के मूलभूत चरित्र और इसी के आधार पर 'थर्ल्ड वर्ल्ड लिटरेचर' की वैश्विक साहित्य-अवधारणा को निर्मित करने में मदद मिली। एजाज़ अहमद का यह भी मानना है कि अमेरिकी विश्वविद्यालयों की बहुअनुशासिकता, उदारता और लोकतंत्र की आत्मछवि रही है और इस आत्मछवि का उपयोग कर, उसपर दबाव डालकर तीसरी दुनिया के साहित्य की अवधारणा को विश्वविद्यालयों में प्रवेश दिलाया गया। इस प्रकार प्रव्रजन की प्रक्रिया और अमेरिका में अश्वेत साहित्य के उदय ने तीसरी दुनिया की रचनाशीलता को एक भिन्न वर्ग में रखकर देखने की पृष्ठभूमि मुहैया करायी। लेकिन ख़ुद अमेरिका में अश्वेत बुद्धिजीवी स्पेनी, पुर्तगाली, फ्रेंच या अंग्रेज़ी में रचित तीसरी दुनिया के साहित्य के प्रति सशंकित ही रहे। उन्हें निरंतर यह अनुभव होता रहा कि तीसरी दुनिया का साहित्य नस्लीय उत्पीड़न के सीधे अनुभव के परिणामस्वरूप नहीं पैदा हुआ है बल्कि उसके मूल में प्रव्रजन यानी इमीग्रेशन की स्थितियां हैं। अश्वेत साहित्य व तीसरी दुनिया साहित्य के बीच लंबे समय तक दूरी भी बनी रही क्योंकि अमेरिकी अश्वेत बुद्धिजीवी मानते थे कि तीसरी दुनिया का लेखक या साहित्यकार अश्वेतों के साथ एकजुटता करने के स्थान पर श्वेत अमेरिकियों के साथ प्रतिस्पर्धा करता है। अपनी ग़ैर-यूरोपीय पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए भी अवसर मिलने पर वह श्वेत वर्गों में शामिल होने का प्रयास करता है, न कि नस्लीय दमन के शिकार एफ्रो -अमेरिकी समुदाय में। श्वेत बौद्धिकों ने भी प्रायः, अपवादों को छोड़ दें तो, अश्वेतों के साहित्य पर विशेष ध्यान देने के स्थान पर उन्होंने तीसरी दुनिया के साहित्य पर अधिक ध्यान केंद्रित किया है क्योंकि इससे उन्हें भी आंतरिक समस्या से ध्यान हटाकर वैश्विक विविधता व औपनिवेशिक इतिहास को समझने में मदद मिलती थी। ख़ुद विकसित देशों में तीसरी दुनिया के साहित्य-लेखन को भी वर्चस्वशाली, मानदंड बनाने वाली (canonic) परंपरा के सांचे में ढालने की कोशिश की जाती रही है, उसी पद्धति से उसे सूत्रबद्ध किया गया, भले ही साहित्य के कुछ उन घोषित लक्ष्यों तथा महत्त्वाकांक्षाओं को भी स्वीकार कर लिया गया जो एफ्रो-अमेरिकन साहित्य का अंग रही हैं। इस साहित्यिक श्रेणी में आरंभ में यानी '60 के दशक में तीसरी दुनिया के प्राचीन साहित्य या उस दौर के साहित्य को भी सम्मिलित किया जाता रहा जब देश उपनिवेशवाद से मुक्त था। लेकिन बाद में आधुनिक साहित्य को ही इसका मुख्य अंग मान लिया गया। ऐसा इसलिए भी करना पड़ा क्योंकि पश्चिम में बस गये तीसरी दुनिया के लोगों द्वारा लिखे जा रहे साहित्य के मूल्यांकन और तीसरी दुनिया के ही प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में दूरी आने का ख़तरा बढ़ता जा रहा था। इसलिए पश्चिम में बसे तीसरी दुनिया के लेखकों की समकालीन रचनाओं की आलोचना तथा विश्लेषण को ज़्यादा महत्त्व प्राप्त होने लगा। एजाज़ अहमद ने यह भी माना है कि थर्ल्ड वर्ल्ड लिटरेचर तब अस्तित्व में आया जब ख़ुद अमेरिका में बौद्धिकों पर वाम का प्रभाव कम होने लगा था। रेडिकल क़िस्म के सिद्धांतों की लोकप्रियता घटने लगी थी। ऐसे ही ऐतिहासिक दौर में अस्मिता-विमर्श का एक नया दौर उभर रहा था जिसके कलोनियल डिस्कोर्स एनालिसिस (colonial discourse analysis) के नाम से पुकारा गया और इसकी गहरी संबद्धता तीसरी दुनिया की साहित्यिक

अवधारणा से थी।

पर तीसरी दुनिया के साहित्य को बंधक बनाने, नियमित करने और उसकी सुविधाजनक परिभाषाएं गढ़ने का काम भी तेज़ी से हो रहा था। जिस प्रकार तीसरी दुनिया की नियति को साम्राज्यवाद से अलग करके देखना असंभव माना जाता था उसी प्रकार से उसके साहित्य को भी साम्राज्यवाद के प्रभाव या फिर उसके प्रतिरोध के रूप में देखने की वकालत होना स्वाभाविक था। तीसरी दुनिया के औपनिवेशिक अतीत का हवाला देकर उसके साहित्य को उपनिवेशवाद से अनिवार्य रूप से नत्थी कर दिया गया और उसके बहुत सारे आंतरिक तनावों को पाठ-व्याख्या से लेकर पाठ्यक्रम बनाने तक हाशिये पर डाला जाने लगा। लेमिंग, चिनुआ अचेबे, मार्खेज़ और सलमान रुश्दी आदि के लेखन को भी तीसरी दुनिया के राष्ट्रीय संकट, राष्ट्रवाद या राष्ट्र के प्रतिनिधित्व के तौर पर प्रस्तुत करना बड़ी स्वाभाविक सी बात मान ली गयी। समानांतर रूप से पश्चिमी विश्वविद्यालयों में 'कल्चर थियरी' का ज़ोर तेज़ी से बढ़ रहा था और इसने भी तीसरी दुनिया के देशों की संरचना को राष्ट्र व राष्ट्रवाद से असंबद्ध करके देखना पूरी तरह से मुश्किल बना दिया। इसके असर से साहित्य-सिद्धांत मुक्त रहते तो दुनिया का आठवां आश्चर्य नहीं होता! ऐसे में ही एजाज़ अहमद का मत था कि इस कारण से समाज में जेंडर, वर्ग, क्षेत्र या जाति के आधार पर जारी शोषण या अत्याचार की पूरी तस्वीर ख़ुद साहित्य में नहीं प्रकट हो पाती थी। एक अनोखा आयाम यह भी था कि राजनीतिक अर्थव्यवस्था की तुलना में साहित्य, दर्शन और रेडिकल नृतत्वशास्त्र को ज़्यादा अहमियत प्राप्त होने लगी।

विकसित देशों में तीसरी दुनिया के बुद्धिजीवियों की मौजूदगी जैसे-जैसे बढ़ी है या प्रकाशन जगत में उनकी किताबों की मांग बढ़ी तो उसने भी साहित्य के मूल्यांकन में औपनिवेशिकता को एक अनिवार्य संदर्भ की तरह इस्तेमाल करने के लिए विशेष रूप से प्रेरित किया। उनके बारे में एजाज़ अहमद लिखते हैं, 'वे अब सरलता से उन अन्य लोगों के प्रतिनिधि बन सकते थे जिन्हें उपनिवेशवाद का सामना करना पड़ा। वे उत्तर औपनिवेशिक अन्य (Post-Colonial Other) लोगों में भी गिने जा सकते थे। इस प्रकार से पूरब का फिर से जन्म हुआ और उसे तीसरी दुनिया यानी थर्ड वर्ल्ड के रूप में विकसित किया गया। उसे जानना व व्याख्यायित करना कैरियर की तरह हो गया और इस बार यह काम ख़ुद पूर्वी देशों से आये लोग कर रहे थे जो पश्चिमी परिवेश में ख़ुद को स्थापित कर चुके थे।'

एजाज़ अहमद ने फ्रेडरिक जेमसन, सलमान रुश्दी और एडवर्ड सईद की जो आलोचनाएं प्रस्तुत की हैं, वे ख़ासतौर पर ध्यान देने योग्य हैं। तीसरी दुनिया के देशों में जो भी नये सिद्धांत 60 के दशक के बाद पश्चिम में गढ़े जा रहे थे, वे स्वयं किस प्रकार से तीसरी दुनिया के साहित्य की अधूरी लेकिन एकरूपता की समस्या से ग्रस्त समझ को बढ़ावा दे रहे थे, इसको एजाज़ अहमद ने बहुत ही बारीक विवेचन के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है। जेमसन का प्रसिद्ध निबंध है- *'थर्ड वर्ल्ड लिटरेचर इन द एरा आफ़ मल्टीनेशनल कैपिटल'* जिसमें उन्होंने अपनी यह प्रसिद्ध मान्यता प्रस्तुत की है कि तीसरी दुनिया का समस्त साहित्य अनिवार्य रूप से राष्ट्रीय रूपक (national allegory) होता है। उपरोक्त बातें इस संदर्भ में याद रखनी चाहिए जिसका संबंध तीसरी दुनिया के साहित्य की पश्चिम में एक अलग श्रेणी बन जाने से है। एजाज़ अहमद ने तीसरी दुनिया के लेखन को केवल राष्ट्रीय रूपक की तरह पढ़े, समझे या विखंडित किये जाने की चेष्टाओं के मूल वैश्विक कारणों की सघन पड़ताल की है। एजाज़ अहमद भारत में जन्में और उर्दू भाषा में भी लिखा जिसे अमेरिकी बुद्धिजीवी प्रायः समझते नहीं हैं। इसीलिए उन्हें गहरा आश्चर्य भी हुआ कि भारत या अन्य देशों की कई भाषाओं को जब पश्चिमी बुद्धिजीवी समझते नहीं हैं तब वे उन भाषाओं के साहित्य के बारे में ऐसे सामान्यीकृत सिद्धांतों का किस प्रकार से निर्माण कर सकते हैं? चूंकि पश्चिम में बैठे इन धुरंधर विद्वानों को अपनी भाषा संबंधी सीमाओं का ज्ञान होता है, इसीलिए वे इस झंझट में ही नहीं पड़ते कि हिंदी, बंग्ला, गुजराती, उर्दू या चीनी भाषा के साहित्य को मूल रूप से पढ़ें या उनका अनुवाद कराने का श्रम करने के बाद किसी नतीजे पर पहुंचें। वे आसान रास्ता अपनाते हैं। आसान भी नहीं बल्कि छोटा रास्ता जो उन्हें उसी तीसरी दुनिया से ही दूर ले जाता है जिसके साहित्य को वे लोकतांत्रिक स्वीकृति प्रदान करने की उदारता का परिचय देना चाहते थे। वे तीसरी दुनिया के लेखन को समझने के लिए तीसरी दुनिया के अंग्रेज़ी भाषी लेखकों को अत्यधिक बढ़ावा देते हैं। अंग्रेज़ी के लेखन के ही तीसरी दुनिया के समाजों का प्रतिनिधि करने वाला लेखन मान लेते हैं। अंग्रेज़ी के अलावा पुर्तगाली, स्पेनी आदि भाषाएं में लिखे साहित्य पर भी नज़र डाल लेते हैं जिनका संबंध यूरोप से रहा है। पर यह तरीक़ा कितना हास्यास्पद हो

सकता है इसका उदाहरण भी एजाज़ देते हैं। उन्होंने सलमान रुश्दी की किताब 'मिडनाइट चिल्ड्रन' की न्यूयार्क टाइम्स में छपी समीक्षा का उल्लेख किया है। जब यह उपन्यास छपा था तब अमेरिका के इस बड़े अख़बार ने बड़ी भद्दी और बेवकूफ़ी भरी टिप्पणी की थी। अख़बार की ओर से कहा गया कि 'आख़िर एशिया को अपने बारे में लिखने वाला रचनाकार मिल गया।' यह किसी को भी सिर पीटने के लिए विवश कर सकता था। अभी तक एशिया बेआवाज़ था और पूंजीवाद की ऐश्वर्य से भरी दुनिया में कोई उसका प्रतिनिधि बनने योग्य तक न था। जब हम जागे तभी सुबह भी होगी। यह बात आश्चर्य में डालती है कि अंग्रेज़ी लेखन को ही महाद्वीप का प्रतिनिधित्व करने वाला लेखन माना जा सकता था और ऊपर से तीसरी दुनिया के साहित्य को स्वीकारने व उसे स्थापित करने का अहसान अलग से। इस बात को छोड़कर वापस जेमसन की ओर लौटते हैं। जेमसन का मानना था कि तीसरी दुनिया के देश उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के अपने अनुभव के आधार पर विशिष्ट श्रेणी का निर्माण करते हैं। उनके यहां उपनिवेशवाद का विरोध करते हुए राष्ट्रवाद का विकास होता है और इसीलिए उनके समस्त साहित्य का राष्ट्रीय रूपक के तौर पर पढ़ा तथा समझा जाना चाहिए। एजाज़ अहमद ने दुनिया को पहले, दूसरे या तीसरे ख़ाने में रखने के विभाजन पर भी प्रश्न किया। पहली दुनिया यानी पूंजीवादी देशों और दूसरी दुनिया यानी समाजवादी देशों की उत्पादन व्यवस्था के आधार पर उनका विभाजन किया गया। पर तीसरी दुनिया के देशों की श्रेणी तैयार करते समय उनकी भौतिक दशा, उत्पादन संबंधों की ऐतिहासिक अवस्था आदि को भुला दिया गया। तीसरी दुनिया की श्रेणी बनी उपनिवेशवाद के उनके अनुभव के आधार पर। एजाज़ मानते हैं कि वर्तमान में भारत जैसे तीसरी दुनिया के मुल्कों में पूंजीवाद का गहरा असर है और वे अपने औपनिवेशिक अतीत से काफ़ी दूर चले आये हैं। वहां बहुत बड़ी मात्रा में समाजवादी साहित्य भी रचा गया है जिसमें वर्ग विषमता और समानता के मुद्दों को ध्वनित किया गया है। इसलिए भारत जैसे देशों की औपन्यासिकता या अन्य साहित्य को केवल राष्ट्रीय रूपक के तौर पर प्रस्तुत करना बौद्धिक नादानी के सिवाय और कुछ नहीं है। जेमसन जैसे बौद्धिक तीसरी दुनिया के साहित्य को मात्र राष्ट्रीयता से जोड़ने की वकालत करते हैं या फिर मानते हैं कि अब साहित्य को केवल राष्ट्रीय रूपक के तौर पर देखना ही अंतिम विकल्प है। लेकिन बाद में चोर दरवाजे से या चुपचाप यह भी मांग कर बैठते हैं कि तीसरी दुनिया उपनिवेशवाद के अनुभव के बाद कोई अन्य रास्ता न पकड़े बल्कि अमेरिका की उत्तर आधुनिकता की संस्कृति को अपना ले। किसी अन्य तरह का विकल्प जैसे कि समाजवाद या समाजवादी सिद्धांत से जुड़ने के विकल्प को समाप्त घोषित कर दिया जाता है। लेकिन साहित्य को राष्ट्रीय रूपक की तरह मानने के बावजूद इस पर भी कम ध्यान दिया गया कि एशिया से लेकर अफ्रीका तक विभिन्न देशों में अलग-अलग राष्ट्रवाद रहे हैं। ईरान का राष्ट्रवाद रहा है जो मुस्लिम फ़डामेंटलिज़्म में समा गया। इसलिए हम साहित्य को राष्ट्रीय रूपक की अवधारणा से ही समझने लग जायेंगे तो अनिवार्य तौर पर तीसरी दुनिया के साहित्य के प्रगतिशील चरित्र को समेटने में नाकामयाब होते चले जायेंगे। तीसरी दुनिया के लेखन के बारे में राष्ट्रीय रूपक की सैद्धांतिकी एक ही काट या एक ही आकार के कपड़े हर तरह के लोगों को पहनाने की ज़िद है। यह इससे पता चलता है कि तीसरी दुनिया में पूंजीवाद के प्रभाव से जो मध्यवर्ग उत्पन्न हुआ और जिसने पूंजीवाद की आधुनिकता को स्वीकार कर साहित्य रचा है, उसका मूल्यांकन कैसे होगा। कई लोग सिद्धांत सामने रखकर कृति से मनमाने अर्थ निकाल लेते हैं और रूपक का क्या है, उसे तो कहीं भी थोपा जा सकता है। किसी स्त्री चरित्र को स्त्री की तरह देखने के स्थान पर उसे राष्ट्र, प्रकृति, संघर्ष आदि न जाने किन-किन चीज़ों का प्रतीक बनाकर राष्ट्रीय रूपक आरोपित हो सकता है। सिर पर टोपी नहीं आ रही तो सिर को ही काटकर छोटा करने की सनक से भरा प्रयास। पर इससे बातें बनती नहीं हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पूंजीवाद की आधुनिकता ने निजी और सार्वजनिक के भेद को गहरा किया है। उसने साहित्य में निजी दुःख, असंतोष, क्षोभ और व्यथा को निजी शैली में ही अभिव्यक्त करने पर बल दिया है जिससे व्यथा को व्यक्त करने वाला विशिष्ट व्यक्तित्व को भी प्रकट करता है। एजाज़ ही यह कहते हैं कि पुराने सामंती समाजों या पिछले पूंजीवादी दौर में भी निजी दुःख व्यक्त होता था पर वह सार्वजनिक शैली या सार्वजनिक मुहावरों में प्रकट होता था। इसीलिए एक पीढ़ी जिस ढंग से अपनी निजी भावनाओं को जताती थी, बाद की पीढ़ियां भी उसी को दोहराती थीं और व्यथा की अभिव्यक्ति में किसी प्रकार की मौलिकता के लक्षण नहीं दर्ज होते थे। उपनिवेशवाद के प्रभाव से तीसरी दुनिया में मध्यवर्ग, आधुनिकता व शहरी समाज के उदय की जो ऐतिहासिक

प्रक्रिया रही है, उसने साहित्य को भी ऐसे आधुनिकता बोध से जोड़ा जिसमें आत्म के विघटन और निजी विडंबना बोध पर आधारित साहित्य की रचना हुई है। अगर जेमसन के राष्ट्रीय रूपक के सिद्धांत को हम यांत्रिक रूप से तीसरी दुनिया के लेखन पर थोपेंगे तो भी इस आधुनिकता बोध से उत्पन्न साहित्य की उपस्थिति पर पहले तो हम आश्चर्य व्यक्त करेंगे और फिर उसे हाशिये पर डाल देंगे। एजाज़ लिखते हैः 'इस प्रकार के विभाजन (निजी व सार्वजनिक का) कुछ लेखकों के लेखन को निजता व यौन कामनाओं की फ़ैंटेसी की ओर धकेलते हैं। ठोस अनुभवों का विलोपन, आत्म का अलगाव, अस्तित्व की उलझनें, सामूहिकता से वास्तविक जीवंत संबंध ख़त्म होने के यथार्थ को व्यक्त करती हैं। कई साहित्यिक रचनाओं में वैयक्तिक त्रास व्यक्त होता है और ऐसा साहित्य राष्ट्रीय रूपक वाले सिद्धांत से व्याख्यायित नहीं होता है जिसकी मांग जेमसन तीसरी दुनिया के साहित्य से करते हैं।' उन्होंने उर्दू साहित्य के हवाले से भी यह बताया है कि 19वीं सदी का उर्दू साहित्य पारिवारिक कलह, इश्क में धोखे आदि के विषय को व्यक्त किया जाता रहा। इसके बाद 1935-47 के 12 साल के समय में एक भी उर्दू उपन्यास नहीं लिखा गया जो राष्ट्रीय रूपक के रूप में विश्लेषित किया जा सके।

एजाज़ अहमद अपनी आलोचना में एक और बिंदु यह भी उठाते हैं कि तीसरी दुनिया के ही देशों में, जो एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में फैले हैं, ऐसी सांस्कृतिक या परिस्थितिगत समानताएं नहीं हैं जिनके आधार पर उनके साहित्य के बारे में सामान्य सिद्धांत का हम निर्माण कर सकें। पहली दुनिया के देशों में कई देशों का साझा इतिहास है जैसे जर्मन व फ्रांस। या फिर ब्रिटेन और अमेरिका। पर तीसरी दुनिया के भारत और पेरु जैसे देशों का कोई साझा इतिहास नहीं है और न ही औपनिवेशिकता संबंधी उनके अनुभवों में कोई ख़ास समानता है। इसलिए मैक्स वेबर के नक़्शेक़दम पर चलकर 'आदर्श प्रारूप' तैयार करना अंततः तीसरी दुनिया की सच्चाई और उसके साहित्य की जटिलताओं को अनदेखा करने का प्रयास हो जाता है। यह एक तरह की बौद्धिक-अकादमिक चतुराई का भी परिचय होता है जिसमें तीसरी दुनिया के रचनाकार पर यह दबाव डाला जाता है कि अगर तुम्हें अपने लेखन को स्वीकृति दिलानी है तो इस प्रकार लिखो कि तुम्हारा लेखन राष्ट्रीय रूपक की कसौटियों पर खरा उतर सके। परिणामतः लेखन अपने समाज की वाचिकता तथा लिंग-वर्ग के संघर्ष आदि से कट जाता है। जेमसन का यह भी मानना है कि तीसरी दुनिया का लेखन 'नान कैनोनिकल' है यानी वह अमेरिकी साहित्य-अध्ययन की मुख्यधारा में ठीक से अपनी जगह नहीं बना सका है। उन्हें लगता था कि तीसरी दुनिया के लेखक अभी उसी प्रकार से उन विधाओं में लिख रहे हैं जिसे कभी पश्चिम ने विकसित किया था पर जिसे अब उसी ने त्याग दिया है। इसके जवाब में एजाज़ ने नेरुदा, आक्टोवियो पाज़, बर्गसां, मार्खेज़, अचेबे और सलमान रुश्दी के नामों की सूची प्रस्तुत की है जो अब अंग्रेज़ी समाचार पत्रों से लेकर पश्चिमी विश्वविद्यालयों में सम्मानजनक उपस्थिति रखते हैं। इसलिए एजाज़ के शब्दों में- यह कहना कि तीसरी दुनिया के लेखकों को 'कैनन' स्वीकार नहीं करता है, यह बुर्जुआ सांस्कृतिक कर्मों की ग़लत व्याख्या करना है। जेमसन की तीसरी दुनिया के साहित्य के बारे में राष्ट्रीय रूपक की सैद्धांतिकी समूची तीसरी दुनिया के लेखन को अन्य या अन्यपन (otherness) के ख़ाते में डालती है। इसी पर एजाज़ अहमद लिखते हैं, 'संसार में जिस प्रकार से हर देश में, हर स्थान पर पूंजी और श्रम के मध्य जो प्रधान संघर्ष चल रहा है उसमें ऐसा बहुत सारा साहित्य रचा जा रहा है जो केवल पहली, दूसरी या तीसरी दुनिया की सीमाओं को ध्यान में रखकर नहीं समझा जा सकता है। जेमसन का लेखन केवल पहली दुनिया का लेखन नहीं है और न मेरा केवल तीसरी दुनिया का। हम एक-दूसरे के सभ्यतागत अन्य (civilizational others) नहीं हो सकते हैं।'

एजाज़ ने फ्रेडरिक जेमसन की सैद्धांतिकी को 60 के दशक के बाद की ऐतिहासिक-राजनीतिक स्थितियों की उपज बताया है जब उत्तर आधुनिकता के लक्षणों का आगमन होने लगा था और भिन्नता, स्थानीयता व सांस्कृतिक सापेक्षिकता को पहली दुनिया के सिद्धांतकार बढ़ावा दे रहे थे ताकि तीसरी दुनिया के साहित्य को समाजवादी खेमे में जाने से रोका जा सके और तीसरी दुनिया में पैदा हो रहे पूंजीवादी आर्थिक संबंधों, वर्ग विषमता आदि को साहित्य में तलाशने की प्रवृत्ति को रोका जा सके। पश्चिम में ऐसे लेखकों को विशेष रूप से स्वीकृत किया जाने लगा था जो तीसरी दुनिया के बारे में लेखन करते समय उसकी राष्ट्रीय परिघटनाओं, उपनिवेशवाद के प्रभाव, अधिनायकवादी सत्ता के उदय आदि के बारे में चित्रण करें पर उसके भीतर के वास्तविक सामाजिक असंतुलन व

ग़ैरबराबरी के यथार्थ को सामने न लायें। इसीलिए वे लिखते हैं, 'अब यह पूर्णतया स्पष्ट हो चुका है कि पश्चिमी महानगरों में उपस्थित आलोचक वर्ग के लेखन में उत्तर आधुनिकता व तीसरी दुनिया के लेखन की स्वीकृति के मध्य गहरा संबंध स्थापित हो चुका है। इसी वैचारिक दृष्टिकोण से एजाज़ ने सलमान रुश्दी के उपन्यास 'शेम' की भी ध्वंसात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है। 'शेम' उपन्यास पाकिस्तान के समाज के बारे में लिखा गया था जिसके बारे में ख़ुद रुश्दी का मानना था कि वे पाकिस्तान को बहुत टुकड़ों में पहचानते हैं और कभी 6 महीने से अधिक लगातार वहां पर रहे भी नहीं है। इस उपन्यास के लेखन को उन्होंने पूरब से अपनी मुक्ति के दस्तावेज़ के रूप में दर्ज कराने की इच्छा भी व्यक्त की है। रुश्दी के वक्तव्यों से प्रतीत होता है कि उनकी लेखकीय चेतना पश्चिमी आधुनिकता से प्रभावित रही है जिसमें आत्मनिर्वासन (Self-Exile) को लेखकीय चुनाव के रूप में काफ़ी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता रहा है। यह वास्तविक निर्वासन से भिन्न एक तरह की यायावरी होती है जिसमें लेखक अपने लेखन के साजोसामान को उस देश को ध्यान में रखकर नहीं जुटाता है जहां से वह आया है बल्कि उस देश के पाठकों को ध्यान में रखता है जहां वह स्वेच्छा से रह रहा है। पर जो भी हो, आत्मनिर्वासन से जुड़े 'अनबिलांगिंग' के अनुभव व आधुनिकता के प्रभाव से लेखक अपने लिए दोहरी परिस्थितियां तैयार करता था जिसमें एक ओर वह आत्मनिर्वासन को आधुनिकता के सबसे प्रामाणिक रूपक के रूप में चुन लेता था और दूसरी ओर वह अपने ही उसे देश और परिवेश के बारे में रचना करता था जिसे वह घुटन से भरा मानने के कारण छोड़ देता था। लेकिन जब पश्चिमी आधुनिक जगत के बीच वे पूरब के बारे में रचते हैं तो पूरब को एकरूपता के साथ प्रस्तुत करते हैं जो पूरब के बारे में यानी एशियाई देशों के बारे में पश्चिम की पारंपरिक कल्पना को ही मज़बूत करता है। पाकिस्तानी समाज के आंतरिक अंतर्विरोधों, प्यार, जीवंतता या नायकोचित संघर्षों को दिखाने के स्थान पर उस समाज को तानाशाहों से भरा बंद, घुटन से भरे समाज के रूप में दिखाते हैं जहां स्त्रियां या तो कामुक व हिंसक हैं अथवा केवल उत्पीड़ित हैं। एजाज़ ने रुश्दी के उपन्यास में व्यक्त चरित्र चित्रण ख़ासकर महिलाओं के चित्रण की समीक्षा करते हुए दिखाया है कि किस प्रकार रुश्दी कामुक-हिंसक स्त्रियों को चरित्र के रूप में पेश करते हैं और वे चरित्र इस साम्राज्यवादी मान्यता या स्त्रीद्वेषी मनोदशा के अनुकूल है कि आज़ादी की आकांक्षा जताने वाले लोग कितन असंतुलित एवं पागल है। औरतें यहां दुष्ट चुड़ैलों की तरह हैं जिन्हें स्वतंत्रता मिली तो वे पुरुषों को निगल जायेंगी। पाकिस्तानी समाज का यह चित्रण रुश्दी की अपनी स्थितियों की देन है जिसमें वे स्वयं जड़ों से कटे, निराधार हैं तो दूसरी ओर वे अपने उपन्यास को राष्ट्रीय रूपक की तरह प्रस्तुत करने की चिंता में पाकिस्तान के वास्तविक प्रश्नों व संघर्षों से मुंह फेर लेते हैं। एजाज़ के अनुसार, 'इस किताब में वे बार-बार देश का चित्रण करने की बात कहते हैं पर वे केवल क्रूर और संकीर्ण घुटन से भरे शासक वर्ग का ही चित्रण करते रहते हैं। शासक के चित्रण को ही देश के चित्रण का पर्याय मानना स्वयं में बहुत बड़ी भूल है।'

पिछले कुछ दशकों में बदलती पूंजीवादी संस्कृति के अनुरूप ऐसे लेखकों व विचारकों के वर्ग का भी उदय हुआ है जो किसी भी संस्कृति से 'बिलांगिंग' या जुड़ाव को भी मिथ अथवा मिथ्या चेतना मानने लगे हैं। 19वीं सदी के यथार्थवाद के बाद जिस आधुनिकतावाद का आगमन हुआ उसमें सांस्कृतिक अलगाव को किसी विडंबना या दुर्भाग्य की तरह प्रस्तुत किया जाता था। विच्छिन्न आत्मबोध को ही आधुनिक आत्मबोध माना जाता था। कल्पनाओं में अतिरेक, अभाव, एकता, टूटन आदि परस्पर विरोधी भाव बड़े तनावपूर्ण संतुलन में रहते थे। पर अब उसे किसी उत्सव या उपलब्धि के रूप में देखने का चलन है। दुनिया में भटकना, जड़विहीन रहना, अलगाव या विच्छिन्नता का महिमामंडन किया जाता है और 'अनबिलांगिंग' को दुःखपूर्ण तथा कष्टमय मानने को पुरानी सोच बताया जाता है। बहुलता भरे परिवेश या भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक धारणाओं के मध्य अपनी उपस्थिति का आनंद लेने को एजाज़ ने सुपरमार्केट की संस्कृति का हिस्सा बताया है जिसमें एक ही छत के नीचे अलग-अलग देशों के ढेरों उत्पाद मिल जाते हैं। भारत के कपड़ों से लेकर इटालियन नानवेज, अमेरिकी चिप्स और फ्रांस की घड़ी आदि हमारे सामने प्रदर्शित कर दिये जाते हैं। इसे ही एजाज़ अहमद ने 'सुपरमार्केट आफ़ कल्चर' कहा है। वहां हर वस्तु अपने उत्पादन के स्थल से कट गयी है और स्वयं में बड़ी संपूर्ण तथा बिना के रोक-रुकावट के उपभोग योग्य प्रतीत होती है। माल में रखी चीज़ों में लगने वाला श्रम, कच्चा माल, फ़ैक्ट्री की स्थितियां आदि सारे प्रश्न विचार करने के योग्य नहीं रह जाते हैं। केवल उस वस्तु की खपत या जीवनशैली की समृद्धि में उसकी उपयोगिता महत्त्वपूर्ण रह जाती है।

आधुनिक पूंजी के युग में अभिजन कलाकार भी किसी भी प्रकार की संस्कृति को अपनी कला सामग्री के लिए चुन सकता है। एजाज़ के शब्दों में, 'इस आधुनिक पूंजी के युग में अभिजन कलाकार यह अनुभव करता है कि वह भी विश्व के विभिन्न हिस्सों से सांस्कृतिक चीज़ों को (जैसे कि भारतीय दर्शन, अफ्रीकन मास्क या कंबोडियाई वास्तुकला) चुन सकता है।' इस उपभोक्ता संस्कृति ने तीसरी दुनिया के साहित्य-लेखन को भी एक सांस्कृतिक सामग्री के रूप में विकसित देशों में स्थान प्रदान कर दिया है और इसने अस्मिता विमर्श व राष्ट्रवाद से साहित्य के संबंध तक की सैद्धांतिकी को प्रभावित किया है।

एजाज़ अहमद ने एक अन्य क्लासिक रचना 'ओरियंटलिज़्म' (1978) के बारे में भी अंतर्दृष्टिपूर्ण आलोचनाएं प्रस्तुत की हैं जो इस पुस्तक के उन प्रशंसकों को बेचैन कर सकती हैं जो इसे तीसरी दुनिया विशेषकर अरब देशों के बारे में खड़ी की गयी पश्चिमी ज्ञानमीमांसा का सबसे ज़ोरदार खंडन मानकर इस किताब की प्रशंसा करते रहे हैं। इसे क्लासिक मानकर दुनिया के समाज विज्ञान की शाखाओं में ग़ैरआलोचनात्मक तरीक़े से पढ़ाया भी जाता है। एडवर्ड सईद पश्चिमी ज्ञानमीमांसा की निंदा करने के लिए ग्रीक साहित्य के समय से उसकी अखंड लकीर खींचते हैं जो आधुनिक काल तक आती है। यानी सारा पश्चिमी बौद्धिक उत्पादन अनिवार्यतया तीसरी दुनिया ख़ासतौर पर मुस्लिम अरब मुल्कों के ख़िलाफ़ षड्यंत्ररत रहा है। इसी झोंक में मार्क्सवाद को भी पश्चिमी ज्ञानमीमांसीय साम्राज्यवाद का प्रतीक भी घोषित कर दिया। पश्चिम के सारे ज्ञानकांड को मानवताविरोधी साबित करने का जब संकल्प ले ही लिया तब होमर के ग्रीक युग से आधुनिक युग तक पश्चिम की एकरेखीय वर्चस्व परंपरा का निर्माण करना कौन सा कठिन कार्य है! आश्चर्य की बात यह भी कि एक ओर उन्होंने नीत्शे तथा उत्तर-संरचना वाद के प्रभाव में पश्चिम की समूची मानवतावादी परंपरा को नकार दिया क्योंकि उसने पूरबी-अरबी देशों का ख़राब चित्रण किया, दूसरी ओर एजाज़ के मतानुसार ही उन्होंने मानवातवाद की ही शब्दावली जैसे सहानुभूति, सहयोग, जुड़ाव, अंतरंगता आदि का अपनी पुस्तक में व्यापक इस्तेमाल भी किया है।

एजाज़ ने 'ओरियंटलिज़्म' पुस्तक की व्यापक सराहना और स्वीकृति को भी प्रव्रजन की स्थितियों से संबंद्ध किया है। उन्होंने तत्कालीन विश्व की विभिन्न घटनाओं की सूचनाएं एकत्र कर निष्कर्ष निकाला है कि 80 के दशक में एशियाई तथा अरब मूल के लोग अमेरिकी समाज में तेज़ी से प्रवेश कर रहे थे और यूनिवर्सिटियों में बतौर प्रोफ़ेसरों के भी उनकी संख्या बढ़ रही थी। जब यह परिवर्तन चल रहा था तब उनके भीतर अमेरिकी और यूरोपीय समाजों में अपने लिए ज़्यादा सम्मानजनक तथा बड़ा स्थान प्राप्त करने की चिंता भी थी। अपने उत्पीड़न व बुरे ढंग की नस्लीय नुमाइंदगी के सवाल को उठाने वाले बौद्धिक कृतित्व की आवश्यकता भी उन्हें पड़ने लगी थी। पूरबी देशों में पश्चिम के उच्च संस्थानों में पहुंचे लोग प्रायः अपने ही देश में वर्ग-क्रांति व विषमता के प्रश्नों पर मौन रहते थे पर पश्चिम में आकर वे पश्चिम व पूरब की दुनिया के टकरावों में रुचि प्रकट करते थे ताकि उन्हें पश्चिम में अधिक सुविधाजनक स्थितियां प्राप्त हो सकें। बहुत ही दो टूक शब्दों में एजाज़ लिखते हैं, 'अमेरिका व यूरोप के विश्वविद्यालयों में जो लोग भी ग्रैजुएट विद्यार्थी के रूप में आये और बाद में शिक्षक बने, ख़ासतौर पर मानविकी तथा समाज विज्ञान में, वे प्रायः अपने देश के उच्च वर्गों से संबंधित थे। अपने मुल्कों से उखड़ने के बाद विकसित मुल्कों में ख़ुद को फिर जमाने के लिए उन्हें ऐसे बौद्धिक दस्तावेज़ों और प्रमाणों की आवश्यकता पड़ी जो नये परिवेश में उत्पीड़ित होने के उनके दावे को पुष्ट कर सकें। वे किसी भी प्रकार के उत्पीड़न से बचने के लिए पहले से ही तैयार रहना चाहते थे। इसीलिए लगातार ख़ुद को असुरक्षित, अपमानित और भेदभावों के शिकार समुदाय के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करते थे। लेकिन ऐसी पुस्तकें जो उत्पीड़न को वर्ग (class) से जोड़ती थीं, उनके लिए विशेष काम की नहीं थीं। वह इसलिए भी क्योंकि वे स्वयं कामगार-किसान वर्ग से नहीं थे और जिस देश में रहने आये थे, वहां के किसी भी तरह सर्वहारा आंदोलन का हिस्सा बनने में उनकी दूर-दूर तक रुचि नहीं थी। उपनिवेशवाद की चर्चा होने पर यह तर्क भी आता था कि उपनिवेशवाद ने जिन देशों को लूटा, वहां एक ख़ास वर्ग को लाभ भी पहुंचाया। पर एशिया, अरब या अफ्रीका से आये इन नये समुदायों को यह तर्क बिलकुल पसंद नहीं था। वे डटकर इसकी उपेक्षा करते थे। कारण यह कि वे स्वयं या उनके पूर्वज उन्हीं वर्गों से जुड़े हुए थे जो उपनिवेशवाद के लाभार्थी थे।' एजाज़ अहमद का अपेक्षाकृत लंबा उद्धरण इसलिए दिया गया ताकि यह समझा जा सके कि पूरब के संबंध में पश्चिमी ज्ञानमीमांसा का इतने विकराल खंडन को भौतिक और

सामुदायिक स्थितियां किस प्रकार की। पश्चिम में 60 के दशक के बाद बसे लोगों को इस अवधारणा से विशेष संतुष्टि प्राप्त होती थी कि उनके अपने एशियाई, अफ्रीकी या लैटिन अमेरिकी मुल्कों में सभी समस्याओं की जड़ वे औपनिवेशिक देश रहे हैं जहां रहकर वे स्वयं अब अपने लिए जगह बना रहे हैं। मिसाल के लिए भारत में ही जाति तथा सांप्रदायिकता की समस्याओं और उससे जुड़ी क्रूरताओं के लिए भी पश्चिम और उसके प्रायोजित 'ओरियंटलिज़्म' को उत्तरदायी सिद्ध करने के काफ़ी प्रयास होते हैं। हिंदू जातिवाद को जनगणना, जनसंख्या संबंधी रिपोर्ट या ज़मींदारी व्यवस्था के पोषण से जोड़ा जाता है। एजाज़ अहमद लिखते हैं, 'अब पश्चिम केवल अपनी नृशंसताओं के कारण ही नहीं बल्कि हमारी अपनी सामाजिक क्रूरताओं के लिए ज़िम्मेदार ठहराया जाने लगा है। एजाज़ ने चिली समेत कई लैटिन अमेरिकी देशों में तानाशाहों के उदय, तख्ता पलट, इंग्लैंड में ख़ान मज़दूरों की हड़ताल की विफलता, रीगन-थैचरे युग के आरंभ आदि के रूप में उन वैश्विक स्थितियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है जिसमें दक्षिणपंथी राजनीति का तेज़ी से उभार हो रहा था। ऐसे वातावरण में भी थर्ड वर्ल्ड राइटिंग के नाम पर क्यूबा, भारत, अफ्रीका आदि के बारें में, या उनकी राष्ट्रीयता के इतिहास के बारे में चर्चा करना अधिक सरल तथा प्रासंगिक हो गया था जबकि वर्ग, जेंडर, असमानता या धर्मनिरपेक्षता आदि के बारे में अकादमिक बहस करना मुश्किलें पैदा कर सकता था।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम देख सकते हैं कि एजाज़ अहमद मुख्यतः सिद्धांतकार के रूप में हमारे सामने नहीं प्रस्तुत होते हैं बल्कि वे सिद्धांतों, अवधारणाओं और विचारधारा की भौतिक पृष्ठभूमि का कड़ा परीक्षण करते हुए विभिन्न अवधारणाओं का खंडन करने में रुचि लेते हैं। वे वामपंथी चिंतक होने के कारण साहित्य व राष्ट्र के संबंधों को वर्ग के प्रश्नों से निरपेक्ष रहकर हल करने, विचार करने या उनपर विषयसामग्री जुटाने के प्रयासों के कड़े आलोचक हैं। उनका समस्त बौद्धिक कर्म वामपंथ से प्रेरित है पर वे वामपंथ का इस्तेमाल जड़ या दोहराव से भरे घिसपिटे फ़ार्मूलों में अपनी ऊर्जा खपाने या उन्हें ही पूरी ज़िंदगी व्यक्त करने के लिए प्रयोग नहीं करते। वे यह दिखाते हैं कि साहित्य के सिद्धांत भी उत्पादन के व्यापक तंत्र से बंधे होते हैं और साहित्यिक सैद्धांतिकी का विश्लेषण विश्व की भौतिक स्थितियों व उत्पादन तंत्र में परिवर्तन से अलग करके नहीं समझा जा सकता है।

मो. 9711312374

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध के अनुपम लेखक

राहुल कोसंबी

विख्यात मार्क्सवादी विचारक और समीक्षक एजाज़ अहमद का 9 मार्च 2022 को 81 वर्ष की आयु में कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में स्थित अपने घर में निधन हो गया। कुछ लोग प्रत्यक्षतः आपके संपर्क में न भी हों फिर भी उनका होना हमेशा आपके लिए प्रेरणादायक और भरोसा जगाने वाला होता है। इस सूची में एजाज़ अहमद का नाम काफ़ी पहले आयेगा। उत्तर प्रदेश के एक संपन्न परिवार में जन्मे एजाज़ बंटवारे के बाद अपने परिवार के साथ पाकिस्तान में बस गये। बचपन से ही पढ़ने-लिखने में रुचि रखने वाले एजाज़ का झुकाव मार्क्सवाद की तरफ़ हुआ। कविता और कम्युनिज़्म उनके लिए ताज़िंदगी जुनूं की शै बने रहे। इसी से अमेरिका में रहते हुए ग़ालिब की शायरी पर उनकी पहली क़िताब ऑक्सफ़ोर्ड से शाया हुई। कनाडा के विश्वविद्यालय में कई साल प्रोफ़ेसर रहे। अंतर्राष्ट्रीय और मुख्यतः एशिया की राजनीति पर वे लगातार लिखते रहे। *सोशलिस्ट रजिस्टर* और *न्यू लेफ़्ट रिव्यू* जैसी वामपक्षीय पत्रिकाओं से उनका जुड़ाव इसी से हुआ। अस्सी के दशक में वे भारत लौटे। यहां भी उन्होंने अनेक विश्वविद्यालयों में पढ़ाने का काम किया। दिल्ली में रहते हुए हमख़याल लोगों के बीच उनका मन और रम गया। जनेवि, जामिया, नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम लाइब्रेरी और फिर *लेफ़्टवर्ड* प्रकाशन के साथ भी वे जुड़े। *फ़्रंटलाइन* पत्रिका से भी उनका राब्ता रहा।

समकाल की गतिकी समझने की मुश्किल चुनौती को वे लगातार स्वीकारते रहे। दरअसल, एंगेल्स ने कहा था कि समकाल का आकलन मुकम्मल ढंग से नहीं किया जा सकता क्योंकि सिद्धांत की सांकल्पनिक स्पष्टता और ब्यौरों की, सही सूचना की उपलब्धता इनका संयोग हमेशा हो नहीं पाता। एजाज़ अहमद का सैद्धांतिक लेखन इस शर्त से बाख़बर था। इसी वजह से एक ओर मार्क्सवादी सैद्धांतिक स्पष्टता और दूसरी ओर राजनीति की, सामाजिक प्रक्रियाओं की और सांस्कृतिक वैचारिक प्रारूपों की सूक्ष्म तफ़सीलवार पढ़ंत उनके लेखन का स्थायी भाव रहा आया। अमेरिका प्रेरित साम्राज्यवाद और वैश्वीकरण एवं हिंदुत्व की प्रक्रियाओं का उन्होंने जिस तफ़सील के साथ विस्तारपूर्ण ढंग से विश्लेषण किया है वह पढ़कर हमें यह सहज महसूस होता है। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में चर्चा के केंद्र में रहीं अनेक अहम संकल्पनाओं, मसलन पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, राष्ट्रवाद, वर्ग, क्रांति, लोकतंत्र, सामाजिक आंदोलन, हिंदुत्व, फ़ासिज़्म के साथ साथ उत्तरआधुनिकता, उत्तरउपनिवेशवाद, उत्तरसंरचनावाद, प्राच्यवाद जैसे विचारों का उन्होंने लगातार मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विश्लेषण किया।

क्लैसिक मार्क्सवादी लेखन की सजग पढ़ंत पर उनका काफ़ी ज़ोर रहा। नवीन सैद्धांतिक प्रारूपों की प्रतिक्रिया के तौर पर नयी परिभाषाएं या संकल्पनाएं गढ़ने के बजाय मूल मार्क्स और एंगेल्स के लिखे को नयी पद्धति से समझने में उनकी अधिक रुचि थी। इस लेखन की तात्कालिक और चिरंतन संभावनाओं का वे गंभीरता से परीक्षण करते रहे। मार्क्स के मूल लेखन को, अपने युग के संदर्भ में और ऐतिहासिक विकास की प्रक्रियाओं के संदर्भ में नये सिरे से समझने का प्रयास उन्होंने सदैव किया। *कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो*, *दि सिविल वार्स इन फ्रांस*, *दि एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ़ लुई बोनापार्ट*, *दास कैपिटल*, *इकोनॉमिक एंड फ़िलॉसॉफ़िकल मैन्यूस्क्रिप्ट्स* की अत्यंत संवेदनापूर्ण और उतनी ही खुलेपन के साथ पढ़ंत उन्होंने पेश की। समाज के वर्गों का राजनीति के इलाक़े में प्रकटन और उनकी आर्थिक संरचना का द्वंद्वात्मक विश्लेषण इसीलिए हमें आज भी कमाल की स्पष्टता प्रदान करता है। उन्होंने जातिव्यवस्था पर स्वतंत्र रूप से लिखा नहीं, तब भी वर्गीय संकल्पना की उनकी अपनी पढ़ंत जाति-वर्ग का नया विश्लेषण करने में बेहद मददगार साबित होती है। सिद्धांत, महज़ समाज के यथार्थ का मोटा-मोटा अमूर्त सांकल्पनिक वर्णन नहीं होता, ठोस तफ़सीलों के सूक्ष्म तानेबाने के ठोस विश्लेषण से उसकी जीवंतता टिकायी जा सकती है। इसीलिए ऊपर उल्लिखित उत्तरआधुनिकवाद, उत्तरउपनिवेशवाद, प्राच्यवाद और उत्तरसंरचनावाद का उन्होंने अनन्य विश्लेषण पेश किया। ये

सारे चमकदार विचार अजाने ही पूंजीवादी सांस्कृतिक तर्क को स्वीकृति प्रदान करते हैं और दूसरी तरफ़ नवजागरणकाल के कुछ केंद्रीय मूल्यों को विस्थापित करते हैं। उसमें भी मार्क्सवाद को कभी परोक्ष, कभी अपरोक्ष ढंग से कटघरे में खड़ा करते और फिर उसे पूरी तरह नकार देने तक वे चमकदार विचार पहुंच जाते हैं। इसी वजह से एजाज़ अहमद द्वारा इन चमकदार विचारों का किया गया विच्छेदन महत्त्वपूर्ण है।

एक ओर वास्तविक परिस्थिति का ठोस आकलन कर पाना, फिर उसे पेश करने हेतु उतनी ही मज़बूत भाषा और शैली एक विचारक के पास होना लाज़िमी है। एजाज़ साहब के ही अंदाज़ में कहें तो - जाने हुए, समझे हुए यथार्थ का आकलन उतने ही सटीक शब्दों में और अपनी विशिष्ट शैली में प्रस्तुत करने वाले महान तत्त्ववेत्ताओं में मार्क्स अव्वल और अद्वितीय साबित होते हैं। दरअसल, एजाज़ अहमद के लेखन के बारे में भी हमें बिलकुल यही बात कहनी होगी। प्रदीर्घता उनके लेखन का तुरंत ध्यान में आने वाला पहलू है। लेकिन इनमें से प्रत्येक प्रदीर्घ लेखन बेहद नियंत्रित, सुस्पष्ट और संवेदनपूर्ण ढंग से किया गया लेखन है, इसका अहसास जल्द ही हो जाता है। क्या कहना है और किस तरह, किस भाषा और शैली में कहना है, इसकी अपूर्व स्पष्टता उनके समूचे लेखन में व्याप्त है। हाल ही में *यूट्यूब* चैनल, *न्यूज़क्लिक* के लिए मार्क्स की चुनिंदा किताबों का परिचय और उन पर चर्चा पर आधारित एक साक्षात्कारनुमा कार्यक्रम में विजय प्रशाद उनसे खुलेपन से बातें करवाने में कामयाब हुए थे। बहुत से दीगर प्रोग्रामों में भी उन्हें सुनते हुए उनकी मूल विचारप्रक्रिया की स्पष्टता का अहसास न हो, ऐसा मुमकिन नहीं। इसीलिए बीसवीं सदी के उत्तरार्ध के अनुपम लेखकों में उनका स्थान अव्वल रहेगा। चार-पांच पंक्तियों में फैले लंबे पल्ले के वाक्य, ध्यानपूर्वक चुने गये शब्द, पारिभाषिक स्पष्टता और सहज काव्यात्मक शैली से उन्होंने गंभीर विश्लेषण की पठनीयता में वृद्धि की। व्यक्तिगत अनुभव अथवा विरोधाभासी घटना के साथ शुरू होने वाली उनकी कैफ़ियत धीरे-धीरे पाठक को गंभीर सैद्धांतिक विश्लेषण की ओर ले जाती है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, बारीक़ियों और सूचनाओं के ठोस इस्तेमाल द्वारा मार्क्सवादी विचारपद्धति द्वारा की गयी पड़ताल हमें यथार्थ की जो पहचान कराती है वह अदभुत है।

एक विचार के तौर पर मार्क्सवाद के अलग-थलग पड़ने के दौर में न केवल मार्क्सवाद की हिमायत बल्कि मौजूदा वक़्त में उसकी अहमियत का अहसास वे अपने लेखन द्वारा लगातार हमें कराते रहे। वर्ग, वर्गसंघर्ष, अन्याय और वंचना, परिवर्तन और क्रांति जैसी संकल्पनाएं जिस दौर में विस्थापित हो गयीं, उसी में एजाज़ अहमद उनका सर्जनशील पुनर्स्थापन करते हैं; उन्हें हरदम चर्चा के केंद्र में बनाये रखते हैं। दुर्भाग्य से जितना वे लिख सकते थे उतना उनसे लिखवाया नहीं गया। उनके यहां-वहां बिखरे हुए लेख इकट्ठा करके आज छापे जाने की दरकार है।

आलोचना या पड़ताल दोषारोपण के उद्देश्य से औरों को नीचा दिखाने के लिए नहीं की जाती और दूसरे मत को विस्थापित करने के लिए तो कदापि नहीं। वैचारिक विकास द्वंद्वात्मकता के द्वारा बढ़त पाता है, यह अहसास एजाज़ अहमद का समूचा लेखन जगाता है। तिस पर भी इंक़लाबी बदलाव लाने को कृतसंकल्प विचारधारा पर सजग निष्ठा और विवाद से परे नैतिकता को संजो कर ही हम आमूलचूल ढंग से कुछ कर सकते हैं, ऐसा उनका विश्वास था। दीगर नयी विचारधाराएं तो छोड़िए, मार्क्सवादी परिभाषा के इस्तेमाल से प्रस्थापित की जाने वाली ग़लत समझों या प्रवाहों पर उन्होंने हमेशा बेधड़क सवाल खड़े किये हैं। फ्रेडरिक जेमसन के लेखन का विश्लेषण और चीन के साम्यवादी दावे की उनके द्वारा की गयी पड़ताल देखने लायक़ है।

दुनिया के साथ-साथ भारत का फ़ासिज़्म की दिशा में मुड़ना, चीन जैसे घोषित कम्युनिस्ट देश द्वारा अंगीकार की गयी नवउदारवादी नीतियां, और दुनिया पर तीसरा महायुद्ध थोपने की रूस की धमक, अमेरिका का बढ़ता साम्राज्यवाद और पूंजीवाद द्वारा ख़तरे में आया लोकतंत्र और इन सबको तथाकथित 'उत्तर'वादी विचारव्यूह द्वारा प्रदान की गयी लोकप्रिय अधिमान्यता और उसी के साथ-साथ हो चुका मार्क्सवाद का हाशियाकरण, ऐसे संभ्रम और निराशा भरे दौर में एजाज़ अहमद जैसी मज़बूत आवाज़ की हमें जितनी ज़रूरत है उतनी पहले कभी न थी। अनपेक्षित तौर पर वे आज हमारे बीच नहीं हैं यह अहसास इसीलिए बेहद असहनीय और असहाय बना रहा है।

(मराठी पत्रिका *वाटसरु* का संपादकीय)

मो. 7045726361

अनुवाद : भारत भूषण तिवारी

मो. 7767864042

एजाज़ अहमद को जानना

सविता सिंह

एक बार एक हिंदी के एक कवि ने एजाज़ अहमद को 'गुलाब का फूल' कहा था। तब मेरी जिज्ञासा उन्हें जानने की थी। मैं मांट्रियाल से तब लौटी ही थी। ज़ाहिर है जब अमेरिका से लौटकर एजाज़ साहब भारत आये थे, मैं यहां नहीं थी। उनके बारे में कुछ ख़ास जानती भी नहीं थी। वे दिल्ली की तीन मूर्ति मेमोरियल लाइब्रेरी के फ़ेलो होकर आये थे। जब तक मैं लौटी 1990 अंतिम महीने में, वे अपनी *इन थियरी* की पांडुलिपि तैयार कर चुके थे। किताब 1992 में छपी और एंग्लो अमरीकी अकादमिक इलाक़ों में वह तूफ़ान की तरह अवतरित हुई। उन दिनों मैं पीएच डी के लिए 'भारत की आधुनिकता के विमर्श' पर शोध का काम मैग्गिल विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर चार्ल्स टेलर के साथ कर रही थी। बाक़ी के उत्तर अमेरिका के विश्वविद्यालयों की ही तरह यहां भी उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-उपनिदेशवाद का ही बोलबाला था। उसमें 'हरम्यूनिटिक्स' एक रैडिकल सिद्धांत की तरह था। जैसे ऐतिहासिक यथार्थवाद यानी मार्क्सवाद की प्रासंगिकता बची ही नहीं थी, ऐसा लगता था। मैं भी हतप्रभ रहती थी कि कैसे विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में नीत्शे, फ़ूको, देरिदा, गायत्री स्पिवाक, रिचर्ड रोर्टी, होमी भाभा और ऐसे ही दूसरे प्रकाश स्तंभ जगह पा रहे थे। उन दिनों जॉन रॉल्स अपने उत्तर-उदारवाद के लिए काफ़ी चर्चा में थे जिन्होंने*, न्याय के दो सिद्धांत* पुस्तक लिखी थी जो पूंजीवादी व्यवस्था में उदारवादी अवधारणा का संशोधित रूप प्रस्तुत कर रही थी। समानता के लिए किस तरह पूंजीवाद में अब भी जगह हो सकती है, उसी का फ़ार्मूला उन्होंने तैयार किया था। वह संसार एक गड्डमड्ड संसार था क्योंकि नव पूंजीवाद के पैर तो उस तरफ़ तार्किक रूप से बढ़ रहे थे जहां उदारवाद की पिछली आदर्शवादी अवधारणाओं का विलोप होने जा रहा था। आज यदि हमें रॉल्स को पढ़ना पड़े तो हमें समझ में आयेगा कि समानता की जगह असमानता को जीवन के सत्य के रूप में अवतरित होना था इसलिए वहां इतनी बहस छिड़ी हुई थी। उत्तर आधुनिक सिद्धांत ऐसी किसी गंभीर बातचीत के लिए अब तैयार नहीं था। ये सारी बातें पिछली दुनिया की बातें हो चली थीं। अब इतिहास में संघर्ष, उसकी कथा, ग्रैंड नैरेटिव लगने लगी थीं जिसका समाधान था कि हम 'जिनियोलिजी', एक तरह की इतिहास की वंशावली के विमर्श को आत्मसात करें। छोटे, स्थानीय, आंदोलनों को उनकी स्थानीयता में समेट कर पढ़ें और जानें। बड़े परिवर्तन की न अब कोई गुंजाइश है, न ही उसके ज़रिये स्वतंत्रता को हासिल किया जा सकता था। स्टालिन का होना उनके लिए एक ऐसी ऐतिहासिक घटना थी जिसके ज़रिये मार्क्सवाद को ही निरस्त कर दिया जाता था।

ऐसे समय में उत्तर-उपनिवेशवाद का जन्म होता है। एडवर्ड सईद की किताब, *ओरियेंटलिज़्म : वेस्टर्न कंसेप्शंस ऑफ़ द ओरिएंट'* आती है और इस किताब से जैसे उन तमाम बुद्धिजीवियों को जो तीसरी दुनिया से अमरीकी और पश्चिम के दूसरे देशों के विश्वविद्यालयों में पढ़ने-पढ़ाने गये थे, उन्हें एक नया 'रैडिकल स्पेस' यानी जगह मिल गयी थी। पश्चिम के 'प्रबोधन काल' के नकारात्मक ढंग से परिभाषित होने की वजह से, लोगों का अपने मुल्कों से विस्थापित होकर इन विश्वविद्यालयों में जाना न्यायोचित साबित होने लगा था। पश्चिम की आलोचना कर वहीं रहने की, वहीं बौद्धिक जगह बनाने की, सारी जद्दोजहद ख़ुद में सिद्ध होती दिखायी पड़ने लगी थी। अंतरात्मा अब ख़ुद को कोसेगी नहीं – बल्कि एक बड़ा बौद्धिक कैरियर भी बना पाना संभव होगा। इन परिस्थितियों से जूझते हुए एजाज़ अहमद ने मार्क्सवाद की प्रासंगिकता को पुन: स्थापित करने का ज़िम्मा उठाया, वह भी पूरे विश्व में सीमांत पर धकेले जा रहे मार्क्सवाद को फिर से केंद्र में लाने का ज़िम्मा कोई आसान काम तो था नहीं। उन्होंने मार्क्सवादी फ्रेडरिक जेम्सन से लेकर सारे उत्तर उपनिवेशवादियों की आलोचना बेहद ज़िम्मेदारी और विद्वत्ता के साथ

शुरू की। पहले उनके इस मुतल्लिक़ कई लेख छपे जिन पर जेम्सन की एक सकारात्मक टिप्पणी भी छपी, लेकिन बाद में एजाज़ अहमद का लेखन ख़ासी आलोचना पाने लगा। जब *इन थियरी* के अध्यायों में फ्रेडरिक जेम्सन की मार्क्सवादी समझ में आयी शिथिलता को वे सामने लाते हैं यह कह कर कि 'तीसरी दुनिया' कोई एक मिट्टी का ढेला नहीं है, बल्कि एक धड़कता हुआ यथार्थ है जिसमें व्याप्त इसकी भिन्नता को समझना अति आवश्यक है; वहां चल रही प्रतिरोध की राजनीति और लिखा जा रहा इतिहास और साहित्य अपनी विविधता में अत्यंत मानीखेज़ हैं, किसी राष्ट्रीय ऐलीगरी के रूप में इसे समेटा नहीं जा सकता, तब इसका आशय यह था शायद कि एडवर्ड सईद भी अपनी किताब, *ओरियेंटलिज्म* में बौद्धिक भूलों और शिथिलताओं के शिकार हैं। मार्क्स को दरकिनार कर ये लोग दूसरी क़िस्म के प्रतिरोध की जो नींव रखना चाहते हैं वह सिर्फ़ सैद्धांतिक ही होगी। जब तक इस सिद्धांत का मेल इन उत्तर-औपनिवेशिक देशों की राजनीतिक-आर्थिक परस्थितियों से संबद्ध नहीं किया जाता, उसका असर कुछ प्रोफ़ेसरों के कैरियर के लिए तो अच्छा हो सकता है, समाज और यथार्थ का इससे कुछ ज़्यादा भला न होगा क्योंकि यह एक तरह से यथार्थ का मिस-रिप्रेज़ेंटेशन है।

एजाज़ साहब को अपने इस बौद्धिक आग्रह के लिए बहुत आलोचना झेलनी पड़ी। उन्होंने एक बातचीत में मुझे बताया था कि सईद ने कोलंबिया यूनिवर्सिटी, जहां वे पढ़ाते थे, की किताब की दुकान में खड़े होकर उनकी किताब, *इन थियरी* को हाथ में ऊंचा उठा कई लोगों के सामने कहा था, 'यह किताब मुझे बदनाम करने के लिए लिखी गयी है, इसके लिए एजाज़ पर मुक़दमा चलना चाहिए'। सईद के छात्र और उनके चाहने वाले बुद्धिजीवियों ने *पब्लिक कल्चर* पत्रिका में एजाज़ अहमद को भयानक ढंग से अपमानित करने वाले लेख लिखे जिसमें मार्जरी-लेविनसन ने यहां तक कहा कि यह पुस्तक एक तरह का जिहाद छेड़ती है। लेकिन जितनी उनकी आलोचना हो रही थी उतनी ही यह किताब और साथ में एजाज़ अहमद बौद्धिक दुनिया में प्रतिष्ठा पाते जा रहे थे। उस समय जब इस जगत में उत्तर-आधुनिकता, विखंडनवाद और उत्तर-उपनिवेशवाद का गठजोड़ बना हुआ था, एजाज़ अहमद की यह किताब मार्क्सवाद की तरफ़ से एक सशक्त हस्तक्षेप के रूप में स्वीकृत होने लगी। दुनिया भर से उन्हें लोग बुलाने लगे। ख़ासकर वाम विचारधारा के लोगों ने एक संतोषप्रद सांस ली।

यह सबकुछ हो चुका था जब मैं एजाज़ साहब से मिली। *कथन* का एक अंक संज्ञा उपाध्याय ने निकाला था जिस पर साहित्य अकादेमी में एक गोष्ठी रखी गयी थी। उसमें मैं और एजाज़ साहब बोलने के लिए बुलाये गये थे। मैंने एक लंबी तक़रीर की जिसमें 'स्त्रीवाद' की मार्क्सवादी अवधारणा पर मैंने कुछ बातें रखीं। पूरा हॉल भरा हुआ था। मेरे बोलने के तुरंत बाद एजाज़ साहब को बोलना था। अपनी तक़रीर में उन्होंने मेरी बातों का समर्थन किया और अपनी तरफ़ से भी कुछ बातें जोड़ीं। मैं आश्वस्त हुई। प्रोग्राम ख़त्म होने के बाद मुझे रोककर उन्होंने कहा – 'आप कविताएं भी लिखती हैं, आपके परिचय में बताया गया।' मैंने 'हां' में जवाब दिया। तब तक मेरा पहला संग्रह, *अपने जैसा जीवन* (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2000) ही प्रकाशित हुआ था। उन्होंने मेरी कविताओं को पढ़ने की इच्छा ज़ाहिर की और कहा कि वे भी कविताएं लिखते हैं। मैं बहुत चौंकी। उनकी ख्याति तो मार्क्सवादी सिद्धांतकार के रूप में थी मेरे लिए। मैंने एक छोटे सी चिट पर उनका पता लिखवाया और किताब भिजवाने का वादा किया। किताब उन्हें मिल भी गयी।

कुछ ही महीने बाद हमारी दोबारा मुलाक़ात हुई सफ़दर हाशमी की शहादत पर आयोजित सहमत के 1 जनवरी वाले कार्यक्रम में। मुझे देखते ही कहा, 'बताइए, क्या हाल हैं आपके, आपकी कविताएं मैंने पढ़ लीं। नहीं जानता था, आपसे कैसे संपर्क करूं और अपनी राय दूं'। मैं और पंकज जी दोनों उनसे खड़े-खड़े लगभग आधे घंटे तक बातें करते रहे। उसी दौरान उन्होंने नेरूदा के बारे में कई बातें कहीं, अपनी ग़ालिब वाली किताब का भी ज़िक्र किया। वह किताब मेरे पास थी। मैंने जिज्ञासा दिखायी कि यह किताब कैसे बनी। एड्रियन रिच से लेकर एम.एस. मरविन तक के अनुवाद इसमें शामिल थे। उन्होंने कुछ बातें तो बतायीं, फिर कहा, अमेरिका में रहते हुए मुझे अपने लिए पब्लिकेशन की ज़रूरत आन पड़ी थी, मैं नौकरी करना चाह रहा था, इसलिए एक युक्ति यह सूझी। फिर उन्होंने एक सूखी हंसी हंस दी जैसे यह कोई ज़्यादा महत्वपूर्ण काम नहीं था उनका। बाद के दिनों में जब हम लोग एक दूसरे को ईमेल के ज़रिये पत्र लिखने लगे, तब लगातार उनसे उनके लेखन, और आम जीवन के मसलों पर और भी बातें

होने लगी। एड्रियन रिच को मैं उन दिनों ख़ुद ही पढ़ रही थी। जब मुझे पता चला कि वे इनकी गहरी मित्र हैं, तब मैंने चाहा कि मेरा संपर्क एड्रियन से बने और मैं उनकी कविताओं के अनुवाद करूं कम से कम एक किताब भर। इसी दौरान एजाज़ साहब के पास एड्रियन रिच की नयी किताब आयी थी जो उन्हें समर्पित की गयी थी। अगली मुलाक़ातें जो ज़्यादातर आई. आई. सी में होती थीं, उन्होंने मुझे वह किताब पढ़ने को दी। शायद यह पहली किताब थी जो उन्होंने मुझे दी। फिर कहा, एड्रियन बहुत अस्वस्थ चल रही हैं, कम से कम अब तक उनके अस्सी आपरेशन हो चुके हैं। मैं हैरान हुई। उनकी लैंगिकता के बारे में तो जानती थी, लेकिन इसके पीछे के दर्द के इतिहास को मैंने एजाज़ साहब के ज़रिये ही जाना। एक समय में जब एड्रियन इस नतीज़े पर पहुंच रही थीं कि वे समलैंगिक संबंध में ही जी सकेंगी, यानी वे 'लेस्बियन' हैं, इस चेतना को समझने के लिए एजाज़ साहब ने ही उनकी एक मनोचिकित्सक मित्र से मुलाक़ात करवायी। एड्रियन के फिर उन मनोचिकित्सक महोदय से शारीरिक संबंध भी बन गये थे। जब यह सब कुछ यानी उनका फ़ैसला कि वे लेस्बियन हैं, एक ठोस नतीजे पर पहुंच रहा था, एड्रियन के पति ने ख़ुद को गोली मार आत्महत्या कर ली थी। उन्होंने कहा, ये सारी बातें इतनी आघात पहुंचाने वाली हैं कि एड्रियन की कविताओं को समझने के लिए इस संघर्ष को भी समझना ज़रूरी है। मैं लगातार एजाज़ साहब से बातें करना चाहती थी। हर दो चार दिन पर उन्हें एक ई-मेल लिखती जिसमें सवाल ही सवाल होते। दो तीन दिन में उनका जवाब आता। सोचा समझा हुआ, बेहद सुंदर अंग्रेज़ी भाषा में लिखा हुआ। तथ्यों की कभी भूल नहीं होती उनके किसी भी पत्र में- किताबों के नाम, छपने के वर्ष, किसने ब्लर्ब लिखा और उसके इर्द-गिर्द की राजनीतिक बातें। पसोलिनी के बारे में एक बार उन्होंने विस्तार से बताया था। एजाज़ साहब की वजह से, एक तरह से, मेरा साहित्यिक मिजाज़ विश्व साहित्य पढ़ने का तैयार हो रहा था। मैंने एक तमीज़ सीखी, किस तरह कोई साहित्यिक कृति पढ़ी जाये, उसकी आलोचना कैसे हो, इत्यादि। पंकज जी ख़ुद एक ऐसे व्यक्ति थे जिनसे विश्व साहित्य के बारे में मैंने बहुत कुछ सीखा था।

जब मेरी दूसरी किताब आयी, *नींद थी और रात थी* (2005), मैंने एजाज़ साहब से मंशा ज़ाहिर की कि मैं उन्हें ख़ुद ही इसकी प्रति देना चाहूंगी। वे सहज ही तैयार हो गये। पहली बार उनके घर गयी, साथ में मेरे कोई और भी था। वे तब मंदाकिनी एनक्लेव में ग्राउंड फ्लोर के मकान में रहते थे। सुंदर सा ड्राइंग रूम था, किताबें ही किताबें घर में। बीच-बीच में बहुत सुंदर तस्वीरें लगी थी, इन्हें फ़ोटोचित्र कहना चाहिए बल्कि, जो फ्रेम में मढ़े गये थे। जब मैंने पूछा इन तस्वीरों के बारे में तो पता चला ये इन्हीं के द्वारा खींची गयी तस्वीरें थीं। बेहद कलात्मक, यथार्थवादी ढंग से कलात्मक। उस दिन उन्होंने मेरे पहले संग्रह, *अपने जैसा जीवन* में संकलित मांट्रियाल वाली कविताओं का ज़िक्र किया और कहा उनमें जीवन की गहरी सच्चाई है, इसलिए वे अच्छी लगीं। न्यूयार्क में उनके अपने जीवन के शुरूआती दौर की उन्हें याद दिलाती रहीं ये कविताएं। मैंने उनसे उनकी कविताएं पढ़ने के लिए मांगीं, उन्होंने टालते हुए कहा कि वे उन्हीं पत्रिकाओं में पड़ी होंगी जो हैदराबाद और इलाहाबद से छप रही थीं कुछ साल पहले तक, और वे देवनागरी स्क्रिप्ट में तो हैं भी नहीं। वे जाने क्यों इतने उदासीन हो गये थे अपनी नज़्मों को लेकर? आज तक मैं उनकी कविताएं नहीं पढ़ पायी हूं, लेकिन जो समझ उनकी थी साहित्य की वह किसी और की कहां से हो सकती थी! वे थे ही अपने आप में इतने विशिष्ट- दुनिया के साहित्य के अध्येता और पारखी जैसा असद ज़ैदी ने कहा था- 'एक गुलाब!, अपनी सुगंध से दुनिया भर के उत्सुक बौद्धिकों, साहित्यकारों तक अपनी खुशबू पहुंचाने वाले।' इस बीच मैं दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ाने लगी थी और उसी विश्वविद्यालय द्वारा स्थापित सेंटर फ़ॉर डेवलपिंग कंट्रीज़ रिसोर्स सेंटर की फ़ेलो हो गयी थी। हमारी कितनी ही बौद्धिक-अकादमिक गतिविधियां हर साल वहां होती थीं। एजाज़ साहब को 2008 में पाब्लो नेरूदा द्विवर्षीय लेक्चर सीरीज़ में बोलने के लिए हम लोगों ने आमंत्रित किया। इस सेंटर की तब प्रो. नीरा चंढोक डायरेक्टर थीं। प्रो. मनोरंजन महंती और मणींद्र नाथ ठाकुर इसके संस्थापकों में से थे। अशोक आचार्या, मैं, और भी कम से कम दस लोग यहां फ़ेलो थे। एजाज़ साहब ने अपने पाब्लो नेरूदा लेक्चर का लिखा हुआ टेक्स्ट हमें भेजा जो कि शानदार था। इसे हम लोगों ने डीसीआरसी के फ़ंड से छपवाया और गिने चुने लोगों को बांटा भी। लेक्चर के दौरान पूरा हॉल भरा हुआ था, जो भी यह जान पाया कि उनका लेक्चर डीसीआरसी में हो रहा है, पहुंच ही गया। कुछ लोग दूतावासों से भी आये। लेक्चर का शीर्षक था- *'ऑन द डेंजरस एज ऑफ़ थिंग्स : थॉट्स ऑन वर्ल्ड लिटरेचर'* इसके बारे में भी दो-एक बातें करना चाहती हूं। सबसे पहले तो नेरूदा पर दो पेज में ही जो बातें

वे कहते हैं वे बेमिसाल हैं, 'मैं किसी और ऐसे कवि को नहीं जानता, हालांकि होमर और पिंडार और हॉरास ने प्रशंसनीय कविताएं लिखीं लेकिन जिनमें नेरूदा की तरह मामूली चीज़ों का गुण नहीं गाया गया- जैसे उन्होंने प्याज़, मोज़े और गांव के सिनेमाघरों पर कविताएं लिखीं।' उसी पन्ने पर आगे एजाज़ साहब लिखते हैं, 'नेरूदा ने अपने नोबेल पुरस्कार के संबोधन में कहा था- 'मैं एक अंधकारमय क्षेत्र से आता हूं, एक ऐसे देश से जो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सबसे कटा हुआ है। मैं सबसे ज़्यादा अलक्षित कवि रहा, मेरी कविताएं प्रादेशिक (Provincial) रहीं, दुख और बारिश में डूबी हुई।'

इस लेख में बाक़ी बातें विश्व साहित्य पर हैं, कैसे अमरीकी पूंजीवाद साहित्य को परिभाषित करता है, उसका बाज़ार बनाता है और अंग्रेज़ी भाषा में लिखे गये साहित्य की सर्वोच्चता स्थापित करता है, और निरंतर इसकी श्रेष्ठता बनाये रखता है। दूसरी भाषाएं फ्रेंच एवं स्पैनिश दोयम या तीसरे दर्जे के ही साहित्य से संतोष कर लेती हैं। तीसरी दुनिया का साहित्य भी इसी मापदंड का शिकार होता है। हिंदी–उर्दू में लिखे जा रहे साहित्य के लिए यह पूंजीवादी संसार मुश्किल जगह, यानी कठोर, ही मालूम होता है। इसी सिलसिले में मैंने एक बार उनसे कहा था कि मैं हिंदी में ही अपना साहित्य लिखना चाहती हूं। इस पर उन्होंने कहा, यह सबसे अच्छी बात है। लेकिन विश्व साहित्य में जगह पाने के लिए अंग्रेज़ी में अनुवाद आवश्यक होगा। यह बात मुझे हतोत्साहित करने के लिए उन्होंने नहीं कही थी, बल्कि पूंजीवादी विश्व के वर्चस्व और हैरारकी को समझने के लिए ही कही थी। उनकी स्पष्ट मान्यता थी] इस संसार को बदलने के लिए साहित्य की रचना हो तभी इसका कोई मतलब भी है, यह तब ही हो सकता है जब वह अपनी भाषा में लिखी जाये। साहित्यिक लेखन तभी सौंदर्य उत्पन्न कर सकता है यदि उसमें समानता पैदा करने की मूलभूत चाहत हो, ख़ासकर तीसरी दुनिया के साहित्य के लिए एक शर्त भी हो सकती है।

दिल्ली विश्वविद्यालय छोड़कर 2009 में जब मैं इग्नू के स्कूल ऑफ़ जेंडर ऐंड डेवलपमेंट स्टडीज़ की प्रोफ़ेसर और पहली डायरेक्टर होकर नियुक्त हुई, तब वहां मैंने अपने स्कूल में फ्राइडे सेमिनार सीरीज़ की शुरूआत की। उसमें लेक्चर देने बहुत सारे विद्वान आते रहे। उन दिनों एजाज़ साहब आधे समय दिल्ली और बाक़ी समय अमेरिका में गुज़ारते थे। उनके बच्चे वहीं रहते थे। उनकी बेटी रावी और बेटा आदिल वहीं पढ़ रहे थे और बाद में वहीं पढ़ाने भी लगे थे। मैंने उन्हें पत्र लिखा कि अगली बार जब वे दिल्ली में हों और फ़ुर्सत निकाल सकें, तो हमारे स्कूल के फ्राईडे सेमिनार सीरीज़ में आकर बोलें। 2011 में ऐसा संयोग बना कि वे आये, फिर सेमिनार हॉल लोगों से खचाखच भर गया। इस बार वे राष्ट्र राज्य की अवधारणा और स्त्री की स्थिति पर बोलने आये थे। उनकी बातें इतनी गंभीरता से इग्नू में सुनी गयीं कि हमारे वाइस चांसलर, राजशेखरन पिल्लै, ने उनकी किताब *इन थियरी* की एक प्रति मुझसे मांगी। मैंने उन्हें दी भी, फिर आग्रह किया कि इग्नू के इतिहास विभाग में बहादुरशाह ज़फ़र चेयर के लिए एजाज़ साहब को वे नियुक्त करें, यदि कोई दूसरा व्यक्ति उनकी निगाह में नहीं हो तो। फिर उनकी सी वी मंगायी गयी। लेकिन वहां दक्षिणपंथी विचारों के लोग थे जिन्होंने इसे रोक दिया। जब मैंने एजाज़ साहब को यह बात बतायी, तब उन्होंने मुझे बहुत स्नेह से देखा और कहा- 'तुम अपने ही देश को नहीं समझती हो। यहां फ़ासीवाद का बोलबाला मुक़म्मल रूप से काम कर रहा है। यहां सालों तक आदिवासियों, दलितों और मुसलमानों के ख़िलाफ़ 'लो इनटेंसिटी' युद्ध चलता रहेगा। इस बार फ़ासीवाद का कुरूप चेहरा भले जल्दी सामने न आये, एक जाना माना चेहरा ही सारा विध्वंस करेगा।' वे मानते थे कि कांग्रेस के भीतर दक्षिणपंथी लोग लगातार काम करते रहते हैं और नव्य पूंजीवाद तार्किक ढंग से कांग्रेस को उठा फेंकेगी। ग्लोबल कैपिटलिज्म का जायज़ फ़ॉर्म यानी रूप फ़ासीवाद ही है। देखते-देखते स्थितियां ऐसी बन ही गयीं कि उन्हें 2014 में अपना सारा कुछ समेट कर फिर से अमेरिका जाना पड़ा। जब उन्होंने तय कर लिया कि अब उन्हें जाना ही पड़ेगा क्योंकि उनका वीज़ा अब आगे नहीं बढ़ाया जा सकेगा, वे भीतर से उदास हो गये थे। भारत में उन्हें अपनापन मिलता था। लोग यहां उन्हें बेहद मान और प्रेम देते थे। खिन्न होकर एक दिन मुझसे मिलने को कहा। हमलोग आई आई सी में मिले। मैंने उन्हें दोपहर के खाने पर आमंत्रित किया। वे आये। पहली बार उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखा, जैसे अलविदा कह रहे हों, फिर कहा, यह हमारी आख़िरी ऐसी मुलाक़ात होगी क्योंकि मैंने अमरीका लौटने का फ़ैसला कर लिया है। मैं चाहता हूं, जो भी तस्वीरें मेरे घर में टंगी हुई तुम्हें पसंद थीं वे मेरे स्नेह की निशानी समझ कर तुम रख लो। दो एक दिन में घर के सामानों की पैकिंग शुरू होगी। उसके पहले ज़रूर आना।

हम लोग चुपचाप खाना खाते रहे। मैंने पहली बार उनके इस प्रोग्राम, यानी अमेरिका लौट जाने के फ़ैसले के बारे में उनसे जाना था। फिर वे कहने लगे, 'तुम्हें इतना चुप होने का काम नहीं, यह खाना हम खुशी-खुशी खायें, और हो सकता है मुझे अमेरिका जाने के बाद किसी सेमिनार में आने के लिए दिल्ली आमंत्रित किया जाये, तब आ सकता हूं। अन्यथा तुम अमेरिका आना- इसी तरह से सेमिनार में या फिर पढ़ाने।'

एजाज़ साहब के अमेरिका जाने के लगभग साल भर बाद पंकज जी गुज़र गये। मेरा मन किसी काम में नहीं लग रहा था। लेकिन पंकज जी के रहते हुए ही मुझे पेरिस के सोशल साइंस फ़ाउंडेशन से पोस्ट–डॉक्टोरेट फ़ेलोशिप मिल गयी थी। पहले मैंने सोचा था, बच्चों को छोड़कर नहीं जा सकती, लेकिन मेरे मित्रों ने कहा, जाना ही सही रहेगा। काम में ख़ुद को मशरूफ़ कर लो, कुछ लोगों ने कहा। पंकज जी की छोटी बहन मीनू जी को मैंने दिल्ली में बच्चों के साथ आकर रहने का आग्रह किया और मैं तीन महीने के लिए पेरिस चली गयी। एजाज़ साहब को पंकज जी के गुज़रने की ख़बर मैंने ई-मेल से दे दी थी। मेरे लिए और मेरे बच्चों के लिए वे करुणा से भर गये थे। फिर इस फ़ेलोशिप के बारे में बताया तो वे आश्वस्त हुए। बोले, 'ज़रूर जाना चाहिए तुम्हें और अपना काम करना चाहिए।' कृष्णा सोबती के *'ऐ लड़की'* और *'मित्रो मरजानी'* पर यह शोध होना था। जब मेरा पहला सेमिनार इसी सिलसिले में 'लाइब्रेरी ऑफ़ सिविलाईजन' पेरिस में होना था, मैंने अपना पर्चा एजाज़ साहब को भेजा। दो दिन के भीतर लंबी टिप्पणी के साथ उन्होंने जवाब दिया। मुझे बहुत अच्छा लगा। कितनी सिंसियरिटी थी उनमें, कितने बड़े इंसान थे वे! उनके भीतर करुणा का सागर जैसे हिलोरे लेता रहता था और दिमाग़ अपनी बौद्धिक सख़्ती में सॉलिड बना रहता था। ऐसी बौद्धिकता और ऐसी मानवीयता! एजाज़ साहिब ऐसे ही थे। 'एक गुलाब के फूल' की तरह सुंदर और सुगंधित-अच्छाइयों का ख़ज़ाना!

2016 में पेरिस से लौटने के बाद, मैं 2019 के आख़िर में कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय गयी, सेंटा बारबरा कैंपस, इंटरनेशनल हरबर्ट मारक्यूज़ सोसायटी के अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार में शिरकत करने। मैंने उन्हें जाने से पहले बताया - वे बहुत प्रसन्न हुए। कहा उनके डिपार्टमेंट (यानी डिपार्टमेंट ऑफ़ कॉम्पेरेटिव लिटरेचर, अरवाइन, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया) में भी मेरा एक लेक्चर होना चाहिए। मैंने कहा, जेंडर के मसले पर बातें कर सकती हूं। ऐसा ही हुआ। पहले अपने सेमिनार में पर्चा पढ़ने के तुरंत बाद, मैंने सेंटा बारबरा से ट्रेन ली और अरवाईन पहुंची, जहां एजाज़ साहब वाइस चांसलर प्रोफ़ेसर थे, वह चेयर पहले देरिदा को मिली थी। एजाज़ साहब अमेरिकन यूनिवर्सिटी के आलोचक होने के बावजूद एक मूल्यवान इंटेलेक्चुअल के रूप में स्वीकृत तो थे ही। ट्रेन से उतरने के बाद मैंने देखा, वे खड़े मेरा इंतज़ार कर रहे थे। मैं कुछ ही घंटों के लिए अरवाईन में थी, इसलिए सीधे उनके साथ उनके कैंपस पहुंची, उनके छात्रों से मिली और जिस विषय पर बोलना था, उस पर बातचीत करने के बाद हम लोग लंच के लिए एक छोटे से रेस्तरां में गये। मुझे एक दिन के लिए अपनी अमरीकी कवि मित्र, मारगरेट ऊटे सेन से शाम को मिलने का अनुबंध था। थोड़ी देर हम लोग, एजाज़ साहब और मैं, साथ रहे, एक दूसरे का हाल चाल लिया, एक छोटा सा तोहफ़ा उनके लिए लिया था, सो उन्हें सौंपा। फिर अनायास ही मुंह से निकला- शायद यह हमारी आख़िरी मुलाक़ात हो कामरेड!

एजाज़ साहब भावुक हो गये। 'ना' में सिर हिलाया, बोले कुछ नहीं। तभी मारगरेट, मेरी दोस्त अपनी गाड़ी लेकर आ गयी। मैंने दोनों को मिलवाया, फिर एजाज़ साहब से विदा ले मारगरेट के साथ उसके घर के लिए चल पड़ी-ऑरेंज काऊंटी। रात को डिनर के साथ उसने कविता पाठ रखा था, वहीं के स्थानीय कवि आये। कविता पाठ के दौरान भी मैं एजाज़ साहब का भावुक चेहरा याद करती रही। बीच में एक वाक्य उन्होंने यह भी कहा था, 'यहां बहुत अकेलापन है। पत्र लिखते रहना।'

मारगरेट के घर रात में सोने जाने से पहले मैंने पूरी शाम का विवरण उन्हें लिख भेजा। पेरिस में भी जब मैं थी, ई-मेल से लिखते थे] 'गिव मी योर फुल रिपोर्ट।' मतलब होता एक-एक बात का ज़िक्र-किस म्यूज़ियम में गयी, कौन सी पेंटिंग्स देखीं, कहां खाया, सेन नदी के किनारे कब गयी, तस्वीरें लीं या नहीं इत्यादि। मुझे यह उन्होंने बता दिया था कि जहां मैं पेरिस में रह रही थी, मेजों सुजेर, वहां बेसमेंट में एक रेस्तरां हुआ करता था, जहां प्याज का सूप मिलता था। दूसरे दिन जाकर मैंने देखना चाहा कि अनियन सूप अब भी उनके मेन्यू पर था या नहीं? वह था। जब मैंने एजाज़ साहब को बताया तो वे बहुत प्रसन्न हुए। बोले जाकर एक दिन पीना, यह सूप अतुलनीय है। उनकी रुचि इस संसार में उसके पदार्थ रूप में कितनी थी यह इसी से जाना जा सकता है कि खान पान की अच्छी जगहों को ढूंढ़ना

उनके लिए उत्सुकता से भरी सहज बात हुआ करती थी। मारगरेट के घर पर भी मुझे खाने पीने की अद्भुत चीज़ें पेश की गयीं। उनका भी ज़िक्र मैंने अपने नोट में उन्हें लिख भेजा।

जब दूसरे दिन मुझे दिल्ली के लिए रवाना होना था, मैंने उन्हें अलविदा कहने के लिए एक छोटा सा संदेश भेजा, 'तब तक के लिए अलविदा जब तक नहीं मिल सकेंगे'। एजाज़ साहब ने लिख भेजा, 'तब तक के लिए...।' दिल्ली आने के बाद जीवन फिर अपने पुराने ढर्रे पर चलने लगा। बीच में एजाज़ साहब का संदेश आया, 'अपना पेरिस में किया गया शोध छपा लेना चाहिए तुम्हें, यहां आने के लिए लगातार छपना होगा तुम्हें'। मैंने ऐसा ही किया। उस शोधपत्र को कई हिस्सों में छपवाया। मैंने उन्हें ख़ुशख़बरी दी, 'मैं हरबर्ट मारक्यूज़ सोसायटी के बोर्ड ऑफ़ डायटरेक्टर में शामिल होने के लिए आमंत्रित की गयी हूं'। उन्होंने लिखा 'एक्सीलेंट, मस्ट टेक इट', फिर जब बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर की 'को-चेयर' बनने का निमंत्रण आया, मैंने फिर एजाज़ साहब को बताया, फिर वही मैसेज, 'एक्सीलेंट, एक्सेप्ट कर लो'। जब राय भास्कर के साथ मेरी किताब, *रियलिटी एंड इट्स डेप्थ : ए कन्वर्सेशन बिटवीन सविता सिंह एंड राय भास्कर*, स्प्रीगर प्रकाशन, सिंगापुर, से छपने लगी, तो उसका ब्लर्ब मेरे पास आया देखने और जांचने के लिए। मैंने एजाज़ साहब को भेजा, उन्होंने तुरंत उसमें एक ग़लती निकाल दी, फिर उसे सुधारा गया। कुछ इस तरह मेरी बौद्धिक दुनिया में वे शामिल रहे। मुझे अपने अपार स्नेह से कभी वंचित नहीं होने दिया। जब पूरी दुनिया पर कोरोना ने क़हर ढाया, उन्होंने मुझे कई लेख भेजे जिससे इस महामारी की गंभीरता समझ में आयी। मैं उनको लिखती रही, 'बच कर रहिएगा' वे मुझे लिखते रहे 'बच कर रहना'।

लेकिन मृत्यु से कोई अंतत: कब बच पाता है। इधर जब छह महीने से उनके पत्र आने बंद हो गये, तब मुझे चिंता हुई। मैंने दो तीन ई मेल उन्हें लिखे – 'गिव मी योर न्यूज़' कोई जवाब नहीं आया। अंतत: दस मार्च को रावी, उनकी बेटी का ईमेल आया, एजाज़ साहब के ही आई डी से, कि वे इस दुनिया से जा चुके। रावी ने लिखा कि अंत में उन्होंने एक ही बात कही अपने बच्चों से- 'मुझे इस दुनिया में बहुत प्यार मिला। मैं सबका शुक्रगुज़ार हूं'। अब मैं कैसे उन्हें संदेश दूं कि मुझे भी इनका बहुत प्रेम मिला और इस पूरे जीवन में सदा उनकी आभारी रहूंगी।

मैंने रावी को ही लिखा, तुम्हारे पिता एक सुंदर गुलाब के फूल थे और उन्हें उनके दोस्त, उनके कामरेड ऐसे ही याद करेंगे, उनके बारे में लिखेंगे, अपनी किताबें उन्हें समर्पित करेंगे।

अलविदा तो उन्हें मैं अब भी नहीं कह रही, जैसे उन्होंने कभी नहीं कहा। 'ना' में सिर हिलाते रहे तो मैं भी उन्हें पढ़ते हुए उनसे मिलती रहती हूं। वे कहीं नहीं गये, अपने लोगों के बीच में ही हैं। मुझे उनकी यह बात हमेशा याद रहेगी कि लिखते-पढ़ते, समझते-समझाते 'यह संसार उतना बुरा भी नहीं है, इसे बस और ठीक करने की ज़रूरत है और सुंदर बनाने की ज़रूरत है। इसके लिए संघर्ष करना चाहिए।' उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि यही है कि हम संघर्ष करेंगे ही, करते रहेंगे अपने लेखन से, विचारों से और जीवन की तमाम गतिविधियों में यह दिखेगा भी।

आरण्यकों में क़ैद जंगल
पुराणों में शताब्दियां
लौटती हूं तुम में शाल वन
ठहरा आयी थी जहां अपने प्रिय चिंतकों को
जो खड़े होंगे अब भी
रूसो मार्क्स रोज़ा लक्ज़म्बर्ग
सुनते हुए बग़ल के शीशम के जंगल से
आती हवा की सरसराती आवाज़

(सविता सिंह: 'खोयी चीज़ों का शोक')

इन सब लोगों में एजाज़ साहब भी अब शामिल हो गये हैं जिनकी आवाज़ अब भी सुनी जा सकती है शीशम के पत्तों से लगकर जो आती है। एक रात जो अब भी छायी है, ग़नीमत है साथ में हवा भी लायी है। जिसकी आवाज में जीवन की सरसराहट है।

मो. 9891233848

उम्मीद और उदासी का अफ़साना: एजाज़ अहमद

सुधन्वा देशपांडे

इन थियरी: क्लासेज़, नेशंस, लिटरेचर्स एजाज़ अहमद की मशहूरे-ज़माना किताब रही है। मगर ताज्जुब की बात ये है कि यह उनकी एकमात्र किताब है। यूं तो चार और किताबें हैं जो उनके नाम से जानी जाती हैं; मगर वे सब उनके लेखों के संकलन हैं। इनमें से एक किताब, *लिनिएजेज़ ऑफ़ द प्रेज़ेंट*, दो देशों में अलग अलग संस्करणों में छपी थी, और दोनों की विषय सूची एक-दूसरे से कुछ हद तक अलग दिखायी पड़ती है। फिर तीन किताबें उनके संपादन में छपीं। इनके अलावा एक किताब उनकी संपादित वार्ताओं की किताब है। व्यापक अंतरराष्ट्रीय अपील और असर वाले अव्वल दर्जे के ऐसे चिंतक के लिए ये उत्पादन बहुत मामूली मालूम पड़ेगा।

दरअसल, एजाज़ अहमद को निबंधकार या लेखों का माहिर कहना ज़्यादा बेहतर होगा। वो किताबों के लेखक थे ही नहीं। उन्होंने बेशुमार लेख लिखे। ये सिलसिला उर्दू से शुरू हुआ और फिर अंग्रेज़ी में अपने शिखर पर पहुंचा। उन्होंने पाकिस्तानी राज्य के वर्ग चरित्र; तीसरी दुनिया के समाजों में 'मझौले वर्गों' की भूमिका; हिंदुत्व के उदय को समझने में ग्राम्शी की प्रासंगिकता; साम्राज्यवाद और वैश्वीकरण; भाषा और साहित्य; मार्क्सवादी सिद्धांत; उत्तर-आधुनिकता, उत्तर-उपनिवेशवाद और दीगर 'उत्तर-परिस्थितियों'; 9/11 के बाद साम्राज्यवादी युद्ध; समूची बीसवीं सदी की दिशा और रुझान; कम्युनिस्ट स्ट्रेटेजी व टेक्टिस... और तमाम मुमकिन विषयों पर हमारी समझ को अपनी पैनी नज़र और क़लम की नोक से संवारा है।

इन थियरी 1992 में छपी थी; मगर इसके लिखने का सिलसिला पिछले तीन सालों में फैला हुआ था। ये सोवियत संघ के विघटन के ऐतिहासिक क्षण में लिखी गयी किताब है। इस किताब में अमेरिकी मार्क्सवादी चिंतक फ्रेड्रिक जेमसन, फ़िलिस्तीनी सिद्धांतकार एडवर्ड सईद और ब्रिटिश उपन्यासकार सलमान रश्दी की समालोचना पर केंद्रित तीन अध्यायों ने एजाज़ अहमद को बौद्धिक जगत में एक चमकते सितारे की हैसियत अता कर दी थी। इन समालोचनाओं से किताब का मुख्य गठन तय हुआ है; मगर इसकी रीढ़ कहीं और है। इस किताब का धड़कता दिल है, बीसवीं सदी को द्वंद्वात्मक नज़र से देखने का उनका सलीक़ा और सुघड़ता। एजाज़ अहमद की नज़र में बीसवीं सदी का दौर, तीन विराट प्रक्रियाओं – साम्राज्यवादी विस्तार; अनौपनिवेशीकरण और राष्ट्रीय मुक्ति; और समाजवाद के लिए संघर्ष – का दौर था। जिस वक़्त दुनिया भर के सिद्धांतकार समाजवाद और मार्क्सवाद के ही नहीं बल्कि ख़ुद इतिहास के अंत का ऐलान कर रहे थे, उस समय एजाज़ अहमद ने अपना ये शाहकार पेश किया जिसमें उन्होंने पुख़्ता सुर में कहा कि मार्क्सवाद न केवल आज भी प्रासंगिक है, बल्कि यही एक ज़रिया है जो दुनिया की द्वंद्वात्मक समग्रता की एक विश्वसनीय व्याख्या पेश कर सकता है।

एजाज़ अहमद ने विजय प्रशाद को दिये अपने इंटरव्यू में कहा था कि उत्तर-मार्क्सवाद असल में प्राक्मार्क्सवाद है – यह उस आदर्शवाद की वापसी है जिसे पार करके मार्क्स आगे निकल गये थे। लेनिन ने बड़े सटीक शब्दों में कहा था कि मार्क्सवाद में तीन धाराएं समायी हुई हैं – इंग्लिश राजनीतिक अर्थशास्त्र, जर्मन दर्शन और फ्रांसीसी समाजवाद। एजाज़ अहमद ने लेनिन को पूरी संजीदगी से लिया और इन तीनों दायरों में गहरे उतरते और ख़ुद को निखारते चले गये। इन तीन चीज़ों के साथ उन्होंने साहित्य की भी ख़ूब परख और विद्वत्ता हासिल की। वे ऐसे दुर्लभ बुद्धिजीवियों में से थे जो राजनीतिक अर्थशास्त्र, राजनीति, साहित्यिक सिद्धांत और दर्शनशास्त्र, हर विषय पर समान अधिकार के साथ बोल सकते थे।

मैंने 'बोलना' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया है। बात ये है कि जब अस्सी के दशक के मध्य में वे भारत आकर रहने लगे तो देखते-देखते भारतीय वामपंथी बुद्धिजीवी और राजनीतिक दृश्य का अभिन्न हिस्सा बन गये थे। जब भी किसी वामपंथी संगठन की तरफ़ से बोलने का न्यौता आता तो वे इनकार नहीं करते थे। बहुत जल्द ही वे माकपा, ख़ासतौर से प्रकाश करात के बेहद नज़दीक आ गये थे। इसी दौरान वे माकपा द्वारा शुरू किये गये प्रकाशन संस्थान लेफ्टवर्ड बुक्स से भी जुड़े और प्रबीर पुरकायस्थ द्वारा शुरू किये गये मीडिया पोर्टल *न्यूज़क्लिक* में भी लगातार योगदान देते रहे। एजाज़ अहमद ने *फ्रंटलाईन* में तो इतना कुछ लिखा है कि उसका ज़िक्र करने की ज़रूरत भी नहीं है।

एजाज़ अहमद के भारत में आने से भारतीय मार्क्सवादी चिंतन में एक नया पैनापन आ गया था। उन्हें कभी-कभी इस बात का मलाल भी होता था कि भारतीय मार्क्सवादी – जिनमें से बहुत सारे बिला शक अव्वल दर्जे के विद्वान हैं – आमतौर पर

सिर्फ़ और सिर्फ़ भारत के बारे में बात करते हैं। उनके मुताबिक़, तीसरी दुनिया के दूसरे इलाक़ों और देशों के साथ उनका परिचय अक्सर आधा-अधूरा और लगभग हमेशा पश्चिम से आने वाले लेखन व सामग्री पर आधारित होता है। एक बार बात करते हुए उन्होंने मुझे कहा था कि 'आरएसएस का भारत में गठन उसी समय हुआ जिस समय मिस्र में मुस्लिम ब्रदरहुड का गठन किया गया था (क्रमशः 1925 और 1928)। इन दोनों ने राजसत्ता को नियंत्रण में लेने के लिए संस्कृति के रूपांतरण की अपनी परियोजना में गहरे धीरज का परिचय दिया है। इसी लिहाज से वे यूरोपीय फ़ासीवादियों से बिल्कुल भिन्न हैं जोकि सत्ता को क़ब्ज़े में लेकर संस्कृति को बदलना चाहते थे। मुझे ये बात समझ में नहीं आती कि भारतीय मार्क्सवादी मध्य-पूर्व के आंदोलनों का लगातार और संजीदगी के साथ अध्ययन क्यों नहीं करते।' अपनी इन्हीं बेचैनियों के साथ वे भारतीय परिदृश्य में शामिल होते चले गये और वे मार्क्सवादी रूपरेखा के अनुसार सैद्धांतिक चिंतन-मनन और अध्यापन में जुट गये।

'बुद्धि की निराशा, इच्छा का आशावाद', यह रोमा रोलां का ध्येय वाक्य था जिसे ग्राम्शी ने अपनाया। इसे एजाज़ अहमद का भी ध्येय वाक्य मानने में कोई हर्ज नहीं है। 2008 में, ओबामा के राष्ट्रपति बनने के ठीक बाद किसी सिलसिले में उनसे बात हो रही थी। कहने की ज़रूरत नहीं कि ओबामा अश्वेत, पढ़े-लिखे, सुघढ़, सुसंस्कृत, हास्य-बोध से भरपूर आकर्षक युवा थे और उनके अभियान ने मज़दूर वर्ग को बड़े पैमाने पर आकर्षित कर लिया था। उनमें ऐसा क्या था जिससे आपको प्यार न हो जाये? मगर एजाज़ ने पेशगोई के अंदाज़ में तभी आगाह कर दिया था, 'देखिए, (ओबामा के अभियान में) श्वेत मज़दूर वर्ग भी खुलकर आगे आया है और उसने अभूतपूर्व संख्या में ओबामा को वोट दिया है, एक अश्वेत राष्ट्रपति को वोट दिया है। उसने रंगभेद से ऊपर उठकर वोट दिया है। लेकिन आप देखिएगा, अब इन्हीं लोगों को डेमोक्रेटिक पार्टी और ख़ुद ओबामा के हाथों इतना गहरा धोखा मिलेगा कि वे 180 डिग्री पलट कर धुर दक्षिणपंथ की झोली में जा गिरेंगे। इस तरह, अमेरिका का उदारवादी सत्ता प्रतिष्ठान श्वेत मज़दूर वर्ग को ख़ुद ही एक उपहार की भांति अमेरिकी दक्षिणपंथ को सौंप देगा।' आप देख सकते हैं कि उन्होंने ओबामा की पहली जीत के चंद दिनों के भीतर ही ट्रम्प जैसी परिघटना के उदय का अनुमान व्यक्त कर दिया था। मैंने कहा, 'आपसे तो बात करना ही मुहाल है। आप तो हमेशा हिम्मत तोड़ने की बात करते हैं।' तब उन्होंने सीधे मेरी आंखों में आंखें डाल कर और हल्की सी मुस्कराहट के साथ कहा था, 'सही कहा आपने। मार्क्सवाद कड़वा होता है क्योंकि वह सच बयान करता है।'

एजाज़ उन आख़िरी मुट्ठी भर लोगों में थे जो भारत और पाकिस्तान, दोनों मुल्कों को अपना देश मानते थे। उनकी पैदाइश उत्तर प्रदेश में हुई थी। 15 अगस्त 1947 को जब उनके क़स्बे में पहली बार आज़ाद तिरंगा फहराया गया तो अपने चाचा के कंधों पर चढ़कर छह साल का यह लड़का भी एक आज़ाद क़ौम के सपनों को हवा में ऊपर जाते देख रहा था। विभाजन के दौरान और उसके कुछ समय बाद उनके परिवार के कई हिस्से पाकिस्तान चले गये; मगर उनके माता-पिता नेहरूवियन भारत के सेक्युलर सपने में विश्वास रखते हुए यहीं डटे रहे। तो भी, पचास के दशक के मध्य तक आते आते उन्होंने भी यहां से कूच करना ही बेहतर समझा। मां बाप एजाज़ को दो साल के लिए यहीं छोड़ गये ताकि वे अपनी मैट्रिक की पढ़ाई पूरी कर सकें। इसके बाद वे भी लाहौर चले गये जहां उन्होंने कॉलेज में दाख़िला लिया। पाकिस्तान में उनकी सियासी सरगर्मियां बढ़ती गयीं और 1968-69 में उन्होंने छात्रों और मज़दूरों के विशाल आंदोलनों में भी हिस्सा लिया। इन्हीं आंदोलनों के फलस्वरूप अयूब ख़ान को इस्तीफ़ा देना पड़ा और सत्ता जनरल याहिया ख़ान के नेतृत्व में फ़ौज के हाथों में चली गयी। यहां से फ़ौजी शासन के हाथों छात्र कार्यकर्ताओं पर दमन का एक नया सिलसिला शुरू हुआ। नतीजा ये हुआ कि महज़ एक-डेढ़ दशक के भीतर एजाज़ को दूसरी बार अपना वतन छोड़ना पड़ा। वे अमेरिका चले गये जहां उन्होंने अपनी उच्च शिक्षा हासिल की। इसी क्रम में उन्होंने पीएच-डी में भी दाख़िला लिया; मगर कुछ ही दिनों के भीतर उससे पल्ला झाड़ लिया।

सन् 1972 में ज़ुल्फ़िक़ार अली भुट्टो के नेतृत्व में नागरिक शासन की बहाली हुई तो एजाज़ अहमद के लिए भी दोबारा पाकिस्तान लौटने का रास्ता खुल गया। वे जल्द ही पाकिस्तान पहुंचे और 1977 तक बार-बार पाकिस्तान आते-जाते रहे। 1977 में जनरल ज़िआ उल हक़ ने फ़ौजी तख़्तापलट के ज़रिये भुट्टो को पद से हटा दिया। अपना वतन नाम की शय एक बार फिर रेत की तरह उनकी मुट्ठी से फिसल गयी। उन्हें फिर अमेरिका ही में पनाह लेनी पड़ी; मगर, अपनी जड़ों की तरफ़ लौटने की चाह अस्सी के दशक के मध्य में एक बार फिर उन पर हावी हो गयी। इस बीच पाकिस्तानी बौद्धिक और रानजीतिक माहौल कुल मिलाकर बेजान हो चुका था। चुनांचे, उन्हें भारत में ही थोड़ी-बहुत उम्मीद और सकून दिखायी दे रहा था। मगर, उन्होंने पाया कि अब उन्हें भारत की नागरिकता नहीं मिल सकती थी क्योंकि उनका पासपोर्ट पाकिस्तान का था। भारत में रहने के लिए उन्हें थोड़े-थोड़े समय के लिए और ख़ास शहरों तक सीमित वीसा ही मिल सकता था। एक ऐसे दौर में, जब भारतीय बुद्धिजीवी लगातार अमेरिकी विश्वविद्यालयों में नौकरियां पाने के लिए हाथ-पांव मार रहे थे, एजाज़ अहमद ने वहां से वापसी का रास्ता चुना। उन्होंने पाकिस्तानी पासपोर्ट को छोड़ कर एक अमेरिकी पासपोर्ट बनवाया ताकि उन्हें एक अमेरिकी के तौर पर यात्रा संबंधी पाबंदियों के बिना लगातार पांच साल तक भारत में रहने का वीसा मिल सके। इसके फलस्वरूप, भारत आकर वे नेहरू मेमोरियल लाइब्रेरी में फ़ैलो के तौर पर काम करने लगे और बाद में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और जामिया मिलिया विश्वविद्यालय में पढ़ाते भी रहे। इसी दौरान वे टोरंटो, कनाडा स्थिति यॉर्क युनिवर्सिटी में विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। चूंकि वे पाकिस्तानी नागरिक रह चुके थे, इसलिए भारत की

नागरिकता का दरवाज़ा उनके लिए हमेशा के लिए बंद कर दिया गया था।

भारत में लगभग तीन दशक तक रहने के बाद, 2014 में मोदी की भाजपा के सत्ता में आने के बाद उनके लिए वीज़ा अवधि बढ़वाना दिन-प्रति-दिन कठिन होता चला गया। उस वक़्त वे युनिवर्सिटी ऑफ़ केलिफ़ोर्निया, इर्विन में कम्पेरेटिव लिटरेचर विषय के विज़िटिंग प्रोफ़ेसर थे और युनिवर्सिटी उन्हें फ़ुल टाइम नौकरी देना चाहती थी। भारत में वीज़ा के सवाल पर पैदा हो रही कठिनाइयों को देखते हुए उन्होंने यही बेहतर समझा कि युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलीफ़ोर्निया की नौकरी ले लें और वापिस अमेरिका चले जायें। अपनी ज़िंदगी के आख़िरी आठ साल उन्होंने वहीं, इसी आत्मनिष्कासन में बिताये।

ये एक दर्दनाक अहसास था। उन्हें भारत की याद किस क़दर सताती थी, कोई उन्हीं से पूछता तो जानता। एजाज़ से मेरी आख़िरी मुलाक़ात तब हुई जब विजय प्रशाद, मलयश्री हाशमी और मैं उनकी आख़िरी किताब, *नथिंग ह्यूमन इज़ एलियन टू मी* के लिए उनका इंटरव्यू रिकॉर्ड करने उनके यहां गये थे। जैसे ही हम उनके ड्रॉइंग रूम में दाख़िल हुए, मलयश्री ने फ़्रेंच खिड़की के बाहर झांक कर कहा, 'कितना सुंदर है!' इस पर एजाज़ बेलौस अंदाज़ में बोले, 'सोने का पिंजरा है बस।' इसी सोने के पिंजरे में आख़िरकार 9 मार्च 2022 को उन्होंने, निस्संदेह, भारत और क्रांति का सपना देखते हुए आख़िरी सांस ली।

ई मेल : sudhanva@leftword.com

O

मार्क्सवाद का महत्व ख़त्म हो जाने की दलील में जो संगे-मील गिनवाये जाते हैं वो पश्चिमी, तरक़्क़ीयाफ़्ता सरमायादारी की तारीख़ के संगे-मील हैं। इस नज़रिये के तहत अस्ल इतिहास मग़रिब का इतिहास है। यानी तरक़्क़ीयाफ़्ता सरमायादारी का, साम्राज्यवादी देशों का इतिहास है। वो अपनी दुनिया की बात करते हैं और ऐसे करते हैं जैसे सारी दुनिया की बात कर रहे हों, यानी जो भी उनका माज़ी है, उसी को हमारा मुस्तक़बिल और मुक़द्दर समझा जाता है। अब आप ज़रा सोचिए कि मार्क्सवाद का महत्व ख़त्म हो जाने के सबूत में पारलिमानी जम्हूरियत की बात की जाती है तो अफ़्रीका और एशिया के कितने देश हैं जिनमें यह जम्हूरियत आयी है? और जहां आयी भी है, मसलन ख़ुद भारत के अंदर, वहां इस जम्हूरियत का हश्र क्या हो रहा है? अगर नाम कीन्स का लिया जाता है तो सवाल यह पैदा होता है कि 1930 के लगभग सरमायादारी के बोहरान (संकट) पर क़ाबू पाने के लिए जो आर्थिक ढांचा यूरोप और अमेरिका के लिए तजवीज किया गया था वो भारत जैसे देशों में आज तक मुमकिन भी है या नहीं ? क्या हमारे यहां कल्याणकारी राज्य कभी बना है या बन सकता है? हमारी अर्थव्यवस्था और हमारा समाज उत्तर औद्योगिक है या प्राक् औद्योगिक और अगर प्री-इंड्रस्टियल (प्राक्-औद्योगिक) है तो हमारे लिए उत्तर-औद्योगिक का क्या महत्व है?

—एजाज़ अहमद, 'आज के ज़माने में मार्क्सवाद का महत्व' से एक अंश

एजाज़ अहमद की यादें

गोपाल प्रधान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय पर गाहे बगाहे हमला करने वाले शायद ही कभी समझ सकेंगे कि उसकी दुनिया कितनी विराट है। उसमें देश दुनिया के तमाम क़िस्म के लोग बिना किसी आडंबर के खुलकर मिलते रहे हैं। उसके आसमान से हवाई जहाज़ जब गुज़रते हैं तो उनके साथ विचारकों की फ़ौज भी उतरती है। उन विचारकों के बारे में बोलते सुनते और सोचते हुए जो सात साल गुज़ारे उसका एक हिस्सा एजाज़ अहमद के नाम भी रहा। उनके भारत आगमन की ख़बर सबसे पहले ख़बरनवीसी की पढ़ाई करने वाले जितेंद्र यादव ने दी थी । साथ में राजीव गांधी की प्रशंसा भी कि उन्हें ले आये हैं।

वैश्वीकरण हो रहा था और वैचारिक आंधी में पैर टिकाना मुश्किल था। पतझड़ के पत्तों की तरह तमाम चित्र विचित्र नाम गिरते और हम भौंचक्का उन्हें याद रखने की चेष्टा में हलकान हुए रहते। कुछ नाम तो अब भी मज़ाक़ उड़ाने के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं मसलन इलाहाबाद के एक अध्यापक 'फूंको तापो' बोलते थे। एक मित्र देरिदा को दरिंदा कहते। जब एजाज़ की किताब, *इन थियरी* हाथ आयी तो इन नामों से बहस करने वाले को जानने की प्रबल उत्सुकता हुई । उनकी इस किताब में जिस तरह सबके साथ असहमति दर्ज की गयी थी वही अपना भी हाल था। इस मामले में मार्क्सवाद ग़ज़ब का साहस प्रदान करता है। सबके साथ टकराते हुए अपनी जगह बनाने की बेचैनी के हत्थे एजाज़ साहब भी चढ़ गये। उन्होंने उत्तरआधुनिकता के बहाने जिन लोगों के उल्लिखित नाम टपकाये जाते थे उनके साथ दो दो हाथ किये थे लेकिन उत्तरआधुनिक जनता नवजागरण को भी ख़ारिज करती थी। नवजागरण यानी स्वाधीनता आंदोलन। पेंच यह फंसा कि तीसरी दुनिया के सारे साहित्य को राष्ट्रीय रूपक की तरह देखने की जेम्सन की धारणा का खंडन करते हुए एजाज़ साहब स्वाधीनता आंदोलन के मुक़ाबले सामाजिक अंतर्विरोध पर कुछ अधिक ही बल दे बैठे थे । उनकी यह मान्यता सबअल्टर्न समूह के इतिहासकारों के पास जाती महसूस हुई। तो यह बात खटकती थी।

पश्चिमी नवजागरण की उत्तरआधुनिक आलोचना की अंधी नक़ल करते हुए हमारे देश में भारतीय नवजागरण की जो आलोचना शुरू हुई उसकी ज़द में हिंदी नवजागरण भी आ गया। हम सबके साहित्यिक बोध का निर्माण उस धारा ने किया था जिसमें हिंदी नवजागरण का ही विकास प्रेमचंद में हुआ जो प्रगतिशील लेखक संघ के स्थापना सम्मेलन के अध्यक्ष थे। प्रेमचंद की इस ख़ूबी को हम सभी रेखांकित करते थे कि उनमें सामाजिक मुक्ति के सवाल के साथ ही देश की स्वाधीनता की आकांक्षा भी पूरी ताक़त के साथ मौजूद है । हिंदी नवजागरण को प्रतिगामी मानने की हवा थोड़ी नयी है। उत्तरआधुनिकों का विरोध करते हुए भी हिंदी नवजागरण की प्रमुख धारा के बतौर स्वाधीनता की चेतना का प्रतिबिंब उपन्यास में न देखना खटकने वाली बात थी। उस समय कुछ परिचित लोग भी उत्तरआधुनिक धारा की निंदा भर्त्सना के साथ खड़े हुए। उनके साथ बहस के क्रम में कभी कभी एजाज़ साहब की भी आलोचना एकाध लेखों में हुई । सबअल्टर्न समूह के इतिहासकारों की आलोचना वे अपने लेखों और व्याख्यानों में इसलिए करते कि ये लोग जनता की पूजा के कारण सांप्रदायिक गोलबंदियों की आलोचना नहीं करते। साथ ही धर्मनिरपेक्षता को परायी धारणा समझने की उनकी आलोचना भी जायज़ लगती थी। इसके बावजूद इस समूह की आलोचना के प्रसंग में इन इतिहासकारों के विदेशी विश्वविद्यालयों में अध्यापन को उनकी आलोचना का एक बिंदु बनाना कभी रास नहीं आया। इससे तर्क की कमज़ोरी ज़ाहिर होती थी ।

इसी समय ज्ञानरंजन दिल्ली में जनेवि के विवाहितों के छात्रावास में आग्नेय जी के चलते आने लगे थे।

उन्होंने एजाज़ साहब का व्याख्यान त्रिवेणी सभागार में रखा। राजनीति इस क़दर घुसी थी कि उनके कार्यक्रम में त्रिवेणी सभागार के बाहर खड़ा रहा। वे एजाज़ साहब का मुद्रित व्याख्यान अतिथियों को वितरित करते रहे और हम कोई परचा। मुद्रित प्रति रख ली और भीतर न जाकर भी जो बोला गया था उससे अवगत हुए। इतनी साफ़ हिंदी थी कि अचरज हुआ क्योंकि न केवल उनकी किताब अंग्रेज़ी में थी और एकाध बार भारतीय भाषा केंद्र में बोलने आये तो जो लिखित पाठ मिलता वह भी अंग्रेज़ी में ही होता, बल्कि वामपंथी बौद्धिकों की इस भाषा समस्या को हम हिंदी क्षेत्र में उनके प्रसार की बाधा भी मानते थे । यहां मार्क्सवाद के महत्व के बारे में हिंदी में मुद्रित तो था ही, भाषण भी हिंदी में ही हुआ था। सैद्धांतिक गुत्थियों की बात भी हिंदी में छपी और बोली जा सकती थी! बाद में उनके साक्षात्कार की किताब में हमने उनकी भाषा संबंधी दुविधा की बाबत पढ़ा। अमेरिका में रहते समय वे उर्दू के लेखक बनना चाहते थे और भारत आने के बाद उन्हें अंग्रेज़ी का लेखक बनना पड़ा! इस विडंबना के बारे में गंभीरता से विचार होना चाहिए । इस सवाल को खोलने से मज़ेदार पहलू उभर सकते हैं कि आख़िर वह कौन सी चीज़ है जो पश्चिम में रहते हुए भारतीय भाषाओं के स्रोत की ओर खींचती है और भारत में आते ही अंग्रेज़ी की ओर ।

उनके लेखन में भावावेग था और जीवन भर यह बात उनके लेखन से लगी रही कि पढ़ते हुए ठंडे गद्य के पाठ का अहसास नहीं होता। पक्षधर गद्य के विवादी आवेश की मौजूदगी उनके लेखन में ताउम्र बनी रही। उनके लेखन और व्याख्यानों की यह सबसे बड़ी ख़ूबी थी । इस ख़ूबी के साथ लगी लिपटी ख़ामी भी आ गयी थी। उनकी पक्षधरता ठोस राजनीतिक पक्षधरता थी। भारत में रहते हुए उन्होंने खुद को माकपा के साथ जोड़े रखा। राजनीतिक पार्टी की नीतियों और फ़ैसलों में बहुत कुछ तात्कालिक दबावों से उपजता है। इनके पक्ष में तर्क खोजने में कई बार मुश्किल आती है। याद है जब पार्टी ने केंद्र में सरकार की अगुआई का प्रस्ताव ख़ारिज किया था तो एजाज़ साहब ने उसके समर्थन के लिए ग्राम्शी की वर्चस्व की धारणा को खड़ा किया था। उनका यह पक्ष हमेशा परेशान करता रहा। राजनीतिक प्रतिबद्धता का यह पक्ष एक हद तक उनकी बौद्धिक खोज की सीमा बना रहा।

बहरहाल उत्तरआधुनिकों में देरिदा की किताब, *मार्क्स के प्रेत* के साथ उनका विवाद भी हमें ख़ासा आकर्षित करता था। ज्ञान जी ने *पहल* में इस विवाद को मूल पाठों के संक्षिप्त हिंदी अनुवाद के साथ छापा था। अनुवाद ललित कार्तिकेय का था। सुधीश के बाद उत्तरआधुनिक शब्दावली का सबसे सहज व्यवहार ललित कार्तिकेय ही करते थे। उस पदावली के साथ जूझने का मानसिक इतिहास दर्ज किया जाना चाहिए जब हमारे जैसे तमाम विद्यार्थी 'बूझो तो जानें' की मुद्रा में लिखे गद्य का भावानुवाद दिमाग़ में करते रहते थे। कुछ ने समझने की ज़हमत उठाये बिना जैसे तैसे अनुवाद को अपना लिया था और उसी भाषा की अनुकृति कक्षा और लेखन में करते रहते थे। बेहद मुश्किल भरे दिन थे वे। हिंदी क्षेत्र की पृष्ठभूमि से आये हम ऊबचूब होते रहते। देरिदा के साथ इस विवाद के अनूदित पाठ में व्यंग्य का लालित्य मौजूद था। उसकी एक बात स्मृति में अटकी है। एजाज़ साहब ने कहा कि सोवियत संघ के पतन के बाद बौद्धिक दिग्विजय की आशा उत्तरआधुनिकों को थी लेकिन चैंपियन बन गये फ़ुकुयामा !

इसके बाद का दौर अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरोध में उनके लेखन का है। इन लेखों के बारे में सूचना मिलती थी लेकिन बौद्धिक बहसों के स्वाद से परिचित मन इनकी ओर आकर्षित न होता। बाद में उनके उल्लिखित साक्षात्कार के ज़रिये जाना कि उस समय ही साम्राज्य स्थापना की अमेरिकी मंशा को उन्होंने पहचान लिया था। इस आलोचना में एजाज़ साहब ने विश्व सामाजिक मंच से लेकर तमाम नये चिंतकों की शब्दावली का भी बिना किसी संकोच के उपयोग किया। उदाहरण के लिए इतालवी नेता अंतोनियो नेग्री ने वैश्वीकरण विरोधी जुटान को अभिव्यक्त करने के लिए मल्टीच्यूड की धारणा का इस्तेमाल किया। इसे हम सभी वर्ग की कोटि के विकल्प की हताश कोशिश का अंग समझते थे लेकिन एजाज़ साहब ने खुलकर इस शब्दावली का उपयोग किया है। इसी तरह तीसरी दुनिया की शब्दावली के मुक़ाबले उन्होंने 'ट्राइकांटिनेन्टल' की शब्दावली को अपनाने से भी परहेज़ नहीं किया। फिर भी जिस मसले में उनकी गति नहीं थी उसे साहस के साथ स्वीकार किया। साक्षात्कार की किताब में चीन के बारे में कुछ भी ठोस बोलने से उन्होंने इसीलिए इनकार किया कि उन्हें उस समाज की भीतरी ख़बर न थी ।

समसामयिक राजनीतिक घटनाक्रम, बौद्धिक और वैचारिक दुनिया तथा साहित्य के तिहरे मोर्चे पर वे ताउम्र मार्क्सवाद की धरती पर खड़े होकर विजातीय तत्वों से लड़ते रहे। इस लड़ाई में वे कभी ठहरे नहीं, लगातार गतिमान

रहे। उनकी यही गति उन्हें हमेशा पुनर्नवा करती रही। एकाधिक बार इसी गतिशीलता के चलते वे थोड़ा अतिवादी भी हो गये। उदाहरण के लिए, उनके साक्षात्कार की उल्लिखित किताब में फ़ासीवाद की यात्रा के संदर्भ में वे आपातकाल के लगभग समर्थन में चले जाते हैं। सिद्धांत के मुक़ाबले समसामयिकता बहुधा उनके चिंतन को प्रभावित करती रही। इसे कमज़ोरी मानने की जगह उन्होंने मार्क्स के लेखन को भी इससे प्रभावित कहा और उन्हें भी अपनी स्थिति के समर्थन में खड़ा करने का प्रयास किया। फिर भी यह तात्कालिकता उनसे कुछ निर्गुण वक्तव्य दिला ले जाती है। मसलन वे कहते हैं कि सबको उनके लायक़ फ़ासीवाद मिलता है। इस वक्तव्य से कुछ भी साबित नहीं होता। इसे यथास्थिति के वैधीकरण की तरह भी देखा जा सकता है। यह बात फ़ासीवाद के साथ ही लोकतंत्र या किसी भी दीगर चीज़ के लिए कही जा सकती है। इन सबके बावजूद भारत में जन्मे, पाकिस्तान में जवान हुए और पश्चिमी विद्वत्ता की मुख्य धारा में मौजूद उनकी समूची जीवन यात्रा सचमुच बेहद प्रेरक और स्पृहणीय है। जनता के हितों से प्रतिबद्धता और पूंजी के जनविरोधी शासनतंत्र की मुख़ालफ़त उनके समूचे अवदान को विशेष रूप प्रदान करते हैं।

मो. 9560375988

○

दुनिया के उन करोड़ों लोगों पर क्या बीतेगी जिन्होंने अपनी-अपनी तक़दीरें सोशलिज़्म से बांधी हुई हैं? क्या वही कुछ बीतेगा जो आज रूस की जनता पर बीत रहा है? ये हमारी दुनिया के - हमारे ज़माने के - अहमतरीन सवालात हैं जिनसे कोई सच्चा, कोई खरा अदीब आंख नहीं चुरा सकता, और इन सवालों के उत्तर का आधुनिकतावाद के साथ कोई संबंध नहीं है। ख़ुद भारत के अंदर जो मसाइल हमें आज दरपेश हैं, यानी –

1. उस भारी साम्राज्यवादी दबाव का मस्ला, जिसे हमारी बुर्जुवाज़ी उदारीकरण (लिबरलाइज़ेशन) भूमंडलीकरण (ग्लोबलाइज़ेशन) वग़ैरह कहती है;
2. सांप्रदायिकता का मस्ला;
3. यह मस्ला कि आज़ादी के बाद जो जम्हूरी और लोकतांत्रिक इदारे हमारे यहां बने थे वो ज़्यादा मज़बूत होने के बजाय अंदर ही अंदर खोखले होते जा रहे हैं और टूट रहे हैं।

ये तीनों सवाल जो मिलकर इस देश में एक फ़ासिस्ट ख़तरा बन रहे हैं - मैं समझता हूं कि इन मस्लों से निपटने के लिए जिस जनवादी और लोकतांत्रिक क़ौमी एकता की ज़रूरत है, जिस सोच की, आर्ट और अदब की, और राजनीति की ज़रूरत है, इसके मर्कज़ पर वो साम्राज्यवादविरोधी, सेक्यूलर, रोशनख़याल और प्रगतिशील आंदोलन ही हो सकता है जिसका रंग निखारने और चोखा करने में पिछले कमोबेश सत्तर साल के दौरान मार्क्सवाद ने इस देश में बहुत अहम और कहीं-कहीं तो बिलकुल मर्कज़ी किरदार (भूमिका) अदा किया है।

—एजाज़ अहमद, 'आज के ज़माने में मार्क्सवाद का महत्व' से एक अंश

हिंदुस्तान की तामीर

एजाज़ अहमद

सरज़मीने हिंद पर अक़वाने आलम के फ़िराक
क़ाफ़िले बसते गये, हिंदोस्तां बनता गया।

--रघुपति सहाय फ़िराक गोरखपुरी

मैं यहां चार सवाल करना चाहूंगा :

1. हमारी सभ्यता के इतिहास में वह कौन-सी चीज़ है, जिसने भारत को भारत बनाया?

2. ऐतिहासिक गहनता ने किस तरह खुद उस उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन को एक रूप दिया, जब वह विदेशी शासन के ख़िलाफ़ खड़ा हुआ और किस तरह उसने हमारी सभ्यता को एक ख़ास क़िस्म का राष्ट्रीय चरित्र प्रदान किया?

3. 1947 में एक आज़ाद, प्रभुतासंपन्न राष्ट्र-राज्य वजूद में आया और भारत की जनता ने 1950 में स्वयं को एक *संविधान* प्रदान किया, जिसमें गणतंत्र की कल्पना की गयी थी। यूरोपीय अर्थ में एक राष्ट्र-राज्य की कल्पना ही नहीं की गयी थी, बल्कि देश को भारी सांस्कृतिक और क्षेत्रीय विविधताओं से संपन्न जातीयताओं के एक संघ के रूप में भी समझा गया था। तब हमारे गणतंत्र के निर्माताओं की दृष्टि किस तरह की थी?

4. आज नवउदारवादी आर्थिक नीति और बहुसंख्यक सांप्रदायिकता का संयोग उस समझ को ही मटियामेट करने पर आमादा है जो राष्ट्रीय और यहां तक कि सभ्यता के स्तर पर भी, स्वयं के बारे में हमारी बुनियादी समझ रही है। तो ऐसे समय में भारतीय संस्कृति के निर्माण और पुनर्निर्माण के बारे में किस तरह की शक्तियां आपस में टकरा रही हैं?

हमारी अद्वितीय सभ्यता तब भी स्पष्ट रूप से भारतीय दिखायी देती है जबकि वह न तो एक साझी भाषा से जुड़ी हुई है और न एक साझा धर्म या प्राचीन प्रजातीय पौराणिकता उसे बांधे हुए है। तो हम यहां के लिए भौतिक उत्पादन की उन बेपनाह लंबी और बेहद पेचीदा प्रक्रियाओं पर तथा सांस्कृतिक संरचनाओं पर भी विचार कर सकते हैं।

भारत की सांस्कृतिक एकता को अभिजातवादी सिद्धांत एक ऐसी महान परंपरा की देन मानते हैं, जिसका सारतत्व सिंधुपारी हिंदू सामाजिक व्यवस्था के ब्राह्मणवादी विचारों में और प्राचीन संस्कृत के आदर्शमुखी ग्रंथों में निहित है। दूसरी तरफ़ इस सभ्यता के अंदर मौजूद विविधताओं को बहुत सारी लघु परंपराओं के घात-प्रतिघात से उत्पन्न माना जाता है और इन परंपराओं को स्थानीय, अस्थिर और आपसी निरंतरता से रहित माना जाता है। प्राच्यवादी ज्ञान परंपरा और उच्च जातीय भारत विद्या में आमतौर पर समाहित यह महिमामंडित छवि इस महान परंपरा को पूरे मध्यकाल के दौरान वर्चस्ववादी क़रार देती है, जिसे व्यापक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त थी, जो इतनी शक्तिशाली थी कि विरोध की तमाम आवाज़ों को दबा सके और फिर भी इतनी उदार थी कि ढेरों लघु परंपराओं की स्थानीय विविधताओं को अपने साथ जगह दे सके। इस तर्क का एक निष्कर्ष यह भी है कि जहां बौद्ध मत से लेकर सिख मत तक भारत के अंदर पैदा होने वाले विरोध को इस बृह्द या महान परंपरा ने एक जगह दी, वहीं बाहर से आने वाले धार्मिक विश्वास, ख़ासतौर से इस्लाम और ईसाइयत, इस बृह्द परंपरा से तालमेल नहीं बिठा सके और इस तरह भारतीय समाज में हमेशा विजातीय तत्त्व ही बने रहे। जैसा कि हम देख सकते हैं, वृहद् परंपरा की यह महिमामंडित

समझ किस प्रकार आसानी से तंगनज़र बनकर अंततः एक आधुनिक सांप्रदायिक दृष्टि का रूप ले लेती है।

मध्यकालीन भारत के आरंभिक भाग तक के संदर्भ में आधुनिक ज्ञानदृष्टि, ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था और संस्कृत प्राचीनतावाद की व्यापक स्वीकृति और उनके अबाध वर्चस्व के इस विचार को, एक बड़ी हद तक चुनौती देती है। लगता है कि आध्यात्मिक वर्चस्व की प्रमुख व्यवस्थाओं के प्रतिरोध का स्वर और उसकी निरंतरता प्राचीन काल से ही इस सभ्यता की एक उल्लेखनीय विशेषता रही हैं। ब्राह्मणवादी तत्व-मीमांसा का एक केंद्रीय तत्त्व रहा है वर्णाश्रम धर्म, लेकिन लगता है कि प्राचीन भारत में इसकी विचारधारा मुख्य रूप से समाज में प्रभुत्वशाली ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों पर ही हावी रही है। ऐसा लगता है कि दस्तकारों और काश्तकारों के अनेक स्तर और इसी तरह पशुपालक और आदिवासी समूह विशेषाधिकारी वर्गों से अलग रहे हैं। उनकी पवित्रतावादी विश्वदृष्टि बिल्कुल ही भिन्न विश्वास-प्रणालियों से बनी और इसलिए भौतिकवादी दर्शन की ओर अधिक झुकी हुई रही है। इस दर्शन का प्रतिनिधित्व लोकायत संप्रदाय करता है, जिसके बारे में बदनसीबी से हमारा ज्ञान बहुत कम है। फिर भी बौद्धमत के उत्थान की ऐतिहासिक दशाओं के बारे में इतना तो हम जानते ही हैं कि इसके बारे में कुछ विश्वसनीय अनुमान लगा सकें। मसलन यह कि बौद्धमत में ब्राह्मणवाद की कुछ धारणाएं ज़रूर पायी जाती हैं, जैसे कर्मफल और पुनर्जन्म की धरणाएं। फिर भी उसने वर्णाश्रम धर्म को एक सिरे से अगर ख़ारिज कर दिया तो यह संभवतः एक ओर जनजातियों और शूद्रों तथा दूसरी ओर ब्राह्मणवाद के डगमगाते हुए वर्चस्व के सीधे-सीधे टकराव का नतीजा था और यह ब्राह्मणवाद उस समय राजतंत्र द्वारा निर्मित और करों पर निर्भर व्यवस्था के लिए आवश्यक श्रम-विभाजन को वैधता प्रदान करता था। अनेकता को बहुत अधिक महत्व देने वाली एक सभ्यता की अपनी एकता के क्या कारण थे, अगर हम इस पर थोड़ा और गहराई से सोचें तो पायेंगे कि शक्ति के वर्चस्वहीन रूपों को जगह देने में अजीबोग़रीब क़िस्म की यह तत्परता मूलगामी विरोध, प्रतिरोध की निरंतरता और बहुलता की देन हो सकती है। इस एकता का कारण उन विभिन्न शूद्र समूहों की इच्छाशक्ति और कार्रवाई है जो उस इतिहास से बाहर न जाने पर अड़े हुए हैं, जिसे उनकी क़ीमत पर रचा गया है।

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के सामाजिक दायरे के बारे में भी संभवतः कुछ ऐसी ही बातें कही जा सकती हैं। पारलौकिक और लौकिक दोनों प्रकार के विषयों से संबंधित संस्कृत ग्रंथों की तमाम उपलब्धियों और शक्तियों के बावजूद यह बात कही जा सकती है कि स्त्रियों और शूद्रों के वेदपाठ पर और इसलिए संस्कृत के अध्ययन पर लगे प्रतिबंधों ने संस्कृत को किसी की भी मातृभाषा नहीं बनने दिया और वह प्रभुत्वशाली जातियों तक सीमाबद्ध होकर केवल पितृभाषा बनकर रह गयी। इस तरह अगर स्वयं संस्कृत की नाट्य-परंपरा तक में स्त्रियां और शूद्र प्राकृत बोलते हैं तो यह बात अहमियत रखती है। इस सिलसिले की नाज़ुक अहमियत उस भक्ति-सूफ़ी-संत-परंपरा के उदय और शानदार इतिहास में दिखायी देती है, जिसका आरंभ छठी सदी के आसपास तमिलनाडु में हुआ और जो कोई हज़ार साल बाद उत्तर भारत में अपने उरूज पर पहुंची। भारत के काफ़ी बड़े हिस्से में, एक के बाद दूसरे क्षेत्रों में इस परंपरा ने अनुभूति और संवेदना और गीतों और विश्वासों के वैध वाहकों के रूप में बहुत सारी मातृभाषाओं को जन्म दिया, पुष्ट किया और इस तरह ऊंची जातियों की पितृ-भाषा को विस्थापित किया। यह और बात है कि उस पितृभाषा से उसने वह सब लिया जो उसे उपयोगी लगा और उसका समन्वय उसने अनधिकृत और निषिद्ध तत्त्वों के साथ किया। लेकिन, ये मातृभाषाएं हर जगह निचली और मंझोली जातियों की बोलियां थीं और इसलिए वे अनेक प्रकार की प्रतिबंधित ज्ञान-प्रणालियों और विश्वास-प्रणालियों का ख़ज़ाना भी थीं। वे अधिकृत ग्रंथों से अधिक बोलचाल के क़रीब थीं, जनजातीय अतीत, पशुपालक समूह, शिल्पी संघ और नारी के अनुभव के क़रीब थीं, यहां तक कि वे बौद्ध और जैन मत जैसे महान प्रतिरोध-आंदोलनों के मूल रूप के भी क़रीब थीं।

यह बात नहीं कही जा सकती कि इस बेहद पेचीदा भक्ति-सूफ़ी-संत-परंपरा की हर धारा प्रभुत्वशाली ब्राह्मणवादी व्यवस्था का एक समान विरोध करती रही। इनमें से बहुत-सी धाराएं तो परलोकमुखी निष्क्रियता की, यहां तक कि रूढ़िवाद की भी पोषक थीं, और कुछ ने तो एक बड़ी हद तक उसी व्यवस्था की भ्रांतियों और शिक्षाओं से अपना तालमेल बिठा लिया। फिर भी कुछ पहलू स्थायी हो गये। पितृ-भाषाओं से मातृ-भाषाओं की ओर होने वाला परिवर्तन पलटा नहीं जा सका और इसी तरह वर्णाश्रम धर्म का सख़्त विरोध जारी रहा। उच्च ब्राह्मणवाद की परंपराओं के ठीक उल्टे, जात-पांत विरोधी भक्ति संप्रदाय हिंदू धर्म के अंदर से पैदा हुआ, लेकिन उसने इस्लाम के अंदर की

कुछेक विरोधी धाराओं की ओर भी हाथ बढ़ाया। अद्वैत वहदतुल-वजूद के और क़रीब साबित हुआ और शरीयत से सूफ़ी की नफ़रत ब्राह्मणवाद विरोधी संत को जानी-पहचानी चीज़ लगी और इस तरह इन दोनों के संपर्क से समन्वय के ऐसे रूप पैदा हुए जो इतिहास में नये थे। सिंधुपारी मैदानों में संस्कृत को साहित्य और दर्शन में, धर्मग्रंथों में एक बेज़ोड़ शास्त्रीय भाषा का दर्जा मिला हुआ था। उसके विपरीत भाषाओं की बहुलता भक्ति-सूफ़ी परंपरा का अनिवार्य तत्त्व थी और इस परंपरा में न तो सिद्धांतों की एकता का, न किसी आदर्श आचरण का और न ही बाक़ी जनता पर किसी एक भाषा के आरोपण का कोई महत्व था। यह परंपरा ख़ुद ही सांस्कृतिक और धार्मिक वर्चस्व की एक काफ़ी ठोस व्यवस्था का विरोध करते हुए उभरी थी और इसमें सिद्धांतों की किसी एकता को नहीं बल्कि अनुभूति और संवेदना, गीत और नृत्य, आचार और विचार की एक ऐसी संस्कृति को बढ़ावा मिला जिस पर एक मोटा-मोटी सहमति थी और जो भाषाओं की सरहदों को काटती थी। इस तरह यह परंपरा विभिन्न भाषाओं में फली-फूली। उसने इन भाषाओं को पुख़्ता बनाया और इन भाषाओं से जुड़े सांस्कृतिक समूहों ने उन्हें आगे बढ़ाया। इनके बीच भी साझे मुहावरों का और आपसी पहचान का एक ढांचा पैदा हुआ, लेकिन किसी साझी भाषा या साझे सिद्धांत को अपनाने की मजबूरी के बग़ैर। ठीक इसी अर्थ में भक्ति-सूफ़ी परंपरा ने एक बड़ी, भारत-व्यापी भूमिका उस विश्वदृष्टि के निर्माण में, उस संस्कृति के विकास में निभायी, जिसे आज कोई भारतीय संस्कृति कह सकता है और जो इस या उस क्षेत्र या भाषा से जुड़े हुए नहीं हैं।

इस तरह जातिप्रथा की बेरहमियों और बेलोच के बावजूद जिस चीज़ को हम भारत की विविधता के रूप में जानते हैं, वह प्रभुत्वशाली उच्च जातीय संस्कृति की देन नहीं है। वह पैदा हुई तो उत्पीड़ित वर्गों के प्रतिरोध की निरंतरता से, और इसलिए ब्राह्मणवाद कैथोलिक ईसाइयत वाले ढर्रे पर अपने आपको वर्चस्ववादी, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में ढालने में नाकाम रहा। हमारे सांस्कृतिक इतिहास के आरंभिक कालों पर विचार करने का यह सिर्फ़ एक ढंग है। उसी तरह एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में भारत के विकास पर भी विचार कर सकते हैं। इसके बारे में भी अलग-अलग दृष्टिकोण रहे हैं। ब्रिटिश प्रशासकों का और विद्वानों का भी दावा था कि भारत को इतिहास में पहली बार ब्रिटिशराज ने ही एक किया, वरना वह तो आपस में टकरा रहे समुदायों, धर्मों, पक्षों और 'नस्लों' का एक हैरानकुन ताना-बाना था। इसकी बजाय हमारा तर्क यह है कि एक आधुनिक-पूर्व सभ्यता से एक आधुनिक-राष्ट्र में संक्रमण की शुरूआत उपनिवेशी क़ब्ज़े के नहीं, बल्कि उपनिवेशवादविरोधी आंदोलन के कारण हुई। अगर हम 1880 के दशक में और उसके बाद राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के आरंभिक चरण को भी देखें, जबकि वह अभी राष्ट्रीय स्वाधीनता का आंदोलन नहीं बना था बल्कि एक बड़ी हद तक उच्च वर्गों का आंदोलन था, तो भी दो विशेषताएं साफ़ दिखायी देती हैं।

सबसे पहले तो हम इस शुरुआती और ज़ोरदार सरोकार को देखकर हैरान होते हैं कि राष्ट्रीय आंदोलन सही अर्थों में राष्ट्रीय बन सके, इसके लिए आवश्यक है कि वह अधिक से अधिक समावेशी बने और अपने दायरे में भिन्न -भिन्न धर्मों, क्षेत्रों और भाषाओं की जनता को समेटे, यानी कि वह एकजुट राष्ट्रीय आंदोलन बने जिसमें बहरहाल अंदरूनी तालमेल और रंगारंगी की गुंजाइश हो। धर्मनिरपेक्षता इस राष्ट्रवाद की एक बुनियादी प्रवृत्ति तब भी थी, जब उसके प्रति वचनबद्धता को एक अच्छी तरह व्यक्त विचारधारा का रूप नहीं मिला था। इसका कारण ठीक यही था कि जिस समाज को एक आधुनिक राष्ट्र में बदलने की कोशिश की जा रही थी, वह धर्मों और पंथों के एतबार से काफ़ी विविधता लिये हुए था। भारत के विभाजन के बहुत सारे कुप्रभावों में एक कुप्रभाव यह भी है कि हम भूल जाते हैं कि विभाजन से पहले के भारत में मुसलमान कुल आबादी का कोई 22.8 प्रतिशत हिस्सा थे और देश के दो सबसे बड़े सूबों, यानी बंगाल और पंजाब में वे बहुमत में थे। धर्मनिरपेक्षता की या कम से कम आपसी सद्भाव की विचारधारा भारत में स्वयं राष्ट्रवाद की विचारधारा के अटूट अंग के रूप में पैदा हुई। धर्मनिरपेक्षता का विचार स्वयं समाज के अंदर तरह-तरह की सांप्रदायिकता के मुक़ाबिले तथा 'बांटो और राज करो' की साम्राजी नीतियों के मुक़ाबिले भी प्रतिरक्षा की एक व्यवस्था के रूप में विकसित हुआ, चाहे वे अज्ञेयवादी और 'समाजवादी' दीनदार मौलाना आज़ाद हों या दक्षिणपंथी सरदार पटेल, जिनकी अपनी राजनीतिक संस्कृति हिंदू सांप्रदायिकता की संस्कृति से बहुत दूर नहीं थी। यह धर्मनिरपेक्षता किसी भी विशेष नेता के निजी रुझानों से अलग, एक वस्तुगत आवश्यकता थी। इसलिए उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग में राष्ट्रीय आंदोलन के आरंभ से लेकर; चाहे तो कह लीजिए कि उन्नीस

सौ सत्तर की दहाई तक, जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पतन शुरू हुआ, धर्मनिरपेक्षता और धार्मिक सद्भाव के विचार भारत की विचारधारा के बुनियादी घटक बने रहे। इसका मतलब क़तई यह नहीं है कि भारत का बुर्जुआ राष्ट्रवाद हमेशा इन विचारों का वफ़ादार रहा या कांग्रेस जैसे प्रमुख राष्ट्रवादी संगठन या उनके नेतृत्व भी सांप्रदायिक तत्त्वों से ख़ाली थे। मेरा तो यह विचार है कि राष्ट्रीय आंदोलन अगर देश-विभाजन या पाकिस्तान के निर्माण को रोकने में नाकाम रहा तो इसका मुख्य कारण यही था कि उसकी अपनी क़तारों में एक काफ़ी बड़ा दक्षिणपंथ भी मौजूद था, जो हिंदू सांप्रदायिकता की राजनीति में एक बड़ी हद तक शामिल था और राजनीतिक स्तर पर सक्रिय मुसलमानों के बड़े-बड़े हिस्से उसे इसी रूप में देख रहे थे। मेरा अभिप्राय यह है कि राष्ट्रीय आंदोलन का हिरावल दस्ता धर्मनिरपेक्षता को हमेशा एक आधुनिक राष्ट्र में भारत के परिवर्तन के लिए आवश्यक समझता रहा और यह दस्ता अपने बहुत से समर्थकों में धर्मनिरपेक्षता के अभाव को एक कमज़ोरी, पूरे राष्ट्रीय आंदोलन की शक्ति और वैधता में कमी के रूप में देखता रहा।

इसी तरह, राष्ट्रीय आंदोलन का बहुभाषी और बहुक्षेत्रीय चरित्र भारत के वस्तुगत ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चरित्र की पैदावार था। अफ़्रीका या अरब दुनिया को उपनिवेशवाद ने अनेक छोटे-बड़े राज्यों में बांट दिया। इसके विपरीत, भारत का एकीकरण अनेक बोलियां बोलने वाले एक विशाल उपनिवेश के रूप में हुआ। ब्रिटिश भारत के ज़्यादातर सूबे यूरोप के ज़्यादातर मुल्कों से बड़े थे। विभाजन से पहले बांग्ला भाषियों की संख्या यूरोप के फ्रांसीसी भाषियों जितनी ही थी और फ्रांसीसी सर्व कोएट को जितना कम समझते थे, बंगाली भी तमिल को उतना ही कम समझते थे। यह तमिल भी अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी समेत किसी भी आधुनिक यूरोपीय भाषा से अधिक प्राचीन थी। जड़ें जमा चुकी भाषाओं की, और इसलिए हर विशेष भाषा के साथ पैदा होने वाली सांस्कृतिक विशेषताओं की यह बहुलता हमारी धरती पर उपनिवेशवाद के आने के बहुत पहले से ही भारतीय समाज की बुनियादी प्रकृति का हिस्सा थी। इस तरह, इस ठोस ऐतिहासिक संदर्भ में आधुनिक भारतीय राष्ट्र, जो अंदरूनी विविधताओं से कहीं अधिक संपन्न था, लाज़मी तौर पर उस तरह के एक भाषा और एक संस्कृति वाली राष्ट्रीयता से भिन्न रहा जो यूरोप की, और आम तौर पर उन्नत पूंजीवाद की ख़ासियत है। नतीजा यह रहा कि विभिन्न क्षेत्रों में अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे तबक़ों की संपर्क भाषा बन गयी और जब भारत के तमाम जनगणों पर एक तथाकथित 'राष्ट्र-भाषा' के नाम पर हिंदी लादने की कोशिश की गयी तो असाध्य उत्साह और मूर्खता के दर्शन भी हुए। लेकिन इस दूसरे रवैये से जल्द ही पीछे भी हटना पड़ा और इस स्पष्ट तथ्य को अधिकांशतः पूरी तरह स्वीकार किया गया कि जिस 'भारतीय राष्ट्र' की एकता बनाये रखने की पुरज़ोर कोशिश की जाती है, उसकी बड़ी इकाइयों में लोग कुछ दर्जन भाषाएं और उन बड़ी इकाइयों से परे बहुत सारी दूसरी बोलियां भी बोलते ही रहेंगे।

यह मान्यता निश्चित ही एक वस्तुगत तथ्य की मान्यता थी, लेकिन मेरा ख़याल यह है कि इस तथ्य को व्यापक स्वीकृति कहीं अधिक पुरानी इस सांस्कृतिक वास्तविकता के कारण मिली कि राष्ट्रीयता के जन्म से पहले तहज़ीबी एकता से मिलती-जुलती कोई चीज़ पैदा हो चुकी थी और उन तमाम सदियों में भी हम बहुत सारी भाषाएं बोल रहे थे। एक बहुभाषी राष्ट्रीयता की यह स्वीकृति भी काफ़ी उल्लेखनीय थी। लेकिन ख़ासतौर पर यूरोप में अधिकांश राष्ट्रीयताओं के इतिहास में उपजातीयता और भाषा के केंद्रीय महत्व को देखते हुए इससे भी अधिक उल्लेखनीय बात यह थी कि भारत में उपजातीय-भाषायी राष्ट्रीयताओं का एक हैरान करने वाला अभाव दिखायी देता है। उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भारत में भाषा पर आधारित उस तरह का कोई शक्तिशाली अलगाववादी आंदोलन कभी पैदा नहीं हुआ, जैसा कि, मिसाल के लिए, सांप्रदायिकता पर आधारित वह अलगाववादी आंदोलन था, जिसके चलते पाकिस्तान बना। इसकी बजाय यहां भारतीय संघ में भाषायी राज्यों के गठन के लिए अनेक आंदोलन उभरे। इस तरह भाषाओं की बहुलता और नतीजे में सांस्कृतिक विविधता कोई ऐसी चीज़ है, जिसे दिल से स्वीकारा जा चुका है। अगर यह तथ्य हमें बहुत उल्लेखनीय नहीं दिखायी देता तो इसलिए कि हम उसी समाजी माहौल और उसी तहज़ीब में पले-बढ़े हैं, जिसने इस वास्तविकता को जन्म दिया है। तो भी इस स्थिति की तुलना हम अमरीका जैसे देश से, दुनिया के सबसे संपन्न देश से, कर सकते हैं, जहां के नागरिक उन प्रवासियों की संतान हैं (और पहले के गुलामों की संतान भी हैं) जिनका संबंध मूल रूप से कोई दो सौ अलग-अलग भाषायी समूहों से रहा है। फिर भी उनसे कहा जाता है कि वे उन भाषाओं को भूलकर उसी अंग्रेज़ी भाषा की एकभाषी

तानाशाही क़ुबूल कर लें जो उस एकभाषी राष्ट्र के जीवन में किसी भी दूसरी भाषा को कोई भी संवैधानिक दर्जा देने से इंकार करती है।

धर्मों, पंथों, भाषाओं और क्षेत्रीय संस्कृतियों की भारी विविधता की यह स्वीकृति उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की एक प्रमुख विशेषता रही है। उतनी ही हैरानी स्वयं भारतीय समाज में सुधार के प्रति भारी सरोकार को और अनेक प्रकार के सुधारों के लिए आंदोलनों के धमाकाख़ेज़ उभार को देखकर होती है, जैसे बंगाल में स्वयं ऊंची जातियों में, उत्तर भारत के मुसलमानों में, महाराष्ट्र की दलित जातियों के बीच सामाजिक न्याय की तड़प। कहा तो यह भी जा सकता है कि सही अर्थों में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के जन्म से कई दहाई पहले ही समाज-सुधार आंदोलन शुरू हो चुके थे। उनकी परिपक्वता का एक लंबा काल रहा है जो उन्नीसवीं सदी के एक बड़े हिस्से को समेटता है और इस काल में ख़ुद उपनिवेशी सत्ता को अक्सर भारतीय समाज के सुधार और आधुनिकीकरण के निमित्त के रूप में देखा जाता था, जब उपनिवेशी राजसत्ता ने यह बात साफ़ कर दी कि वह ऊंची जातियों और संपत्तिशाली वर्गों को चोट पहुंचाने वाले सुधार लागू करने के लिए तैयार नहीं है तो उसके बाद, उन्नीसवीं सदीं की आख़िरी चौथाई अवधि और बीसवीं सदी की पहली चौथाई अवधि के दौरान एक बड़ा काल ऐसा रहा जब 'राष्ट्रीय आंदोलन' ने अपने आपको मूलतः एक दबाव समूह के रूप में विकसित किया। इसका मक़सद उपनिवेशी सत्ता को यह समझाना था कि जिस भारतीय समाज पर वह राज कर रही है, उसके और भी कारगर सुधार के लिए वह खुद अपनी नीतियों में सुधार कर ले। इस बीच पूरी उन्नीसवीं सदी में और बीसवीं सदी के मध्य में स्वाधीनता के समय तक, हमें ऐसे अनगिनत आंदोलनों, संगठनों का उदय भी दिखायी देता है जो राजनीतिक स्वाधीनता के बजाय समाज -सुधार के लिए कोशिश कर रहे थे।

वैसे सभी समाज-सुधार आंदोलन प्रगतिशील या आधुनिकता प्रेमी नहीं थे। उनमें से बहुत से तो घोर रूढ़िवादी या सांप्रदायिक और संकीर्ण थे और कुछ एक आंदोलनों में सामाजिक रूढ़िवाद, सामाजिक और धार्मिक पहचान से (आधुनिक) शिक्षा का गहरा संबंध था और कुछ एक ने तो हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख यानी तरह-तरह की सांप्रदायिकताओं के उभार में भारी योगदान दिया, यहां तक कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ भी अपने आपको सुधार आंदोलन ही कहता है। यहां मुझे अंतोनियो ग्राम्शी का यह क़ौल याद आता है कि इटली में उन्नीसवीं सदी के आख़िरी हिस्से में बुर्जुआ राष्ट्रवाद की विचारधाराओं ने 'सुधार' का मतलब अक्सर 'पुनर्स्थापना' लगाया था। तो भी दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि भारत में कम्युनिज़्म का आरंभिक इतिहास ऐसे लोगों से भरा पड़ा है, जिन्होंने बुर्जुआ राष्ट्रवाद को छोड़कर उभर रहे कम्युनिस्ट आंदोलन को अपनाया। कारण यह था कि वे आर्थिक शक्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा के मूलगामी पुनर्वितरण के सवाल पर इस तरह के राष्ट्रवाद की असंगतियों से दुखी थे, जबकि यह पुनर्वितरण सही मायनों में उत्पीड़ित जातियों और वर्गों का भला करता। दूसरे, यह बात भी कही जानी चाहिए कि भारत के बुर्जुआ राष्ट्रवाद के कुछ अधिक प्रगतिशील तत्त्वों की यह आम समझ थी कि अपने आपको बख़ूबी बदले बिना और अपने अतीत के कुछ बदतरीन पहलुओं को त्यागे बिना भारत एक सचमुच का आधुनिक राष्ट्र नहीं बन सकता और यह कि भारत के लिए आधुनिक राष्ट्रीयता की लड़ाई सिर्फ़ उपनिवेशी उत्पीड़कों के ख़िलाफ़ नहीं बल्कि उसके अपने बहुत सारे सामाजिक ढांचों और रीति-रिवाजों के सड़े-गलेपन और अत्याचारों के ख़िलाफ़ भी थी। प्रगतिशील सुधारों की इस प्रतिबद्धता का एक सकारात्मक परिणाम यह निकला कि उपनिवेशी शासकों के दंभ और नस्लवाद से पीड़ित बहुत सारे उपनिवेशों के विपरीत, यहां पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों को उपनिवेश विरोधी आंदोलन में कभी प्रमुखता नहीं मिली।

यह बात काफ़ी उल्लेखनीय है कि सुधारवादी और राष्ट्रवादी, जाति-प्रथा के सवाल पर, कितने असहज महसूस करते थे और यह समझ कितनी तीख़ी थी कि जाति के सवाल पर इतनी बुरी तरह बंटा हुआ कोई समाज शायद ही एक राष्ट्र कहलाने का हक़दार हो, क्योंकि एक राष्ट्र के सदस्यों में कम से कम एक क्षैतिज सामाजिक समानता तो होती ही है। याद कीजिए विवेकानंद का वह मशहूर जुमला कि जाति-प्रथा के भेदभाव मानने वाला हिंदू धर्म, उनके शब्दों में, सिर्फ़ एक 'रसोई वाला धर्म' है। इसी तरह अपने राष्ट्रवाद संबंधी व्याख्यानों में टैगोर ने टिप्पणी की थी कि जहां लोग साथ बैठकर न तो भोजन करने के लिए स्वतंत्र हों और न एक दूसरे के परिवार में शादी-ब्याह कर सकें, उसे शायद ही एक राष्ट्र कहा जा सके। आंबेडकर के साथ पूना-समझौते पर दस्तख़त करने के पहले गांधी

का भी ऐलान था कि जाति-प्रथा जिंदा रहे, इससे बेहतर तो यही होगा कि हिंदू धर्म मर जाये।

उपनिवेशी काल में सुधार की अनगिनत परियोजनाओं में जाति-प्रथा की केंद्रीयता से इंकार नहीं किया जा सकता। क्यों? पहला कारण निश्चित ही यह है कि ब्राह्मणवाद और बुद्ध के महासंग्राम के समय से ही जाति का सवाल भारतीय सभ्यता और समाज के इतिहास का एक बड़ा अनसुलझा सवाल रहा है और अदम्य सवाल भी। हज़ारों साल के संघर्षों के बावजूद इस सवाल का हल न होना ब्राह्मणवादी व्यवस्था की और उससे जुड़ी शक्ति और संपत्ति की व्यवस्थाओं की मज़बूती का प्रमाण है। लेकिन अगर यह सवाल हज़ारों साल तक अदम्य रहा है और बराबर बाहरी सामाजिक संकटों को जन्म देता रहा तो इससे यह बात भी साबित होती है कि प्रभुत्व की व्यवस्था की वहशी ताक़त अपनी जगह, उस व्यवस्था की व्यापक जन-स्वीकृति में बराबर दरारें भी पड़ती रहती हैं, उत्पीड़ित वर्ग बराबर खड़े होकर उत्पीड़ित होते रहने से इंकार करता है और हमारे समाज के बेहतरीन और सबसे ज़्यादा प्रगतिशील तत्त्वों ने इस सवाल को ज़िंदा रखा है। मेरा अपना विचार यह है कि जाति-विरोधी सामाजिक समतावादी विचारधारा से लैस भक्ति -सूफ़ी परंपरा ने, जो भारत के लगभग हर क्षेत्र और हर भाषा में व्याप्त रही है, प्रभुत्वशाली समाज व्यवस्था के विश्वासों और उसके लिए गढ़े गये औचित्य के सामने संकट पैदा करने और उसे गहराने में भारी योगदान दिया है। दमन के इतिहास से लैस लेकिन विरोध और प्रतिरोध से भी लैस यह अतीत राष्ट्रीय आंदोलन के अंदर मौजूद प्रमुख सुधारकों के मन को मथता रहा है, जबकि साथ में उनकी यह समझ तो रही ही है कि एक जाति-आधारित समाज से एक सचमुच एकजुट राष्ट्र का उदय संभव नहीं है। लेकिन, उस दौर की राजनीति में जाति-प्रथा को इतना केंद्रीय महत्व न तो प्रतिरोध की परंपराओं की विरासत से मिला और न राष्ट्रीय नेतृत्व के एहसासे-गुनाह से मिला, बल्कि आधुनिक प्रकार के जातिवाद विरोधी आंदोलनों के उदय जैसे वास्तविक तथ्य से मिला। यह आंदोलन 'राष्ट्रीय आंदोलन' से काफ़ी पहले ही पैदा हो चुके थे। महात्मा ज्योतिबा फुले का सत्यशोधक समाज 1873 में, यानी 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से लगभग एक पीढ़ी पहले स्थापित हुआ था। राष्ट्रवादी तो इस सवाल से निगाहें चुरा ही नहीं सकता था।

1919 के बाद जब राष्ट्रीय आंदोलन सही अर्थों में एक जन-आंदोलन बना और धीरे-धीरे उसने अपने आपको अगली दहाई में एक स्पष्ट साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन में ढाल लिया, तो इन दोनों केंद्रीय विचारों को भारी शक्ति मिली, कि राष्ट्रीय आंदोलन में सांस्कृतिक एकजुटता हो और उसमें सभी पंथों का समावेश हो, और एक और भी एकजुट और समतावादी भारत के निर्माण के लिए भारतीय समाज के लगभग हर पहलू में सुधार आवश्यक है। इसमें शक नहीं कि राष्ट्रीय आंदोलन के इस बुनियादी उदारवादी गठन पर एक दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया भी हुई, ख़ासतौर पर रा. स्व. संघ और हिंदू महासभा जैसे संगठनों की तरफ़ से, लेकिन पूरे उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के दौरान यह दक्षिणपंथ भारतीय समाज के हाशिये पर ही पड़ा रहा। इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण तो 1920 की दहाई में मज़दूर वर्ग के जुझारूपन में बढ़ोतरी और कम्युनिस्ट आंदोलन का उभार था। जहां रा. स्व. संघ आदि अपनी फ़ासी हमदर्दियों के लिए बदनाम थे और उपनिवेशी शासकों से सक्रिय सहयोग करते रहे, वहीं भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उसने भारतीय समाज के उन बहुत सारे जुझारू हिस्सों को अपनी ओर खींचा, जिनका उदारपंथी राष्ट्रवाद की सीमाओं से मोहभंग हो चुका था। यह आंदोलन एक विश्वव्यापी फ़ासीवाद विरोधी संघर्ष के माहौल में और देश के अंदर बढ़ रहे उपनिवेश विरोधी आंदोलन के माहौल में भी आगे बढ़ा और यह इन दोनों प्रवृत्तियों का अभिन्न अंग बना रहा। इसी से इस बात की भी व्याख्या होती शुरुआती दहाइयों में जहां घोर दक्षिणपंथ बुरी तरह अलग-थलग रहा, वहीं कम्युनिस्ट वामपंथ को उन दिनों बड़े पैमाने पर उदारपंथी बुर्जुआ राष्ट्रवाद का प्रमुख वैचारिक विकल्प समझा जाता था, बावजूद इसके कि भारतीय संविधान के धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक जीवन-मूल्यों में कम्युनिस्ट वामपंथ और नेहरूवादी राजसत्ता दोनों ही साझीदार थे।

(एशियाई पत्रकारिता महाविद्यालय में 'हिंदुस्तान की तामीर' विषय पर आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत परचे के कुछ अंशों का अनुवाद)

सृजनशीलता हमेशा सामाजिक होती है

एजाज़ अहमद

मनुष्य की सबसे पहली सर्जनात्मक क्रिया है भाषा को सीखना और उसका व्यवहार करना। बच्चे को जब भूख लगती है, वह रोता है। जब उसे राहत मिलती है, इत्मीनान होता है, तो वह मुस्कुराता है। बच्चा अपनी ज़रूरतें है ख़ुद पूरी नहीं कर सकता। यह उसकी जैविक अपूर्णता है। मानवीय अस्तित्व इसी जैविक अपूर्णता से आरंभ होता है। उसकी ज़रूरतें दूसरे लोग पूरी करते हैं। जैसे मां या परिवार के दूसरे लोग। इसी से बच्चे में बोध उत्पन्न होता है। उसका आरंभिक बोध बुनियादी तौर पर तीन तरह का होता है । पहला, अपनी ज़रूरत का बोध और उसकी मांग। दूसरा, अपनी ज़रूरत पूरी करने वालों की पहचान। और तीसरा, भाषा को समझना और उसे सीखकर अपने तौर पर उसका प्रयोग करना। इसी प्रक्रिया में वह शक्लें पहचानना, यानी एक शक्ल और दूसरी शक्ल में फ़र्क़ करना शुरू करता है। उसकी ज़िंदगी में एक बड़ा वक़्त तब आता है, जब वह पहली बार आईने में या किसी और तरह से अपनी शक्ल देखता है और दूसरों से अलग करके अपने-आपको पहचानना शुरू करता है। फिर वह अपने आसपास के लोगों से अपने रिश्तों को समझना शुरू करता है। यह उसका पहला सामाजिक क़दम होता है। लेकिन उसकी ज़िंदगी में सबसे बड़ी चीज़, जो, उसके बोध में बुनियादी फ़र्क़ पैदा करती है, तब होती है, जब वह भाषा सीखता है और अपने तौर पर उसका प्रयोग करता है। यह उसकी पहली सर्जनात्मक क्रिया होती है। और भाषा क्योंकि बुनियादी तौर पर सामाजिक होती है, इसलिए सृजनशीलता भी बुनियादी तौर पर सामाजिक होती है।

मनुष्य भाषा कैसे सीखता है, इस पर बड़ा विवाद है। कुछ लोग मानते हैं कि यह एक जैविक प्रक्रिया है। और दूसरे लोग मानते हैं कि यह एक सामाजिक प्रक्रिया है। मैं समझता हूं कि यह एक सामाजिक प्रक्रिया है। बच्चा पैदा होते ही बोलना शुरू नहीं कर देता, बोलना सीखने में उसे लगभग दो साल लगते हैं। वह जन्म से ही उस भाषा से चारों तरफ़ से घिरा रहता है, जो उसके आसपास के लोग बोलते हैं। वह धीरे-धीरे उसे समझता है और एक के बाद एक दूसरा शब्द बोलना शुरू करता है। फिर वह वाक्यों के टूटे-फूटे टुकड़े और अंततः पूरे वाक्य बोलने लगता है। इस प्रक्रिया में उसे लगभग दो साल लगते हैं। लड़कियां लड़कों से एक महीना पहले बोलने लगती हैं, लेकिन लड़का हो या लड़की, उसकी सृजनशीलता भाषा को सीखने और उसका व्यवहार करने से ही शुरू होती है।

इसका अर्थ यह है कि सृजनशीलता केवल कवियों, गायकों, चित्रकारों या किसी और तरह के कलाकारों में ही नहीं, बल्कि सभी मनुष्यों में होती है। और वह कोई व्यक्तिगत गुण नहीं, मनुष्य मात्र का गुण है। आप गोरे हैं या काले, हिंदू हैं या मुसलमान, ऊंची जाति के हैं या नीची जाति के, एक भाषा बोलते हैं या दूसरी, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। आप भाषा को समाज से लेते हैं और उसे अपने तौर पर इस्तेमाल करते हैं, लेकिन उसका इस्तेमाल आप दूसरों से बात करने या संप्रेषण के लिए करते हैं। यह एक सामाजिक क्रिया है और बड़ी सर्जनात्मक क्रिया है। अतः सृजनशीलता के बारे में पहली और बुनियादी बात यह है कि वह हमेशा सामाजिक होती है। भाषा के ज़रिये आप समाज से अपने संबंध बनाते हैं - प्यार के, नफ़रत के, घर के, बाहर के, बौद्धिक, भावनात्मक, शारीरिक, सब तरह के संबंध - और संबंध बनाना बड़ा ही सर्जनात्मक कार्य है। आप मन ही मन किसी से प्रेम करते हैं और कहते नहीं हैं, तो उस व्यक्ति से आपका कोई संबंध नहीं बनता। इसलिए मैं अपने छात्रों से कहता हूं कि जो तुमने किताब में पढ़ा है, उस पर बात करो, क्योंकि जो बात तुम कह नहीं सकते, वह तुम सोच भी नहीं सकते। अगर तुम्हारा ख़याल है कि तुमने सोचा तो है, पर तुम उसे कह नहीं पा रहे हो तो तुम्हारा ख़याल ग़लत है। असल में तुमने सोचा ही नहीं है। जो तुमने किताब में पढ़ा है, उससे तुम्हारा संबंध बना ही नहीं है। मतलब यह है कि संप्रेषण सृजनशीलता के लिए मूलभूत रूप

से आवश्यक है।

सृजनशीलता के बारे में एक और बुनियादी बात यह है कि मनुष्य अपनी ज़रूरतें पशुओं की तरह नहीं, बल्कि मानवीय ढंग से पूरी करता है। हर इंसान चाहता है कि उसकी बुनियादी ज़रूरतें पूरी हों। उसमें इतनी सलाहियत हो और समाज में इसके लिए इतनी गुंजाइश हो कि उसकी ज़रूरतें पूरी हो सकें। मगर इतना ही काफ़ी नहीं है कि उसकी ज़रूरत है जैसे-तैसे पूरी हो जायें। इंसान की ख़ास ख़ूबी यह है कि वह अपनी ज़रूरतें ख़ूबसूरत ढंग से पूरी करना चाहता है। मसलन, आपको खाना सिर्फ़ पेट भरने के लिए और घर सिर्फ़ रहने के लिए नहीं चाहिए। आप चाहते हैं कि भोजन स्वादिष्ट हो, रोज़-रोज़ एक जैसा ही न हो और साफ़-सुथरी जगह पर अच्छे माहौल मैं बैठकर खाया जाये। आप चाहते हैं कि आपका घर सिर्फ़ रहने की जगह नहीं, बल्कि उसमें कोई ख़ूबसूरती भी हो। इसके लिए आप खाना अलग-अलग तरीक़ों से पकाते खाते हैं। जितनी भी बड़ी सभ्यताएं रही हैं, उनमें खाना पकाना या पाकशास्त्र एक मूलभूत कला रहा है। हिंदुस्तान में आप देखें, हर सूबे में और उन सूबों के अलग-अलग हिस्सों में आपको अलग -अलग पाक-प्रणालियां मिलेंगी। मसलन, गुजरात एक छोटा-सा राज्य है। आजकल वहां बर्बरता का नंगा नाच हो रहा है, लेकिन वहां की सभ्यता आप देखें कि उस छोटे-से राज्य में पांच भिन्न प्रकार की पाक-प्रणालियां हैं। यानी भोजन से आपको केवल पौष्टिकता या शारीरिक संतुष्टि नहीं चाहिए, बल्कि एक तरह की सौंदर्यात्मक संतुष्टि भी चाहिए। इसके लिए आप तरह-तरह के खाने पकाते हैं। तरह-तरह के व्यंजन बनाते हैं, और उनमें आपकी सृजनशीलता व्यक्त होती है। आप अपने घर को सजाते हैं, सुंदर बनाते हैं, तो उसमें भी अपनी सृजनशीलता को व्यक्त करते हैं।

यह भी इंसान की एक अहम ज़रूरत होती है, कि वह अपनी बुनियादी ज़रूरत ही सुंदर ढंग से और अधिकतम सृजनात्मकता के साथ पूरी करे। ग़रीब आदमी पर समाज का सबसे बड़ा ज़ुल्म होता है। उसे अपनी ज़रूरतों को सुंदर ढंग से पूरा करने का मौक़ा नहीं मिलता। ग़रीबों को जीवन के सौंदर्यात्माक आयाम से वंचित कर दिया जाता है। फिर भी उनकी कोशिश होती है कि वे किसी भी तरह से अपने जीवन को सुंदर बनायें। मैं फ़िलीपींस गया था, तो वहां 'बचाओ' नामक एक क़बीले का जीवन मैंने देखा। इन लोगों को धरती पर घर बनाने की इजाज़त नहीं है, इसलिए वे समुद्र के किनारे पर पानी के अंदर लंबे लंबे बांस खड़े करके उनके ऊपर अपना घर बना कर रहते हैं। उनके घरों के नीचे का पानी इतना गंदा होता है, इतनी गलाजत उसमें होती है कि मैं बयान नहीं कर सकता। हम आप जैसे लोग उस पानी में से किश्ती में बैठकर गुज़रें, तो आंखें बंद करके गुज़रें। उन लोगों को पीने का पानी लाने के लिए दो-दो मील जाना होता है और वे उस गलाजत से भरे पानी में बने हुए घरों में रहते हैं। लेकिन मैंने देखा कि उन्होंने अपने घरों में छोटे-छोटे कनस्तरों में मिट्टी डालकर फूल उगाये हुए हैं। इस तरह वे अपनी सौंदर्यात्मक आवश्यकताएं पूरी करते हैं। यह भी सृजनशीलता का एक रूप है।

इंसान के लिए काम ज़रूरी है, लेकिन खेल भी ज़रूरी है। अब यह जो खेल है दो तरह का हो सकता है। एक तो जीवन की ज़रूरतें पूरी करने के लिए वास्तविक भौतिक पदार्थों से खेलना, जैसे हम जो खाना पकाते हैं, कई तरह से पका सकते हैं और उसमें कई तरह के नये प्रयोग कर सकते हैं। दूसरे, जीवन की ज़रूरतों से परे जाकर खेलना, जैसे स्वतंत्रतापूर्वक शब्दों, स्वरों, रंगों और रेखाओं से खेलना। लेकिन खेल मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है, क्योंकि उसी में उसकी सृजनशीलता होती है। वर्ग-विभक्त समाज में सृजनशीलता के दो रूप होते हैं - श्रम की सृजनशीलता और श्रम से परे की सृजनशीलता। मानव जीवन का उद्देश्य है आवश्यकता से स्वतंत्रता की ओर जाना। यह श्रम की सृजनशीलता से श्रम के परे की सृजनशीलता की ओर जाना है। मनुष्य अपनी स्वतंत्रता से कभी विमुख या विरत होना नहीं चाहता। वह इसको स्थगित भी करना नहीं चाहता। वह इसकी दिशा में निरंतर आगे बढ़ना चाहता है, इसलिए श्रम करने को विवश होते हुए भी वह उसमें जहां तक हो सके, स्वतंत्रतापूर्वक सृजनशील होने की कोशिश करता है। उसकी यह सृजनशीलता जीवन के पुनर्सृजन के लिए किये जाने वाले कार्यों में दिखायी पड़ती है, जैसे खाना पकाने में, कपड़े धोने में, अपने घर को सजाने में, बच्चों को पैदा करने और उन्हें अच्छी तरह पाल-पोस कर इंसान बनाने में। जीवन की परिस्थितियां उसे जितनी भी स्वतंत्रता देती हैं, उसका इस्तेमाल वह सृजनशील होने में करता है। मसलन, एक ग़रीब आदमी पेट भरने के लिए जो खाना पकाता है, वह हमेशा एक जैसा नहीं होता। जैसे सुबह एक दाल शाम

को दूसरी दाल, या एक दिन एक सब्ज़ी, दूसरे दिन दूसरी सब्ज़ी, या मांस-मछली को एक दिन एक तरह से पकाना, दूसरे दिन दूसरी तरह से पकाना। इसमें जो आनंद है, वह, दरअसल, अपनी आज़ादी का इस्तेमाल करने और सृजनशील होने का आनंद है।

आज़ादी वह नहीं है, जो भविष्य में है और न जाने कब आयेगी। आज़ादी वह है, जिसकी कोशिश आप हर वक़्त कर रहे होते हैं। आप उसके लिए समय निकालते हैं, उसके लिए बहुत-से जतन करते हैं। आप कोशिश करते हैं कि ज़िंदगी में आपको जो कुछ मयस्सर है, उसी में से जो कुछ करें, जो कुछ बनायें, उसमें एक ख़ूबसूरती हो। यही सृजनशीलता है और इसके लिए इंसान हर समय जद्दोजहद कर रहा होता है। कारण यह है कि इस दौरान वह स्वयं को अपूर्ण समझता है और अपनी पूर्णता के लिए पूर्णतर मनुष्य बनने का प्रयास कर रहा होता है। इसके लिए कभी वह पढ़ता है, कभी चित्र बनाता है, कभी कविता लिखता है, कभी गीत गाता है, तो कभी सिर्फ़ टहलता है जंगल में। स्वयं को पूर्णतर मनुष्य बनाने वाले यह काम श्रम से बंधे हुए नहीं होते, जीवन के पुनर्सृजन की परिस्थितियों से बंधे हुए नहीं होते। इसलिए उनमें जो सृजनशीलता होती है वह श्रम की सृजनशीलता से भिन्न, श्रम से परे की सृजनशीलता होती है।

पूंजीवादी व्यवस्था में काम के वक़्त और फ़ुर्सत के वक़्त में फ़र्क़ किया जाता है। काम और आराम की ज़िंदगी को अलग-अलग माना जाता है। इसी तरह जीवन को अलग-अलग माना जाता है। यह माना जाता है कि काम के वक़्त आप काम करते हैं और फ़ुर्सत के वक़्त में ही सृजनशील हो सकते हैं। व्यवस्था मानो आपसे यह कहती है कि आप इतने घंटे जो घनघोर मेहनत करते हैं, उसके ज़रिये आपको इतने घंटे की फ़ुर्सत मिलती है, जिसमें आप अपने तौर पर कुछ कर पायें। यह वर्गीय समाज व्यवस्था की जड़ है, बल्कि रूह है, और इसकी अभिव्यक्ति विचारधारा में इस तरह होती है कि जीवन अलग है, कला अलग है। अर्थात जीवन में सृजनशीलता नहीं है, कला में सृजनशीलता है। फिर इसी से यह बात निकलती है कि श्रम करने वाला सृजनशील नहीं होता, फ़ुर्सत में रहने वाला ही सृजनशील हो सकता है। यानी श्रमिक वर्ग नहीं, शोषक वर्ग ही सृजनशील होता है। आगे चलकर फिर इसी में से यह बात निकलती है कि कला का जीवन से कोई संबंध नहीं होता, वह इंसानों की ज़िंदगी को सुधारने-संवारने, बदलने और बेहतर बनाने जैसे किसी उद्देश्य के लिए नहीं होती, बल्कि फ़ुर्सत में रहने वाले वर्ग के आनंद के लिए होती है।

इस तरह पूंजीवादी व्यवस्था सृजनशीलता की विरोधी होती है। वह इस बात को नहीं मानती कि सृजनशीलता हर इंसान में होती है और इंसान अपने जीवन के पुनर्सृजन के लिए जो श्रम करता है, उसमें भी सृजनशील होता है। सृजनशील वह कब नहीं होता? तभी, जब उसे मन मारकर या ज़बर्दस्ती काम करना पड़ता है।, या जब कोई उससे यह कहता है कि तुम अपनी मर्ज़ी से कुछ नहीं कर सकते, हम जैसा करने को कहते हैं, वैसा करो, नहीं तो हम तुम्हारी तनख़्वाह काट लेंगे। इस तरह दूसरे की सृजनशीलता को कम करना, उसके लिए औक़ात मुक़र्रर करना, उसके लिए अलग जगह बनाना - कि यहां तुम सृजनशील हो सकते हो, वहां नहीं - यह सब सामाजिक श्रम विभाजन है, जिसका नतीजा यह होता है कि इंसान बहुत-से काम 'रुटीन' की तरह बेमन से या मन मारकर करने लगता है, जिनको करने में न उसे कोई आज़ादी होती है और न कोई आनंद मिलता है।

वर्ग-विभक्त समाज में सृजनशीलता को वर्गीय दृष्टि से देखा जाता है और उसे कुछ विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्तियों का ख़ास गुण माना जाता है। लेकिन वह प्रतिभा कहां से आती है? वह समाज से आती है मसलन, शायरी या क़िस्सागोई का संबंध भाषा से है और भाषा कोई व्यक्ति नहीं बनाता। इंसान भाषा सीखना शुरू करता है अपनी ज़रूरतें पूरी करने के लिए। फिर वह देखता है कि बोलने की कोई तमीज़ होती है, कोई तरीक़ा होता है। जैसे फ़लां आदमी बहुत अच्छी भाषा बोलता है और फलां आदमी लट्ठमार ढंग से बोलता है। इस तरह वह अपनी भाषा का परिष्कार करता है। शायरी क्या है? परिष्कृत भाषा में बोलना ही शायरी है। लेकिन उसके पीछे पूरी रिवायत होती है, जिसे आप अपने अंदर समोकर इस तरह अपनी बात कह सकें कि वह शायरी कहलाये और लोग उसकी क़द्र करें। क़द्र या साहित्यिक मूल्यांकन क्या है? यही कि आपकी बात में जो साहित्यिक मूल्य है उसे आंका जाये। और साहित्यिक मूल्य एक मुद्दत से जो भाषागत मूल्य संचित होते रहते हैं, उन्हीं में से पैदा होता है।

अब सवाल पैदा होता है कि सृजनशीलता में जो नवीनता का तत्व होता है, वह क्या है? इस पर मेरा कहना यह है कि कुछ नया करना, अपने काम को नये तरीक़े से करना, यह सृजनशीलता में अंतर्निहित है। मैं पहले

फ़ोटोग्राफ़ी करता था। फ़ोटोग्राफ़ी का मतलब यह नहीं है कि आपने कैमरे से तस्वीरें खींच ली और फ़िल्म किसी को देखकर प्रिंट निकलवा लिये। असली फ़ोटोग्राफ़ी फ़ोटो खींचते वक़्त नहीं, बल्कि डार्क रूम में नेगेटिव से तस्वीर बनाते समय होती है। कैमरा तो फ़ोटोग्राफर के लिए किसी लेखक की उस नोटबुक की तरह है जिसमें वह चलते-चलते कोई बात नोट कर लेता है और बाद में उस बात को रचना का रूप देता है। मैं यह करता था कि नेगेटिव को तरह-तरह से प्रिंट करके देखता था। फिर देखता था कि इस प्रिंट में यह बात अच्छी है, उसे प्रिंट में वह बात अच्छी है, और उनको मिलाकर एक नया प्रिंट बनाता था नेगेटिव तो एक 'फ़िक्स्ड' चीज़ है। वह तो एक बार आपने जो ले लिया, वही रहेगा। आपकी सृजनशीलता इसमें है कि आप उसमें से क्या निकालते हैं या क्या बनाते हैं। इसी प्रक्रिया में नयापन पैदा होता है। लेकिन नयेपन का एक और महत्वपूर्ण आयाम यह है कि जो काम आप कर रहे हैं, उसकी एक परंपरा है, जिसमें आपको कुछ नया करना है। मसलन, फ़ोटोग्राफ़ी की एक बहुत पुरानी रिवायत है, जिसमें मुख़्तलिफ़ फ़ोटोग्राफ़र्स ने बहुत कुछ किया है और मैंने उसमें से बहुत कुछ देखा है। जो प्रिंट में अपने नेगेटिव से बना रहा हूं, वह मुझे अच्छा लग रहा है यह नहीं, या उसमें क्या और करने से वह और ज़्यादा अच्छा रहेगा, वह तमीज़ मुझमें फ़ोटोग्राफ़ी की उस रिवायत को अपने अंदर समा लेने पर ही पैदा हो सकती है। जब मुझे लगता है कि मैंने कुछ नया किया है, या कोई नयी चीज़ ईजाद की है, तो उसके पीछे एक बहुत बड़ी रिवायत होती है।

मैंने कहीं यह लिखा है कि जो लोग आधुनिकतावाद को बिल्कुल नयी चीज़ समझते हैं, उन्हें यथार्थवाद की परंपरा का पता नहीं है, मसलन, काफ़्का बड़ा आधुनिकतावादी लेखक है और उसकी कहानी 'मेटामोर्फ़ोसिस' बड़ी आधुनिकतावादी कहानी मानी जाती है। लेकिन उस कहानी में सिर्फ़ एक बात ऐसी है, जो अविश्वसनीय है - कि एक सुबह वह सोकर उठा, तो उसने ख़ुद को एक तिलचट्टे के रूप में पाया - लेकिन एक बार आप इस अविश्वसनीय बात पर विश्वास कर लें, तो पायेंगे कि पूरी कहानी यथार्थवादी ढंग से लिखी हुई है। इसलिए जब हम नयेपन की बात करें, तो एक तो हमें यह देखना चाहिए कि उसके पीछे की रिवायत क्या है। दूसरे, हमें यह भी देखना चाहिए कि नयी चीज़ में नये तत्व कहां-कहां से आये हैं। वे तत्व दूसरी कलाओं से आ सकते हैं, विज्ञानों से आ सकते हैं, नये तकनीकी आविष्कारों से के ज़रिये आ सकते हैं, या और भी किन्हीं चीज़ों से आ सकते हैं, उदाहरण के लिए जब मनोविश्लेषण का सिद्धांत आया और उसमें चेतन-अवचेतन मन का फ़र्क़ करते हुए यह बताया गया कि मनुष्य सचेत रूप से जो सोचता है, वह तो उसके सोच, समझ और अहसास का बहुत छोटा हिस्सा होता है, बड़ा हिस्सा तो उसके अवचेतन में चल रहा होता है, तब आख्यान की यथार्थवादी पद्धति के लिए संकट पैदा हो गया और अंग्रेज़ी कथा साहित्य में अनेक आधुनिकतावादी रूप सामने आये। इसका मतलब है कि नयापन किसी चीज़ में अपने क्षेत्र की सृजनशीलता की परंपरा से ही नहीं, बल्कि अन्य क्षेत्रों की सृजनशीलता के ज़रिये भी आ सकता है। विज्ञान में कोई नयी खोज हो जाती है, या किसी चीज़ को बनाने की कोई नयी तकनीक निकल जाती है, तो उससे भी साहित्य और कला में संकट पैदा हो जा सकता है और नये-नये कला रूप सामने आ सकते हैं। मसलन, कैमरे का आविष्कार हो जाने पर यथार्थवादी चित्रकला का पोर्ट्रेट बनाने की कला पर सवालिया निशान लग गया और उससे चित्रकला में कई आधुनिकतावादी चीज़ें आयीं। आइंस्टाइन ने सापेक्षता का सिद्धांत दिया, तो रेनेसां काल के परिप्रेक्ष्य के लिए संकट पैदा हो गया। चीज़ों को देखने का ढंग ही बदल गया। उससे चित्रकला में क्यूबिज़्म और दूसरी कई नयी चीज़ें पैदा हुईं। तो मेरा कहना यह है कि जब हम सृजनशीलता के संदर्भ में नवीनता की बात करें, तो एक तो अपने क्षेत्र की परंपरा ध्यान में रखें और दूसरे अन्य क्षेत्रों की सृजनशीलता भी ध्यान में रखें, जो हमारे क्षेत्र की सृजनशीलता को प्रभावित कर रही है। इस तरह देखेंगे, तो आप पायेंगें कि यह सर्वथा नयी या शुद्ध नयेपन जैसी कोई चीज़ नहीं होती। अगर होगी, तो वह संप्रेषित ही नहीं हो पायेगी, जबकि सृजनशीलता बुनियादी तौर पर संप्रेषण का मामला है

अब संप्रेषण कई तरह का होता है। इंसान जब से पैदा होता है, तभी से संप्रेषण शुरू हो जाता है। शुरू के कुछ महीनों तक वह अपनी ज़रूरतें पूरी करने के लिए जो संप्रेषण करता है, उसे हम संप्रेषण का जैविक रूप से निर्धारित पक्ष कह सकते हैं। उसके बाद जब वह भाषा सीखने लगता है और भाषा के ज़रिये संप्रेषण करने लगता है, तब हम उसे सृजनशील संप्रेषण कह सकते हैं। और, जैसा कि मैंने पहले कहा, यह सृजनशीलता सभी मनुष्यों में होती है, जो आगे चलकर ज्ञान, विज्ञान, तकनीक, साहित्य, कला आदि विभिन्न क्षेत्रों में अपने परिपक्व रूपों में दिखायी

पड़ती है।

कुछ लोग सिर्फ़ कलात्मक चीज़ों में ही सृजनशीलता देखते हैं और कला में भी 'हाई आर्ट' और 'फ़ोक आर्ट' जैसे फ़र्क़ करते हैं। ऐसे लोग ग़रीब,अनपढ़, देहाती आदिवासी लोगों की कला को नीची नज़र से देखते हैं। यानी ग़रीब आदमी जो करें, अपने लिए करें, वह 'फ़ोक आर्ट' हुआ। लेकिन वही ग़रीब आदमी अगर आपके सामने आकर गिटार बजाने लगे, तो वह 'हाई आर्ट' हो गया। असल बात यह है कि जिस वर्ग के पास फ़ुर्सत होती है, वह ग़रीब लोगों के द्वारा आविष्कृत और सदियों से तरह-तरह से इस्तेमाल किये जाने वाले कलात्मक रूपों के ही तत्वों को विकसित करता है और फिर उन्हें बाज़ार में बेचता है। इस तरह से विकसित करके बेचे जाने वाले बहुत-से लोकगीत, लोकसंगीत और लोकनृत्य आपको व्यावसायिक सिनेमा में दिखायी देते हैं। कई चीज़ें विकसित किये बिना ही सीधे बाज़ार में ले आयी जाती हैं, और भारत की ख़ास परंपरागत चीज़ बता कर विदेशी पर्यटकों को बेची जाती हैं। जैसे बिहार में मधुबनी की ग़रीब औरतों के द्वारा बनायी जाने वाली पेंटिंग्स या राजस्थान और गुजरात में पहनने के लिए बनाये जाने वाले ख़ास तरह के कपड़े उन्हें बेचने के लिए कहना भी पड़ता है, कि साहब, यह अच्छी चीज़ है, बिल्कुल ही एक अलग चीज़ है लेकिन जैसे अपनी 'हाई आर्ट' की तुलना में वह 'लो आर्ट' है, उसमें सृजनशीलता नहीं है!

इस तरह के लोग कला और सृजनशीलता को रहस्यमय बनाने की भी कोशिश करते हैं। वे इस बात को छिपाते हैं कि सृजनशीलता सभी मनुष्यों में होती है। कहते हैं कि यह तो किसी-किसी में होती है और क्यों होती है, किसी को नहीं मालूम! धर्म का धंधा करने वाले लोग कुछ चीज़ों को 'सेक्रेड' (पवित्र) बनाने के लिए भी रहस्यमय बनाते हैं, जैसे क़ुरआन शरीफ़ के बारे में मुसलमान कहते हैं कि यह अल्लाह ताला की देन है, फ़रिश्ते आकर उसको लिखवा गये थे। इस तरह आम दुनियावी चीज़ों को पवित्र बनाने के लिए इस क़िस्म के अफ़साने गढ़े जाते हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि रहस्य कुछ होता ही नहीं। रहस्य तो होता है, मनुष्य स्वयं एक रहस्य है। भाषा स्वयं एक रहस्य है। अगला फ़िकरा मेरी ज़बान से क्या निकलेगा, मुझे नहीं मालूम। या, हम लेखकों का यह सामान्य अनुभव है कि हम कुछ लिखना चाहते हैं, हमारे पास कहने के लिए कई बातें हैं, लेकिन यह नहीं सूझ रहा है कि कहां से शुरू करें। और अक्सर यह होता है कि आप कहीं जा रहे हैं या कोई और काम कर रहे हैं कि अचानक आपको सूझ जाता है कि यहां से शुरू किया जाये। इसे आप रहस्य कह सकते हैं। इसी तरह, जब आप लिखना शुरू करते हैं। तो लिखते चले जाते हैं, लेकिन उस वक़्त भी आपको पता नहीं होता कि अगला वाक्य क्या होगा। यह भी रहस्य है। लेकिन सवाल यह है कि हम इसको रहस्य बनाये रखना चाहते हैं या इसको समझना और खोलना चाहते हैं। समझना चाहेंगे तो बात समझ में आ भी जायेगी। वह कि आप जो अगला वाक्य बोलने या लिखने वाले हैं, वह आपको मालूम नहीं है, लेकिन वह वाक्य पिछले वाक्य से या पहले कही जा चुकी बात से जुड़ा हुआ होगा और उसका एक आंतरिक तर्क होगा। डब्ल्यू. एच. ऑडेन ने एक बार कहा था कि 'ओनली द फ़र्स्ट लाइन इज़ इंस्पिरेशन, ऑल दि रेस्ट इज़ हार्ड वर्क'। ज़रूरी नहीं कि वह लाइन कविता की पहली ही लाइन हो, वह पांचवीं या सत्तरवीं भी हो सकती है, लेकिन वह एकदम अचानक सूझती है और वही कविता की प्रेरणा है, बाक़ी सब मशक़्क़त है।

प्रेरणा किसी भी चीज़ से मिल सकती है - किसी फूल से, किसी सुंदर स्त्री से, किसी ग़रीब आदमी से या कम्युनिस्ट पार्टी से - लेकिन सवाल यह है कि उसका हम क्या करते हैं। हर इंसान सृजनशील है, इसलिए हर इंसान प्रेरित हो सकता है। मगर इसमें एक बात तो यह है कि उस प्रेरणा से कलात्मक रचना करने का अवसर किसको कितना मिलता है। जिस ग़रीब लेखक को दिन-रात रोज़ी-रोटी और घर गृहस्थी के झंझटों में ही पड़े रहना पड़ता हो, वह प्रेरित होकर भी क्या लिख पायेगा? दूसरी बात यह है कि प्रेरित होने के बाद हम कुछ लिखने, रचने या बनाने के लिए मशक़्क़त कितनी करते हैं। फिर, कुछ लोगों में ऐसी सृजनशीलता भी होती है कि उन्हें किसी बाहरी प्रेरणा की ज़रूरत ही नहीं होती। क़िस्सा है कि मीर तक़ी दिल्ली से भागे और लखनऊ पहुंचे, तो इंशा अल्ला खां ने, जो वहां बहुत ऊंचे रुतबे पर थे, नवाब साहब से कहकर उन्हें एक हवेली दिलवायी। हवेली में एक कमरा ख़ास तौर से सजाया गया कि यहां बैठकर मीर साहब अपना दिन गुज़ारेंगे और पढ़ेंगे-लिखेंगे। मीर साहब वहां रहने लगे। कुछ दिन बाद इंशा साहब आये। पूछा कि कैसा लगा आपको? मीर साहब ने कहा कि अच्छा है। तभी इंशा ने देखा कि मीर के लिए

जिस ख़ास कमरे का इंतज़ाम किया गया था, उसका दरवाज़ा तो अंदर से बंद है। इंशा ने तो वह कमरा मीर के लिए ख़ास तौर पर इसलिए मुक़र्रर किया था कि यह दरवाज़ा खोलेंगे, तो बहार चमन दिखायी पड़ेगा और वहां के फूल-पत्ते देखकर ये अपनी शेरो-शायरी फ़रमायेंगे। इंशा ने कहा कि 'मीर साहब, आपने तो चमन में खुलने वाले दरवाज़े की कुंडी बंद की हुई है।' तो मीर साहब ने कहा – 'अपने अंदर ऐसा चमन खिला हुआ है, भाई, कि मैं और चमन देखकर क्या करूंगा?'

कई लोग सृजन प्रक्रिया के रहस्य की और फिर उसे समझने-समझाने की बात करते हैं। मैं कहता हूं कि सृजनशीलता हर इंसान में होती है और वह एक आजीवन प्रक्रिया है, इसलिए सृजनशीलता की व्याख्या करना ज़रूरी नहीं है। ज़रूरी है सृजनशीलता के अभाव की व्याख्या करना। इस सवाल का जवाब देने की कि इंसान जो बुनियादी तौर पर सृजनशील है, सृजनशील क्यों नहीं रह पा रहा है? उसे कौन सृजनशील होने से रोक रहा है? या वे कौन-सी चीज़ें हैं, जो उसकी सृजनशीलता में बाधक हैं? और, इंसान को सृजनशील कैसे बनाया जा सकता है? यह बहुत अहम सवाल है, क्योंकि इससे कोरे कला-सिद्धांत नहीं निकलते, बल्कि इससे राजनीति निकलती है, नैतिकता निकलती है और निकलती है वह कल्पना, जिसके सहारे हम भविष्य के बारे में सोच सकते हैं और एक ऐसी ज़िंदगी के सपने देख सकते हैं जो आज की ज़िंदगी से बेहतर होगी, ज़्यादा ख़ूबसूरत होगी, ज़्यादा संतुष्ट करने वाली होगी और जिसे आप एक इंसान के तौर पर बिना किसी अपराधबोध के दूसरों के साथ जी सकेंगे। तब हम भविष्य की उस सृजनशीलता के बारे में भी सोच सकेंगे, जो व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामूहिक सृजनशीलता होगी और जिसमें से ज़िंदगी जीने के नये और बेहतर तरीक़े निकलेंगे।

भविष्य की बात निकली है, तो यह भी देख लेना चाहिए कि सृजनशीलता का समय से क्या संबंध है। जो लोग उसका संबंध वर्तमान से जोड़ते हैं, उनको मैं कभी समझ नहीं पाता, क्योंकि वर्तमान तो केवल एक क्षण है, जो या तो गुज़र गया है या गुज़रने वाला है। वह समय का सबसे छोटा अंश होता है। इसलिए मेरी समझ में कभी नहीं आता कि अतीत और भविष्य अलग कैसे हो सकते हैं, क्योंकि उन दोनों के बीच में जो क्षण है, वह या तो अतीत का है या भविष्य का। अपने-आप में तो वह कुछ है ही नहीं। फिर वर्तमान को आप कई तरीक़ों से देखते हैं। कई लोग कहते हैं, यह जो गुज़र रहा है, ऐतिहासिक क्षण है, लेकिन मार्क्सवादी इस बात को नहीं मानते, क्योंकि मार्क्स के मुताबिक़ इतिहास तो अभी शुरू ही नहीं हुआ, वह तो तब शुरू होगा, जब इस वर्गीय व्यवस्था से आज़ादी मिलेगी। तब तक तो यह प्रि-हिस्टरी है, इतिहास के शुरू होने से पहले की अवस्था है, क्योंकि मनुष्य का इतिहास उत्पीड़न का इतिहास नहीं, आज़ादी का इतिहास होगा। अब इससे बात यह निकलती है कि जिस चीज़ को आप अतीत कहते हैं, वह तो एक ऐसी चीज़ है, जिसे आपको पीछे छोड़ना है - कि वह ख़त्म हो और आपका इतिहास शुरू हो। आप मार्क्स पर भी न जाइए, हेगेल का एक वाक्य बहुत सादा-सा, जो मैं बहुत लोगों को बार-बार सुनाता हूं कि 'दि प्रॉब्लम विद हिस्ट्री इज़ दैट इट ओनली गोज़ फ़ॉरवर्ड।' यानी इतिहास सिर्फ़ आगे जाता है, पीछे की तरफ़ जाता ही नहीं। लोग उसे पीछे की तरफ़ ले जाना भी चाहें, तो वह नहीं होगा, जो आप चाहते हैं। मसलन आप इतिहास को पीछे ले जाकर रामराज्य लाना चाहें, तो वह रामराज्य नहीं होगा, आर.एस.एस. राज्य होगा। इतिहास को या तो पिटे हुए लोग दोहराते हैं या फ़ासिस्ट लोग। उसे या तो वे दोहराते हैं, जो मजबूर होते हैं, या फिर वे जो दूसरों को मजबूर रखना चाहते हैं। लेकिन जो प्रगतिशील लोग यह सोचते हैं कि उनका रुख़ अतीत की तरफ़ है और हमारा भविष्य की तरफ़, उनसे मैं सहमत नहीं, क्योंकि जिसे अतीत याद न रहे, वह भविष्य नहीं बना सकता। जिसे अतीत के ज़ख़्म याद नहीं, वह भविष्य की सेहतमंद ज़िंदगी के ख़्वाब नहीं देख सकता। इतिहास भविष्य की सुंदर कल्पनाओं से नहीं बनता, वह इंसानी ग़ुस्से से बनता है और उस ग़ुस्से का संबंध अतीत से होता है।

दूसरी बात यह है कि अतीत में ही ऐसी बहुत-सी चीज़ें हैं, जो इंसान में बड़ी मेहनत और सदियों की कोशिश से बनायी हैं। अगर आप उनको अपनी पूंजी नहीं बनायेंगे, तो भविष्य कैसे बनायेंगे? समय कोई स्लेट तो है नहीं कि आपने उसको साफ़ किया और लिखना शुरू कर दिया। यह आप नहीं कर सकते, क्योंकि समय वह स्लेट है, जिस पर पहले से बहुत कुछ लिखा हुआ है और उसी पर आगे आपको लिखना है। अब यह आप पर है कि अतीत की चीज़ों में से क्या चुनें, क्या छोड़ें और अतीत को किस नज़र से देखें। मसलन, कुछ लोग अतीत के आधार पर

भारतीय परंपरा की बात करते हैं, रामराज्य वग़ैरह की बात करते हैं, लेकिन वे समझते हैं कि अतीत में जो कुछ किया ब्राह्मण और क्षत्रियों ने यानी उच्च वर्ग के या शासक वर्ग के लोगों ने किया। मेरा कहना यह है कि साहित्य हो, कला हो, विज्ञान हो, तकनीक हो, स्थापत्य हो - सबके इतिहास श्रम के इतिहास हैं। लेकिन वर्गीय व्यवस्था का सबसे बड़ा कारनामा यह है कि जो चीज़ मेहनत ने पैदा की है, सदियों की मेहनत ने, उसको किसी एक व्यक्ति या एक राजा या एक जाति से जोड़ दिया है - कि देखिए, यह ग्रंथ फ़लां ने लिखा, यह ईजाद फ़लां ने की, यह इमारत फ़लां ने बनवायी। लेकिन वे सब चीज़ें आम लोगों की सदियों की मेहनत से पैदा हुई है। हम उनका श्रेय उच्च वर्ग के लोगों को नहीं दे सकते। उच्च वर्ग के लोगों की सब कला-वला असल में मेहनतकश लोगों की सृजनशीलता पर निर्भर करती है।

अतः आप अगर इतिहास बनाना चाहते हैं, तो वह भविष्य की कल्पनाओं नहीं बनेगा, बल्कि अतीत की स्मृतियों से बनेगा। वह अतीत की उपलब्धियों की स्मृतियों से बनेगा, और उसे बनाते समय आपको याद रखना पड़ेगा कि मेहनतकश लोगों पर अत्याचार हुए हैं और मेहनतकश लोगों ने ही वे उपलब्धियां की हैं, जिनके आधार पर भविष्य का निर्माण होगा। अतीत के उन अत्याचारों को याद करके आपको ग़ुस्सा नहीं आता और मेहनतकश लोगों की उपलब्धियों को याद करके आपको गर्व नहीं होता, तो आप कोई इतिहास नहीं बना सकते।

लेकिन स्मृति के बारे में एक बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि वह हमें सृजनशील तो बनाती है, इतिहास बनाने में हमारी मदद भी करती है, लेकिन हर तरह की स्मृति नहीं, सिर्फ़ वह स्मृति जो वास्तविक, तर्कसंगत और ऐतिहासिक हो। इतिहास में भी सब कुछ हमारे काम का नहीं होता। उसमें बहुत कुछ ऐसा है, जो मुर्दा हो चुका है और भविष्य को बनाने में उसका कोई उपयोग नहीं है। लेकिन उसमें बहुत कुछ ऐसा भी है, जो जीवंत है और हमारे लिए उपयोगी है, उपयोगी इस अर्थ में कि वह हमें सृजनशील बनाता है, इतिहास बनाने में हमारी मदद करता है और भविष्य का निर्माण करने में हमें समर्थ बनाता है

कुछ लोग सवाल उठाते हैं कि स्मृति, जो हमें सृजनशील बनाती है, व्यक्तिगत होती है या सामूहिक यानी क्या स्मृति को नस्ल, धर्म, लिंग या राष्ट्र जैसी चीज़ों से जोड़ा जा सकता है? मसलन, गोरों की स्मृति अलग और कालों की अलग? हिंदुओं की अलग और मुसलमानों की अलग? सवर्णों की अलग और दलितों की अलग? मेरा कहना यह है कि सामूहिक स्मृति तो हो सकती है, जैसे उत्पीड़कों की अलग, लेकिन उसे नस्ल, धर्म, लिंग, जाति और राष्ट्र जैसी चीज़ों से नहीं जोड़ा जाना चाहिए। जहां तक नस्ल का सवाल है विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि नस्ल जैसी कोई चीज़ नहीं होती। मैंने अभी-अभी एक किताब पढ़ी है, *अगेंस्ट रेस* जिसका लेखक कहने को एक काला आदमी है, लेकिन वह कहता है कि काला आदमी जैसी कोई चीज़ नहीं होती। फिर अफ़्रीका के काले अलग हैं, अमेरिका के भी सब काले एक जैसे नहीं हैं। इसी तरह धर्म, राष्ट्र और लिंग की बात है। हिंदू सारी दुनिया में रहते हैं, लेकिन अलग-अलग देशों में रहने वाले हिंदुओं की कोई एक सामूहिक स्मृति कैसे हो सकती है? या औरतों को लीजिए, भारत की औरतों का इतिहास अलग है, अमेरिका की औरतों का इतिहास अलग है। दुनिया भर की औरतों की एक सामूहिक स्मृति कैसे हो सकती है? दरअसल सामूहिक स्मृति की अवधारणा एक फ़ासिस्ट अवधारणा है।

इस सिलसिले में मुझे एक और बात कहनी है। वह यह कि सामूहिकता की अवधारणा को ऐतिहासिक संदर्भ में समझना चाहिए। पुरानी परंपरागत समाज में या प्राक्-पंजीवादी समाज में और आधुनिक समाज में एक बुनियादी फ़र्क़ है। आधुनिक समाज में सामूहिकता आपका अपना चुनाव है, जैसे आप किसी ट्रेड-यूनियन के, या पार्टी के, या लेखकों-कलाकारों के किसी संगठन के सदस्य बनते हैं, तो आपकी यह सामूहिकता आपका अपना चुनाव है, जबकि वर्ण और जाति जैसी सामूहिकताएं आपके जन्म से संबंधित होती हैं। आप गोरे पैदा हुए या काले, ऊंची जाति में पैदा हुए या नीची जाति में, औरत पैदा हुए या मर्द - इस पर आपका कोई बस नहीं था। यह आपकी अपनी 'च्वाइस' नहीं थी। आधुनिक समाज की सामूहिकता 'कलेक्टिविटी ऑफ़ च्वाइस' है, जबकि पुराने पिछड़े हुए, प्रतिक्रियावादी और फ़ासिस्ट सोच वालों के लिए वह 'प्रि-गिवन' है, पूर्वप्रदत्त है। मसलन, मुझे देखिए। मैं मुसलमानों के घर में पैदा हुआ, लेकिन मैं ख़ुद को न मुसलमान मानता हूं ना हिंदू। मैं कहता हूं कि मैं एक आधुनिक धर्मनिरपेक्ष भारत का नागरिक हूं। आप हिंदू हैं, अपने घर में बैठिए, आप मुसलमान हैं, अपने घर में बैठिए, बड़ी ख़ुशी की बात है, लेकिन आप मुझे मजबूर नहीं कर सकते कि मैं ख़ुद को हिंदू मानूं या मुसलमान! इसलिए जो लोग हिंदू-

मुसलमान जैसी सामूहिकताओं की बातें करते हैं, उनकी बातों पर मुझे एतराज़ है। मैं कहता हूं कि श्रमिक वर्ग की भी एक सामूहिक स्मृति है। दुनिया में एक चीज़, जो हज़ारों सालों से नहीं बदली है, वह यह है कि दुनिया की भारी अक्सरियत (बहुसंख्या) सुबह से शाम तक कमरतोड़ मेहनत करती है और उसकी सामूहिक स्मृतियां हैं - शोषण की, दमन की, उत्पीड़न की, अन्याय की, अत्याचारों की स्मृतियां। और ऐसे लोगों में हिंदू-मुसलमान, गोरे काले, स्त्री पुरुष, सब तरह के लोग हैं।

कुछ लोग सृजनशीलता के संदर्भ में वर्ग या जाति के विशिष्ट अनुभव का सवाल उठाते हैं मसलन, नारीवादी या दलितवादी लोगों में से कुछ लेखक यह कहते पाये जाते हैं कि औरत ही औरत के बारे में प्रामाणिक लेखन कर सकती है, या दलित ही दलित के बारे में सही ढंग से लिख सकता है, क्योंकि औरत या दलित होने का उनका जो अनुभव है किसी और का नहीं हो सकता। इस पर मेरा कहना यह है कि इस तरह की बाड़ेबंदी, कम से कम साहित्य में, बिल्कुल ग़लत है। मैंने अमेरिका में यूरोपीय साहित्य पढ़ाया है, यानी गोरों को गोरों का साहित्य पढ़ाया है। मुझसे कभी किसी ने नहीं कहा कि यह तुम्हारी समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि तुम गोरे नहीं हो। अगर कोई ऐसा कहे, तो मैं उसके मुंह पर चांटा मारूंगा और कहूंगा कि मैं तुम्हारे बाप-दादा का साहित्य तुम्हें इसलिए पढ़ा रहा हूं कि मैंने उसे पढ़ा है, सीखा है, मेहनत की है साहित्य में यह नहीं हो सकता की जिसका जो अनुभव है, वही उसको समझ सकता हो। वरना आज का कोई आदमी अठारहवीं सदी का साहित्य कैसे पढ़ पाता? उन्नीसवीं सदी में जो साहित्य लिखा गया, या 1920 में जो शायरी की गयी, उसका आज के आदमी के तजुर्बे से क्या ताल्लुक़? अगर साहित्य का संबंध व्यक्तिगत अनुभव से होता, तब तो एक आदमी की लिखी चीज़ दूसरा समझ ही न पाता। दो इंसान आपस में बात ही न कर पाते। भाषा और साहित्य व्यक्तिगत अनुभव की चीज़ नहीं, सामाजिक अनुभव की चीज़ हैं। सृजनशीलता व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक है, यह बुनियादी बात है।

आपके अनुभव का एक हिस्सा ऐसा हो सकता है, जिस तक मेरी पहुंच न हो, लेकिन आप अपने अनुभव के उस हिस्से की बात मुझसे कहते हैं, तो आपकी बात मेरी समझ में आ सकती है और मैं उससे कुछ सीख सकता हूं। मसलन, मैंने नारीवाद से बहुत सीखा। मैं पाकिस्तान में रहता था। वहां फ़ौजी तानाशाही आयी, तो मैं लुढ़कता-पुढ़कता पहुंच गया अमेरिका। वहां उस समय युद्धविरोधी एक ज़ोरदार आंदोलन चल रहा था, कालों का एक ज़ोरदार आंदोलन चल रहा था। मैं उसमें शामिल हो गया, क्योंकि मैं युद्धविरोधी था और एशिया के मज़लूम इंसानों में से एक था, जो यहां के हिसाब से भले ही गोरे या गेहुंए रंग के हों, या गोरों की नज़र में तो काले ही हैं। पांच-सात बरस बाद वहां नारीवाद शुरू हुआ, तो पता चला कि तुम तो मर्द भी हो, बहुत ज़ुल्म किये तुमने औरतों पर। तो यह तो सही है कि औरत न होने के कारण मैं औरत का दुख-दर्द एक औरत की तरह महसूस नहीं कर सकता, दलित या आदिवासी न होने के कारण मैं एक दलित या आदिवासी के दुख-दर्द या उत्पीड़न को उसकी तरह से महसूस नहीं कर सकता, लेकिन औरत, दलित या आदिवासी के अनुभव का यह हिस्सा, जो उसका बिल्कुल अपना है, बहुत छोटा हिस्सा है और उसके बारे में मैं किसी औरत, दलित या आदिवासी से पूछकर जान सकता हूं। लेकिन अगर कोई कहता है कि आप मेरे अनुभव को समझ ही नहीं सकते, तो इसका जवाब मेरे पास बहुत कड़ा है। वह यह है कि अगर मैं आपके अनुभव को समझ ही नहीं सकता हूं, तो आप मुझसे हमदर्दी की कोई उम्मीद न रखें। जो चीज़ मेरी समझ में न आये, उसके बारे में मैं हमदर्दी कैसे दिखाऊंगा। अगर आपको मुझसे किसी हमदर्दी की उम्मीद है, तो आप मुझे समझाइए कि वह बात क्या है, जिसके बारे में आपको मेरी हमदर्दी चाहिए। सॉलिडेरिटी (एकजुटता) के लिए आपस में संप्रेषण होना, एक-दूसरे के अनुभवों को साझा करना, निहायत ज़रूरी है। और यह तमाम भिन्नताओं के बावजूद हो सकता है।

चूंकि आज सृजनशीलता के संदर्भ में नारीवाद और दलितवाद की चर्चा होने लगी है और वामपंथी या मार्क्सवादी लोगों की सहानुभूति इन दोनों आंदोलनों से रही है, इसलिए हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि आज की परिस्थिति में इन आंदोलनों की वास्तविकता क्या है। मैं एक ताज़ा उदाहरण आपके सामने रखता हूं - गुजरात में अभी जो कुछ हुआ, उसमें लोगों ने देखा कि जब मुसलमान औरतों पर अत्याचार हो रहे थे, हिंदू औरतें उन लोगों की भीड़ में शामिल थीं। जो मुसलमानों के घर लूट रहे थे, और उनमें पढ़ी-लिखी औरतें भी थीं। दूसरी तरफ़ उन दंगों में हिंदू फ़ासिस्टों का साथ दलित और आदिवासी भी दे रहे थे। अगर हम औरतों की सामूहिकता और एकजुटता

की बात करते हैं, तो क़ायदे से हिंदू औरतों को औरत होने के नाते मुस्लिम औरतों का साथ देना चाहिए था। और अगर हम दलित-आदिवासियों को हिंदू धर्म की वर्ण-व्यवस्था और उसके ब्राह्मणवाद के ख़िलाफ़ एकजुट समझते हैं, तो क़ायदे से गुजरात में उन्हें ब्राह्मणवाद और वर्ण-व्यवस्था के समर्थक भाजपा और आर.एस.एस. के लोगों के हाथों में नहीं खेलना चाहिए था। फिर, उत्तर प्रदेश में जो मायावती भाजपा से हाथ मिला कर शासन कर रही है, वह तो औरत और दलित दोनों है। इस चीज़ को कैसे समझा जाये? आज के किसी सृजनशील लेखक को, जो गुजरात की हक़ीक़त के बारे में या हिंदुस्तान की हक़ीक़त के बारे में लिखना चाहता है, इस चीज़ को समझना होगा।

मेरा कहना यह है कि फ़ासिस्टों के जो 'स्टॉर्म ट्रूपर्स' होते हैं, वे हमेशा ग़रीब-गुरबा और समाज के दुत्कारे हुए लोग होते हैं, जिनका अपनी ज़िंदगी पर किसी तरह का अधिकार नहीं होता और ज़िंदगी के बारे में जिनके अंदर बहुत ग़ुस्सा होता है, जिनकी समाज में कोई जगह नहीं होती, जिन्हें अपनी अस्मिता की कोई समझ नहीं होती। फ़ासिस्ट आंदोलन के पूरे इतिहास में आप यह चीज़ देख सकते हैं और मुझे इस पर कोई ताज्जुब कभी नहीं हुआ। मैंने 1993 में एक मज़मून लिखा था, 'ऑन दि रुइन्स ऑफ़ अयोध्या'। उसमें मैंने लिखा था कि यह सोचना ग़लत है कि आर.एस.एस. वाले दलितों में या आदिवासियों में अपनी जगह नहीं बना सकते। फ़ासिस्ट आंदोलन जितने ब्राह्मणवाद से पैदा हो सकते हैं, उतने ही नीची जातियों की राजनीति से। और ऐसे मौक़े आ सकते हैं, जब दोनों हाथ मिला लें। दूसरी बात उसी मज़मून में मैंने यह लिखी थी कि जाति-व्यवस्था में सबसे ऊपर वाले का झगड़ा सबसे नीचे वाले से नहीं होता, बल्कि यह झगड़ा सोपानक्रम से होता है। यानी जो सबसे नीचे की सीढ़ी पर है, उसका झगड़ा अपने से ऊपर की सीढ़ी वाले से और ऊपर की सीढ़ी वाले का झगड़ा अपने से ऊपर की सीढ़ी वाले से होता है। फिर, एक झगड़ा एक ही सतह के या एक ही जाति के लोगों में आपस में भी होता है, जिनके हित अलग-अलग होते हैं। मसलन एक ही जाति के हैं, पर अलग-अलग क्षेत्रों के हैं, या अलग-अलग पार्टियों से जुड़े हुए हैं, या अलग-अलग वोट बैंकों का हिस्सा हैं। ऐसे में यह सोचना ग़लत है कि सारी उत्पीड़ित जातियां मिलकर उत्पीड़न जातियों के ख़िलाफ़ या ब्राह्मणवाद के ख़िलाफ़, उठकर खड़ी हो जायेंगी। अगर आप इन्हें नहीं खड़ा कर पायेंगे, तो यह कभी खड़े नहीं होंगे। उनके अपने अनुभव से ऐसी कोई चीज़ नहीं निकलती। अत्याचार के अनुभव से सिर्फ़ बदला लेने की इच्छा पैदा होती है। लोग सोचते हैं कि जिन्होंने हम पर ज़ुल्म किये हैं, उन पर हम भी ज़ुल्म करें। ऐसे लोगों को बड़ी आसानी से बरगलाया जा सकता है। मसलन, भंगियों को भले ही सबसे नीचा समझते रहिए, उन पर ज़ुल्म करते रहिए, उनका अपमान करते रहिए, लेकिन उनका इस्तेमाल करने के लिए कोई कहानी सुना दीजिए कि मुसलमान तो ऐसे होते हैं, ऐसा करते हैं, और आप तो बाल्मीकि हैं, *रामायण* तुमने ही लिखी है और रामराज्य लाने के लिए मुसलमानों को मारना ज़रूरी है, तो वे आपके भड़काने पर भड़क जायेंगे। साथ में उनकी थोड़ी-बहुत ज़रूरतें पूरी कर दीजिए, थोड़ा-बहुत आर्थिक आधार दे दीजिए, उनको एक 'सेंस ऑफ़ आइडेंटिटी' दे दीजिए, और थोड़ा 'मोबिलाइज़' करके मुसलमानों को मारने-काटने के लिए कह दीजिए, तो वे चल पड़ेंगे।

मुझे बहुत रंज है, बहुत तकलीफ़ है इस बात की कि समाज की जिन परतों पर दरअसल वामपंथियों को काम करना चाहिए था - और वे परतें वाम का स्वाभाविक आधार थीं - और उन पर काम करके एक क्रांतिकारी आंदोलन खड़ा किया जा सकता था, उन परतों पर वामपंथियों ने नहीं, बल्कि दक्षिणपंथियों ने काम किया, फ़ासिस्टों ने काम किया। आज का ज़माना सामूहिक राजनीति का ज़माना है और समाज के विभिन्न समूह अपना राजनीतिकरण चाहते हैं। आज राजनीतिकरण नहीं करेंगे, तो दूसरे लोग करेंगे। कम्युनिस्ट यह काम नहीं कर पाये और आर.एस.एस. वालों ने यह काम कर दिखाया। कैसे कर दिखाया? आप सृजनशीलता की बात करते हैं, लेकिन आपसे ज़्यादा सृजनशील वे हैं। फ़ासिस्ट आतंक भी सृजनशील हो सकता है। आर.एस.एस. के बारे में मेरा कहना है कि जो मसला 'लेफ़्ट' (वाम) दुनिया में कहीं भी हल नहीं कर पाया, वह हिंदुस्तान में आर.एस.एस. ने कर दिखाया। बुर्जुआ डेमोक्रेटिक सिस्टम (पूंजीवादी जनवादी व्यवस्था) को उखाड़ फेंकने का काम वाम का था। उसके लिए वाम की रणनीति क्या थी? यह कि एक वैनगार्ड (हरावल) पार्टी होनी चाहिए, एक मास पार्लियामेंट्री पार्टी (आम जनता का संसदीय दल) होना चाहिए, जो आपका राजनीतिक उपकरण हो, और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए फ्रंट्स (मोर्चे) होने चाहिए। संगठन के ये तीन रूप हैं।

भारतीय वाम ने भी इन तीनों रूपों में अपना संगठन किया, लेकिन वह इतना प्रभावशाली नहीं रहा, जितना दक्षिणपंथियों और फ़ासिस्टों ने कर दिखाया। आर.एस.एस. उनकी वैनगार्ड पार्टी है, भाजपा आम जनता के संसदीय दल के रूप में उनका राजनीतिक उपकरण है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए उनके हर तरह के फ्रंट्स हैं - औरतों के, मर्दों के, अनपढ़ों के, पढ़े लिखों के, मज़दूरों के, सफ़ेदपोशों के, सब तरह के और सब जगह आप इसे 'क्रिएटिव' (सृजनशील) कह लें या डायबॉलिकल (शैतानी या राक्षसी) कह लें, पर यह हुआ है और उन्होंने किया है। गुजरात में एक तरह से किया है, कर्नाटक में दूसरी तरह से किया है, उत्तर प्रदेश में इसी तरह से किया है, बंगाल में चौथी तरह से किया है, लेकिन किया है और इसी का नतीजा है गुजरात से उत्तर-पूर्व तक मध्य प्रदेश से होती हुई - एक लहर खिंच गयी है आदिवासी आर.एस.एस. की। जो लोग वाम के सहज-स्वाभाविक सहयोगी होने चाहिए थे, वे दक्षिण के समर्थक और सहयोगी बन गये हैं। यह फ़ासीवाद के नाटक का पहला अंक है। लेकिन यह बहुत बड़ा नाटक है, जो होने जा रहा है। इसलिए मैंने कहा कि दलितों-आदिवासियों पर जो ज़ुल्म हुए हैं, उनका पूरा अहसास तो उन्हें कराना चाहिए लेकिन उन्हें 'रोमेंटिसाइज़' नहीं करना चाहिए। उन्हें संगठित करना चाहिए, पर 'रोमेंटिसाइज़' कभी नहीं करना चाहिए।

दस बरस पहले जब बसपा बनी थी और उत्तर प्रदेश की राजनीति में तरह-तरह की चीज़ें हो रही थीं, मैंने अपने वामपंथी दोस्तों से कहा था कि एक जगह जाकर ये बसपा और भाजपा वाले मिल जायेंगे, इसलिए दलितों को संगठित तो करो पर इन्हें 'रोमेंटिसाइज़' मत करो। आपने दलितों-आदिवासियों को 'रोमेंटिसाइज़' किया - मानो इन पर ज़ुल्म हुए हैं, तो या इसलिए, ये बड़े क्रांतिकारी हैं और आपके साथ चलेंगे - लेकिन हुआ क्या? उनमें से बहुत से आर.एस. एस. के साथ चले गये, आपके साथ नहीं आये। मायावती ने या बसपा ने भाजपा से हाथ मिला लिया, तो वामपंथियों को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यह सहज और स्वाभाविक साथ धर्मनिरपेक्ष और जातिवाद-विरोधी वामपंथियों के विरुद्ध भाजपा और बसपा का एक हो जाना न आकस्मिक है न आश्चर्यजनक। बसपा जातिवाद को बनाये रखना चाहती है और भाजपा सांप्रदायिकता को। साहित्य के क्षेत्र में अगर दलित लेखक वामपंथियों के साथ नहीं जा रहे हैं तो इस पर भी आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिए। दलित लेखक को भी तो आपने 'रोमेंटिसाइज़' किया था। दलितों पर ज़ुल्म हुए इसलिए वे ज़ुल्म के ख़िलाफ़ लड़ेंगे ही, यह कहीं लिखा नहीं है। उन्हें लड़ना चाहिए, यह अलग बात है। वे लड़ें, इसके लिए उन्हें संगठित करना चाहिए, 'रोमेंटिसाइज़' नहीं करना चाहिए। और संगठित करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि ये लोग अपने पर हुए ज़ुल्मों की बात करते हुए चाहे ब्राह्मणवाद का विरोध करते हों या वर्ण-व्यवस्था वाले पूरे हिंदू धर्म का, लेकिन मौक़ा पड़ने पर हिंदुत्ववादियों से हाथ मिला लेने में इन्हें कोई हिचक नहीं होगी, क्योंकि इनका अंतर्विरोध भाजपा से उतना नहीं, जितना समाजवादियों से है। भाजपा के ब्राह्मण-बनियों से उतना नहीं, जितना झगड़ा इनका यादवों से है। गांव देहात में दलित पर ज़ुल्म ब्राह्मण-बनिया उतना नहीं करता, जितना यादव करता है। भाजपा वाले वहां एक क्षयशील भूस्वामी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि समाजवादी पार्टी उन्नतिशील भूस्वामी वर्ग का। अब, भाजपा का रवैया यह है कि उन्नतिशील भूस्वामी वर्ग से अपना झगड़ा है, तो क्षयशील भूस्वामी वर्ग से हाथ मिला लो।

यहां मैं एक और बात कह दूं - इतिहास किसी के पक्ष में नहीं होता। न वह मज़दूर के पक्ष में होता है, न मालिक के पक्ष में, न वह दलित के पक्ष में होता है, न ब्राह्मण के पक्ष में। इतिहास उसका होता है, जो उसे बनाता है। एक बार इतिहासकार रामशरण शर्मा ने कहा था - वामपंथी अपनी राजनीति करें, इतिहास की जान छोड़ें, क्योंकि इतिहास में तो इनके पक्ष का भी बहुत कुछ निकल आयेगा, उनके पक्ष का भी बहुत कुछ निकल आयेगा, इतिहास से कुछ भी साबित किया जा सकता है। सवाल यह है कि कौन इतिहास बना रहा है, कौन उसे अपने हक़ में इस्तेमाल कर पा रहा है। उदाहरण के लिए, आप बंटवारे के इतिहास को देखें। हिंदुस्तान में दो बड़े बंटवारे हुए थे - एक पंजाब का और एक बंगाल का। पंजाब का बंटवारा सबको याद रहता है, उस पर बहुत कुछ लिखा जाता है, फिल्में बनायी जाती हैं, लेकिन बंगाल का बंटवारा किसी को याद नहीं रहता। इसकी वजह यह नहीं है कि पंजाब पास है और बंगाल दूर है। वजह यह है कि पंजाब के बंटवारे का फ़ायदा आर.एस.एस. ने उठाया, और बंगाल के बंटवारे से कम्युनिस्ट आंदोलन निकला। शरणार्थी भारत में पश्चिमी पाकिस्तान से भी आये और पूर्वी पाकिस्तान से भी (जो बाद में

बांग्लादेश बना) लेकिन पश्चिमी पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों में जैसी सांप्रदायिक भावनाएं भरी गयीं, पूर्वी पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों में नहीं भरी जा सकीं। फिर जब पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे की सरकार बन गयी, वहां कोई सांप्रदायिक दंगा नहीं हुआ। लेकिन अब पिछले दस साल से, जब से ममता बनर्जी आर.एस.एस. के लोगों को लेकर देहाती इलाक़ों में जाने लगी हैं, वहां सांप्रदायिक भावनाएं उभरने लगी हैं। हिंदुओं पर मुसलमानों के अत्याचारों की कहानियां जो अभी तक सुनने में नहीं आती थीं, अब वहां भी सुनने में आने लगी हैं। एक नया इतिहास गढ़ा जाने लगा है और जो बंगाली मध्यवर्ग पहले से ही कम्युनिस्टों का विरोधी था, उसमें विश्वास करने लगा है।

दरअसल, स्मृति बहुत भरोसेमंद चीज़ नहीं होती, आदमी बहुत सी बातें भूल जाता है, कुछ ही बातें याद रखता है। इसका मतलब यह है कि स्मृति 'सिलेक्टिव' (चयनात्मक) होती है। आप कुछ चीज़ें चुनकर याद रखते हैं, बाक़ी भूल जाते हैं। फिर पुराने तथ्यों की नयी व्याख्या करके और उसके आधार पर कहानियां गढ़कर फैलाने से स्मृतियां गढ़ी भी जा सकती हैं। पश्चिम बंगाल में यही हो रहा है। वहां मेरी कुछ छात्राएं, जो बीस-बाईस बरस की हैं और एम.ए., पी.एच.डी. कर रही हैं, बताती हैं कि पहले हमने अपने घरों में कभी नहीं सुना कि हम पूर्वी पाकिस्तान से आये शरणार्थी हैं और वहां हम पर मुसलमानों ने ज़ुल्म किये थे, लेकिन पिछले दस वर्षों से हमारे घरों में ऐसी कहानियां सुनी-सुनायी जाने लगी हैं। अतः जिसे सामूहिक स्मृति कहते हैं, वह अपने-आप नहीं बनती, बल्कि बनायी जाती है। उनमें कुछ तथ्य दबा दिये जाते हैं, कुछ उभार दिये जाते हैं और उनकी ऐसी व्याख्या कर दी जाती है, जो ऐसा करने वालों के राजनीतिक एजेंडे के मुताबिक़ हो। आर.एस.एस. इतिहास के पीछे क्यों पड़ा है? इसलिए कि बच्चों को पाठ्यपुस्तकों में ऐसा इतिहास पढ़ाया जाये, जो उसके सांप्रदायिक और फ़ासिस्ट मंसूबों को पूरा करे। इसलिए वह वैज्ञानिक ढंग से लिखे जाने वाले इतिहास का विरोधी है। जो इतिहास वह पढ़ाना चाहता है, उससे जिस सामूहिक स्मृति का निर्माण वह करना चाहता है, उसका ऐतिहासिक तथ्य या तत्वों से कोई लेना-देना नहीं है। तर्कसम्मत और विज्ञानसम्मत इतिहास उसके राजनीतिक हितों और उद्देश्यों के अनुकूल नहीं है, इसलिए वह अतार्किक, अवैज्ञानिक और सांप्रदायिक दृष्टि से व्याख्यायित किये गये कुछ चुने हुए तथ्यों को उभारना और बाक़ी तमाम तथ्यों को दबा देना चाहता है।

मैं कहना यह चाहता हूं कि सारी स्मृतियां चयनात्मक होती हैं और उसके चयन के पीछे वर्गीय दृष्टियां होती हैं, आर्थिक हित होते हैं राजनीतिक उद्देश्य होते हैं। इसलिए सृजनशीलता के संदर्भ में जब अतीत, इतिहास, स्मृति या अनुभव की चर्चा हो, तो बहुत सजग रह जाये और सावधानी बरती जाये।

कथन : अक्टूबर-दिसंबर 2002 से साभार

सांप्रदायिकता : बदलते रूप और नियति

एजाज़ अहमद

संप्रदायवाद पर बहुत कुछ लिखा गया है। वामपंथी लेखकों में भी इसकी कई वैचारिक क़िस्में मिलती हैं। और सांप्रदायिक हिंसा वाली लगभग सभी घटनाओं पर, सांप्रदायिक राजनीतिक दलों के इतिहास और संगठन, केंद्र और राज्यों की सांप्रदायिक नीतियों इत्यादि के ऊपर काफ़ी दस्तावेज़ मिलते हैं। मैंने ख़ुद भी इस पर विस्तार से लिखा है। यहां मैं एक के बाद एक घटनाओं को सिलसिलेवार रखते हुए एक और आख्यान पेश नहीं करना चाहता, हालांकि कुछ तथ्य गाहे-ब-गाहे सामने आते रहेंगे। मेरी ज़्यादा दिलचस्पी संप्रदायवाद, राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षता आदि के प्रति हमारे दृष्टिकोण में है।

शुरुआत में ही मुझे स्पष्ट शब्दों में अपनी बुनियादी राय सामने रखने की अनुमति दें।

अपने सभी रूपों में संप्रदायवाद, मेरे हिसाब से, किसी स्वस्थ राजनीतिक समाज में ऊपरी/सतही बीमारी नहीं है जो किसी एक हिस्से में होती है जबकि बाक़ी का राष्ट्र धर्मनिरपेक्ष बना रहता है। न ही यह बुरे व्यवहार की छूत की बीमारी है जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, शिवसेना और ऐसे ही दूसरे संगठनों द्वारा फैलायी जाती है और धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रवाद आदि की ज़्यादा बड़ी ख़ुराक़ से ठीक की जा सकती है। बल्कि मेरा विश्वास है कि जिन घटनाओं और व्यवहारों को हम 'सांप्रदायिक' कहते हैं, उनकी जटिल ऐतिहासिक जड़ें हैं और वे अब भारतीय समाज की संरचना और दैनंदिन राजनीति में गहरे धंसी हुई हैं—इतनी गहरी कि अधिकतर समय वे अनदेखी रह जाती हैं। विचारधारा की आलोचना निस्संदेह बहुत आवश्यक है, किंतु इससे भी अधिक ज़रूरी है उस सांप्रदायिक हिंसा से संबंधित तथ्यों और आंकड़ों को इकट्ठा करना है जो अनगिनत ज़िंदगियों को लगातार तबाह करती जाती है। लेकिन हमें उन विवरणों और आलोचनाओं को ऐसे समाज के मूलभूत संरचनात्मक विश्लेषण में अवस्थित करना ज़रूरी है जिसमें ये सांप्रदायिक विचार और व्यवहार उपजते हैं, और जिसमें करोड़ों लोग ऐसे विचारों को प्रशंसनीय समझते हैं और ऐसे व्यवहार को न केवल जायज़ बल्कि ज़रूरी और फ़ायदेमंद समझते हैं। अपने सभी रूपों और व्यवहारों में संप्रदायवाद मुझे इस बात की पैमाइश का एक उपयोगी सूचकांक लगता है कि गणतंत्र पिछले 65 वर्षों से किस दिशा में उन्मुख रहा है और अब कहां पहुंचा है। नरेंद्र मोदी अभी इसका लक्षण हैं, और मैं यह कहने का दुस्साहस करना चाहता हूं कि कम-से-कम पिछले दो दशकों से या शायद चार दशकों से (जैसा कि हम आगे देखेंगे) यह राष्ट्र कहां जा रहा है, उसका वे प्रतीक हैं। अगर वे प्रधानमंत्री बन गये—और यह एक बड़ा अगर है—तो हम यात्रा में एक और मील का पत्थर पार कर जायेंगे। लेकिन दिशा मौलिक रूप से भिन्न नहीं होगी, क्योंकि यह दिशा नयी नहीं है।

इसको कहने का एक और तरीक़ा है। मुख़्तसर में, रोज़ा लग्ज़ेम्बर्ग सही थीं। पूंजीवाद अनिवार्यतः समाजवाद की ओर नहीं ले जाता, यह बर्बरता की ओर भी ले जा सकता है। मुझे जोड़ने दीजिए कि लग्ज़ेम्बर्ग का यह कथन भारत सरीखे लुटेरे पूंजीवाद की राह पर चलने वाले देश के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि कई तरह के संप्रदायवाद न सिर्फ़ ऐसे पूंजीवाद के निर्माताओं बल्कि इसके कई शिकार बनने वालों को भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष तौर पर फ़ायदा और ऊर्जा दे सकते हैं। किसी भी फ़ासीवाद और किसी भी धार्मिक उन्माद से प्रेरित हिंसक लड़ाई में, और नस्ल आधारित सफ़ाया अभियानों में अधिकतर दंगाई उस शोषित-उत्पीड़ित जनता के बीच से आते हैं जो अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में झेली जाने वाली क्रूरताओं के हाथों आध्यात्मिक तौर पर तबाह और नैतिक तौर पर

दिशाहीन हो गये हैं।

क्लारा ज़ेटकिन ने अपने वक़्त के बारे में दो टूक कहा, 'फ़ासीवाद हमारे क्रांति न कर पाने के लिए सही सज़ा है।' मैं बाद में 'सांप्रदायिक फ़ासीवाद' के बारे में बात करूंगा। मुझे केवल यह कहने दीजिए कि ज़ेटकिन का वक्तव्य हमें अपने समय के बारे में दो बातें समझने में मदद करता है। पहली कि विश्वस्तर पर वामपंथ की हार ने चरम दक्षिणपंथी ताक़तों को जन्म दिया है, जिसके तीन बड़े परिणाम है : (1) मार्क्सवाद और साम्यवाद 1989 के पहले की तुलना में बहुत कम वैश्विक जगह घेरते हैं, (2) नवउदारवाद—या जिसे मैं चरम पूंजीवाद कहता हूं—ने पृथ्वी के कई हिस्सों में जीतें हासिल की हैं और, पूंजीवाद के केंद्र में गहरी मंदी के बावजूद, मज़दूर वर्ग ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की है, और (3) अफ़्रीका एवं एशिया के विभिन्न हिस्सों में राष्ट्रवाद ख़ुद साम्राज्यवाद विरोधी अंतर्वस्तु से रिक्त हो गया है, इसे अब नस्ल और धर्म से परिभाषित किया जा रहा है और यह नवउदारवाद के साथ हाथ मिला कर चल रहा है। इस मामले में नरेंद्र मोदी एक प्रतीक-पुरुष हैं। जिसे हम संप्रदायवाद और वे ख़ुद हिंदू राष्ट्रवाद कहते हैं, उसके वे बड़े कार्यकर्ता हैं और इसी रूप में उन्हें अहमियत हासिल हुई और वे क्षेत्रीय शक्ति के रूप में उभरे। अब, जब वे अपने दल का और संपूर्ण देश का नेतृत्व ग्रहण करने की ओर बढ़ रहे हैं, यह पहचान पूर्व-स्वीकृत है, लेकिन दोहरायी नहीं जाती। इसके बजाय वे महंगे कपड़े पहन कर गोल्फ़ कोर्स जाने वाले ऐसे व्यक्ति की छवि बना रहे हैं जो अंबानियों, टाटाओं और संसार भर के भारतीय मूल के चीफ़ एग्जिक्युटिवों के साथ उठता-बैठता है। वे अमेरिका और इंग्लैंड से आते क्षमाप्रार्थी राजदूतों की मेज़बानी करते हैं। वास्तव में, वे मुस्लिम ब्रदरहुड के वरिष्ठ नेता, मिस्र के राष्ट्रपति मोर्सी से काफ़ी मिलते-जुलते दिखायी पड़ते हैं।

ज़ेटकिन के वक्तव्य से जो दूसरी बात निकलती है, वह यह कि भारत की आंतरिक राजनीति में विभिन्न तरह के संप्रदायवादों की सफलता, अंतिम विश्लेषण में, वामपंथ की असफलता का सूचकांक है। क्योंकि, जैसा कि मैं आगे तर्क दूंगा, संप्रदायवाद का वास्तविक विकल्प साम्यवाद या, अगर आप पसंद करें तो, समाजवाद है - धर्मनिरपेक्षता या राष्ट्रवाद नहीं, विचारधारात्मक दायरे में वे जितनी भी मदद करें। वाम की इस क्षेत्र में असफलता पिछले पचीस वर्षों में देश के विकास के दौरान बने शक्ति संतुलन की वजह से है। नवउदारवाद और विदेश नीति के मामले में सभी ग़ैर वाम दलों में आम सहमति है। मैं उन्हें 'दस प्रतिशत के दल' कहता हूं, जिससे मेरा मतलब है कि वे सभी दल, चाहे वे यूपीए में हों या एनडीए में, ऊपर की दस प्रतिशत जनसंख्या का स्वार्थ साधते हैं। इस प्रकार समूचे चुनावी क्षेत्र में वामपंथ अकेला पड़ जाता है। जहां तक सांप्रदायिक राजनीति का सवाल है, एक भी ग़ैर वामपंथी दल ऐसा नहीं जिसने भाजपा के साथ सहयोग न किया हो - कांग्रेस अपवाद है, लेकिन वह इसलिए है कि भाजपा और कांग्रेस प्रतिद्वंदी शासक दल हैं। वरना कांग्रेस सांप्रदायिक राजनीति में उतनी ही सहजता और व्यावहारिकता से घुसपैठ करती है, जिस तरह भाजपा योजनाबद्ध तरीक़े से इस हथियार का इस्तेमाल करती है।

***

मैं इस सब के बारे में बाद में फिर बात करूंगा। पहले इस पर विचार करें कि हम संप्रदायवाद, धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रवाद—इन तीन शब्दों को कितने अजीब तरीक़े से इस्तेमाल करते हैं। पहली बात जिस पर ग़ौर करना ज़रूरी है, वह यह कि हम इनको भारतीय तरीक़े से इस्तेमाल करते हैं जिसे दूसरी जगहों के अंग्रेज़ी-भाषी—या राजनीतिक विचारक और कार्यकर्ता—समझ नहीं पाते। केवल भारत में संप्रदायवाद (communalism) एक दूषित विचारधारा और हिंसात्मक व्यवहार के अर्थ में इस्तेमाल होता है—यहां तक कि फ़ासिज़्म का एक रूप माना जाता है—जो धार्मिक अंतरों के नाम पर अपना औचित्य स्थापित करता है। केवल भारत में ही 'सांप्रदायिक दंगे' होते हैं। मिस्र में, मिसाल के तौर पर, ईसाई अल्पसंख्यकों पर हुए हमलों को सीधे इस्लामी, जेहादी, सलाफ़ी या कुछ और कहा जाता है—कुछ ऐसा जो 'सांप्रदायिक' के मुक़ाबले अधिक कठोर है। दूसरी ओर communal शब्द ऐतिहासिक तौर पर communist का निकट संबंधी है, क्योंकि दोनों शब्द common, commune और community जैसे अन्य शब्दों से संबंधित हैं; communal संपत्ति, उदाहरणार्थ, निजी संपत्ति का उल्टा है। यहां दो और जटिलताएं हैं। पहली यह कि हमें बहुसंख्यक समुदाय और अल्पसंख्यक समुदाय—विशेषकर हिंदू समुदाय, मुस्लिम समुदाय, सिख समुदाय आदि—बोलने में कोई कठिनाई नहीं होती, लेकिन जो लोग हमारी नज़र में वस्तुतः ऐसे समुदायों के सदस्य हैं, उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे सामुदायिक चेतना वाले न हों बल्कि भारत के नागरिकों की तरह व्यवहार करें,

यानी धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी हों। धार्मिक तौर पर परिभाषित सामुदायिक अस्मिता को इस प्रकार मान्यता दी जाती है लेकिन फिर राष्ट्र-राज्य की धर्मनिरपेक्ष 'मोरलिज़्म' के नाम पर उसका निजीकरण कर दिया जाता है और राजनीति में उसके प्रवेश की मनाही कर दी जाती है। बहुसंख्यक भारतीयों के पास चूंकि कोई नागरिक अधिकार नहीं है, सिवाय वोट देने के अमूर्त अधिकार के, इसी की संभावना ज़्यादा है कि वे हमारे राष्ट्रवादी विमर्श के प्रति बहुत कम आकर्षित होंगे और उस समुदाय से ज़्यादा जुड़ाव महसूस करेंगे जिन्हें हम उनकी वास्तविक धार्मिक धारणाओं, पारिवारिक संबंधों और सामाजिक मूल से पहचानते हैं। मेरे सामने यह स्पष्ट नहीं है कि जब एक धार्मिक तौर पर परिभाषित समुदाय किसी के लिए सामाजिक और आर्थिक जीवन में इतना आधारभूत है, तो ऐसी पहचान के बुरे पक्ष में चले जाने से, जिसे हम सांप्रदायिकता कहते हैं, वह कब तक बचेगा। क्या अपने आप को प्रथमतः मुस्लिम समझते हुए कोई हमेशा के लिए सांप्रदायिक पहचान से बच सकता है? कुछ साहसी व्यक्तियों के लिए यह संभव है, लेकिन ज़्यादातर के लिए संभव नहीं लगता।

सांप्रदायिकता की समस्या पर मुझे दो और बातें कहने की अनुमति दें।

पहली बात, जिस प्रकार हम हिंदू समुदाय, मुस्लिम समुदाय के बारे में बात करते हैं, मुझे सरासर नक़ली लगती है; इसमें संदेह है कि कश्मीर के मुस्लिमों और केरल के मुस्लिमों में कुछ धार्मिक नीतियों, इस्लाम की कुछ शुरुआती किताबों और हिंदू संप्रदायवाद से डर के अलावा बहुत कुछ साझा है। और इसी तरह यह विश्वास करना कठिन है कि नागालैंड के ईसाई और केरल के ईसाई एक सर्वभारतीय ईसाई समुदाय के हिस्से हैं। क्षेत्र, जाति और काम से परे कोई हिंदू समुदाय है, यह ऐसी कोरी बकवास है कि इस पर कोई टिप्पणी करना भी बेकार है। लेकिन फिर भी राजनीति और नीतिनिर्माण के हमारे तमाम विमर्शों में ऐसे समरूपी सर्वभारतीय समुदायों के अस्तित्व को स्वतःसिद्ध मान लिया जाता है। वास्तविक समाज के ऊपर यह झूठी पहचान स्वार्थी राजनेताओं, मुल्लाओं और महंतों द्वारा थोप दी गयी हैं और स्वयं राज्य के द्वारा भी, जो औपनिवेशिक राज्य की ही भांति 'सामुदायिक प्रतिनिधियों' से निपटना पसंद करता है न कि वर्गीय राजनीति से।

दूसरी बात, सभी धार्मिक विश्वास संप्रदायवाद की ओर नहीं ले जाते, न विश्वास में न कर्म में, लेकिन सभी संप्रदायवाद, जैसा कि इस परिघटना को हम भारत में समझते हैं, की जड़ें धार्मिक पहचान के एक बोध में निहित हैं और इसमें कि किस तरह बाक़ायदा निर्मित और राजनीतिकृत ये पहचानें राजनीतिक उद्देश्यों, आर्थिक लाभ, हिंसक प्रतिद्वंदिता वग़ैरह के लिए इस्तेमाल की जाती हैं। धर्म अपने-आप में इसके लिए ज़िम्मेवार नहीं है। फिर भी कुछ क़िस्म की धार्मिक चेतनाएं—उनको बनाने और उनके लोकप्रिय होने का कोई भी तंत्र हो—बिल्कुल कुछ विशिष्ट सांप्रदायिक व्यवहार को जन्म देती हैं, यहां तक कि धार्मिक (सांप्रदायिक) उन्माद भी उनसे फैलता है। यह बिल्कुल संभव है कि लंपट सर्वहारा से निकला एक कारसेवक बाबरी मस्जिद के गुंबद पर उसे तोड़ने के लिए चढ़ते हुए अपने आप को राम की सेना का हनुमान समझता हो। धर्म ज़िम्मेवार नहीं है लेकिन यह पूरी तरह निर्दोष भी नहीं है। व्यापक समाज में धर्म जितना कम होगा और जितनी ही कड़ाई से उसे राजनीतिक जीवन के सभी रूपों से दूर रखा जायेगा, संप्रदायवाद उतना ही कम हिंसक और हठी रहेगा।

मैं इस बिंदु पर वापस लौटूंगा। जहां तक दूसरे शब्द, 'धर्मनिरपेक्षता' की बात है, मैं शुरू में ही बता देना चाहता हूं कि 'सभी धर्मों के लिए बराबर आदर' कह कर उसे पुनः पारिभाषित करना एक विशेष भारतीय ईजाद है, परंपरागत धार्मिक सहिष्णुता को धर्मनिरपेक्षता का आधुनिक गुण बना देने की एक कोशिश। सचमुच के आस्थावान व्यक्ति को तो अपने धर्म में कुछ ऐसा अनोखा मिलता है कि वह संभवतः किसी और धर्म के लिए 'समान आदर' रख ही नहीं सकता। इस्लाम में विश्वास रखने वाले को हिंदू धर्म तात्विक रूप से कमतर लगेगा। ध्यातव्य है कि *राज्य के राजकाज में* सभी धर्मों के लिए समान आदर अवश्यंभावी तौर पर, विशेष कर भ्रष्ट उदारवादी प्रजातंत्र के संदर्भ में, उस बहुसंख्यक समुदाय के लिए ज़्यादा आदर-सम्मान की दिशा में ले जायेगा जिसके पास ज़्यादा वोट हैं, और जिसके उच्च वर्ग के पास ज़्यादा धन और शक्ति है, और जिसके मध्यम वर्गों में आजकल नये तरह की धार्मिकता व्याप्त है। भारत में हिंदू के बतौर परिभाषित लोगों की संख्या इतनी ज़्यादा है कि अपनी धर्मनिरपेक्षता में राज्य आवश्यक तौर पर हिंदुओं का पक्ष लेगा, चाहे सरकार किसी दल की हो; भाजपा और कांग्रेस के बीच बस डिग्री का अंतर होगा, इसलिए नहीं कि उनकी विचारधाराएं भिन्न हैं बल्कि इसलिए कि वे मतदाताओं के भिन्न हिस्सों को

संबोधित करते हैं। इस विषय पर पेरी एंडरसन का कहना है कि भारतीय राज्य एक हिंदू सांप्रदायिक राज्य है जो अपने -आप को जायज़ ठहराने के लिए धर्मनिरपेक्षता का सहारा लेता है। मैं दो कारणों से इस बात को अलग तरह से रखूंगा। एंडरसन भूल जाते हैं कि यह हमेशा से नहीं रहा है, उनके विश्लेषण का यह निहितार्थ बेतुका है कि गांधी, नेहरू और आर.एस.एस में मुख्यतः डिग्री का अंतर है। इसके अतिरिक्त मैं यह कहूंगा कि भारतीय राज्य बहुत हद तक एक ऐसा सांप्रदायिक राज्य है जो हर तरह के संप्रदायवाद के लिए जगह बनाता है, इसमें मुस्लिम संप्रदायवाद भी एक है, लेकिन वर्चस्व हिंदू संप्रदायवाद का है क्योंकि हिंदू संप्रदायवादी संख्या और शक्ति में दूसरे सभी संप्रदायवादों से आगे हैं। या अगर इसे दूसरी तरह से कहें तो भारतीय राज्य संप्रदायवाद के साथ आराम से जी सकता है जब तक सांप्रदायिक हिंसा सीमित रहे, क्योंकि ऐसी हिंसा सार्वजनिक जीवन में किसी और तरह की हिंसा के समान ही क़ानून और व्यवस्था की समस्या खड़ी करती है। हर स्थिति में, वैधता देनेवाली विचारधारा के रूप में धर्मनिरपेक्षता को देखने वाली बात तो सही है ही।

धर्मनिरपेक्षता मेरे ख़याल से एक आधुनिक सदगुण है, जो किसी पूर्व-आधुनिक परंपरा से नहीं निकलता और जिसका सिर्फ़ एक आधार है, सभी तरह के राजकीय व्यवहार का सभी धर्मों से मूलभूत विच्छेदन, यानी धर्म की हर तरह की राजनीति से निकासी। अपने मूल में यह एक यूरोपीय सद्गुण है। किंतु इन बातों में बहुत राष्ट्रवादी होने के पहले हमें याद रखना चाहिए कि मार्क्सवाद भी अपनी पैदाइश में एक यूरोपीय सद्गुण है। इन सद्गुणों के बारे में मुख्य बात यह है कि वे एक जगह पैदा होते हैं, ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुसार और ऐतिहासिक कारणों से ही सब जगह फैलते हैं। अगर भारतीय बूर्जुआज़ी इतनी ग़ैर-आधुनिक और अपनी सामाजिक सोच में पिछड़ी हुई साबित होती है कि धर्म को वास्तविक आचार-व्यवहार से और अपने ही राज्य की जायज़क़रारी वाली प्रक्रिया से अलग रखने पर ज़ोर देना संभव नहीं, तो यह धर्मनिरपेक्षता का सद्गुण सिर्फ़ एक नारा रह जायेगा जो धार्मिक शब्दावली में पुनर्परिभाषित हो जायेगा।

मुझे जोड़ने दीजिए कि इस आधारभूत मायने में धर्मनिरपेक्षता हमेशा से कोई अर्जित तथ्य नहीं, बल्कि महज आकांक्षाओं का एक क्षितिज है। पूंजीवादी राज्यों ने अनेक बार उदारवादी ढोंग के तहत बड़े आदर्शों की बात की है, लेकिन व्यावहारिक सुविधा के अनुसार काम किया है। यूरोप का बड़ा हिस्सा अभी उथल-पुथल से गुज़र रहा है क्योंकि ग़ैर-यूरोपीय प्रवासियों को यह पचा नहीं पा रहा है जिनके धर्म और नस्ल अलग हैं। इसमें संदेह है कि आज का अमेरिका आज के भारत से ज़्यादा धर्मनिरपेक्ष है। यह मात्र संयोग है कि अमेरिका में सार्वजनिक मर्यादा और संस्थागत रोकथाम ज़्यादा समय से गहरी जड़ें रखती है। क्रांतिकारी फ्रांस और कमाल पाशा की तुर्की ही वे दो पूंजीवादी देश थे जिनमें धर्मनिरपेक्षता को सचमुच अपनाने का प्रयत्न हुआ जब उनकी बूर्जुआज़ी युवा थी। दोनों में से कोई इस विशिष्टता का दावा अब नहीं कर सकता। सिर्फ़ कम्युनिस्ट राज्य ही निरंतर राज्य और धर्म को अलग रखने का प्रयत्न करते रहे और यह सुनिश्चित कर पाये कि चर्च केवल निजी जीवन तक सीमित रहे। यह एक ऐसा तथ्य है जो सोवियत रूस के टूटने से पहले और उसके बाद राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय धार्मिक प्रशासकों की अति हिंसक प्रतिक्रिया में देखा जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका की धर्मनिरपेक्ष सरकार कम्युनिस्टों को गरियाने के लिए उन्हें हमेशा गॉडलेस/नास्तिक कहती रही।

अंत में, तीनों शब्दों में से सबसे कठिन शब्द: 'राष्ट्रवाद'! रूसी क्रांति के अलावा सभी समाजवादी क्रांतियां, जिनमें चीन और क्यूबा की क्रांतियां शामिल हैं, औपनिवेशिक या अर्द्धऔपनिवेशिक देशों में हुईं; इसलिए समाजवादी आंदोलन राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई के साथ मिल गया था। इसके अतिरिक्त तीसरी दुनिया के अधिक प्रगतिशील राज्यों ने बीच-बीच में सापेक्षत: अधिक राष्ट्रवादी नीतियां अपनायीं। ऐसा नेहरू के भारत, नासिर के मिस्र और बाथवादी अरब देशों में बांडुंग प्रोजेक्ट के उत्कर्ष के दिनों में हुआ और आजकल यह वेनेज़ुएला, बोलीविया और इक्वाडोर में हो रहा है। इन इतिहासों ने समकालीन सैद्धांतीकरणों में राष्ट्रवाद को साम्राज्य-विरोध से जोड़ने की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। यह इस कारण और जटिल हो जाता है कि उपनिवेश बने देशों में राष्ट्रवादी विचारधारा उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ उभरी और इस उपनिवेशवाद-विरोध को कई बार ग़लतफ़हमी में साम्राज्यवाद-विरोध समझ लिया जाता है, हालांकि बहुसंख्यक राष्ट्रवादों में कोई समाजवादी अंतर्वस्तु नहीं थी और वे जल्द ही साम्राज्यवादी पूंजी की नव-उपनिवेशवादी तरकीबों का सहर्ष हिस्सा बन गये। अफ्रीका ऐसे उपनिवेशवाद-विरोधी

राष्ट्रवादों के इतिहास से भरा पड़ा है, और यही हमारे दो पड़ोसी देशों, पाकिस्तान और बांग्लादेश में हुआ। और इनसे भी अधिक जटिल मामले हैं, जैसे तालिबान, जो निश्चित तौर पर एक बर्बर साम्राज्यवादी क़ब्ज़े के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं लेकिन जिन्हें उनके लोगों के लिए किसी भी तरह से सामाजिक तौर पर प्रगतिशील शक्ति नहीं कहा जा सकता। अन्यत्र भी, बीसवीं सदी के फ़ासिस्ट आंदोलनों का अध्ययन करने वाले मानते हैं कि ऐसे आंदोलनों को जन्म देने वाला क्षण 19 वीं सदी के अंत में होने वाला प्रजातंत्र विरोधी फ्रांसीसी 'इंटीग्रल नेशनलिज़्म' था और सभी तरह के फ़ासीवाद विचारधारात्मक रूप से हिंसक दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद पर टिके हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि राष्ट्रवाद पैदाइशी तौर पर 19 वीं सदी के दौरान यूरोपियन बूर्जुआज़ी की शास्त्रीय विचारधारा थी। यही समय था जब राष्ट्र-राज्य यूरोप में उभरा। इन जटिलताओं को देखते हुए मुझे यह संभव नहीं लगता कि राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद-विरोध मान लिया जाये।

मेरे दृष्टिकोण में राष्ट्रवाद का अपने-आप में कोई वर्ग-चरित्र नहीं होता, न ही इसके पास कोई सुपरिभाषित राजनीतिक योजना होती है। यह चरित्र राष्ट्रवाद को उस गुट से मिलता है जो इस पर क़ब्ज़ा कर लेता है और इसमें अपना वर्ग-चरित्र डाल देता है। लेनिन का राष्ट्रीय प्रश्न पर बलाघात इस दृष्टि पर आधारित था कि उपनिवेशों में जो हालत थी, उसमें यह संभव था कि मज़दूर वर्ग का दल किसानों को साथ लेकर बूर्जुआज़ी के उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद का नेतृत्व हासिल करने के पहले राष्ट्रीय प्रश्न पर वर्चस्व हासिल कर ले। राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के हिस्से द्वारा उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन का नेतृत्व अवांछनीय था और कम्युनिस्ट आंदोलन की कमज़ोरी की निशानी था। अपने आधार में राष्ट्रवादी विचारधारा तथ्यात्मक रूप में राष्ट्र-राज्य से संबद्ध है। जब तक राष्ट्र-राज्य किसी रूप में अस्तित्व में है, राष्ट्रवाद एक या दूसरे रूप में एक वस्तुनिष्ठ आवश्यकता है। नाज़ी जर्मनी का फ़ासिस्ट राष्ट्रवाद, अमेरिका का साम्राज्यवादी राष्ट्रवाद, वियतनाम या अंगोला के स्वतंत्रता आंदोलन जिनका नेतृत्व क्रांतिकारी राष्ट्रवादी कम्युनिस्टों ने किया, धर्मनिरपेक्ष अरब राष्ट्रवाद या मुल्लावादी ईरान इसके विभिन्न रूप हैं। हर जगह एक राष्ट्रवाद दिखेगा, हर समय उसके मायने के ऊपर बहस रहेगी, और एक ही राष्ट्र-राज्य के जीवन में इसके एक रूप की जगह दूसरा रूप आ सकता है। आजकल दुनिया के कई हिस्सों में बहुत सारे लोगों के बीच यह घोषणा करने का फ़ैशन चल पड़ा है कि एक ख़ास राष्ट्र का चरित्र एक विशिष्ट धर्म द्वारा परिभाषित होता है—कहीं यहूदी धर्म तो कहीं इस्लाम, कहीं हिंदू धर्म तो कहीं कैथोलिक।

मैं यह सब एक कारण से कह रहा हूं। मेरे ख़याल से आपको पहले ही वामपंथी होना पड़ेगा इसे मानने के लिए कि भारतीय राष्ट्रवाद की सही अंतर्वस्तु साम्राज्यवाद-विरोध ही हो सकती है। मैं ऐसा सोचता हूं क्योंकि मैं मार्क्सवादी हूं। दुर्भाग्यवश, मार्क्सवाद इस देश में अल्पसंख्यक विचारधारा है। मैं कोई वजह नहीं देखता कि एक शहरी, उच्च जाति, मध्यवर्गीय, सामाजिक तौर पर परंपरावादी हिंदू इस हिंदुत्ववादी धारणा को स्वाभाविक रूप से नहीं मानेगा कि भारत की विशिष्टता इसकी बहुसंख्यक जनता का हिंदू होना है, और कि हिंदू संस्कृति को राष्ट्रीय संस्कृति के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए; जो इस संस्कृति को भारत की संस्कृति नहीं समझते, वे एक गहरे अर्थ में भारतीय नहीं हैं। मैंने उच्च जाति, मध्यवर्गीय, शहरी लोगों की बात इसलिए की है कि मैं इसके ज़रिये एक बात कहना चाहता हूं। दक्षिणपंथी वर्चस्व के सामने, जो ज़रूरी नहीं कि सांप्रदायिक हो, मैं कोई कारण नहीं देखता कि जो लोग ऐसे प्रश्नों से मतलब रखते हैं, वे देश को अखंड और शक्तिशाली बनाये रखने के लिए हिंदुत्व और भारत के बीच ऐसी नज़दीक़ी को अनिवार्य नहीं मानेंगे। और यह विश्वास धार्मिक सहिष्णुता, सर्व धर्म समभाव के विचार के साथ चल सकता है, इस विश्वास के साथ कि हिंदू सहिष्णु, उदारवादी और शांतिप्रिय प्रकृति के लोग हैं, और कि राष्ट्रीय एकता में कमी दूसरे लोगों के कारण हैं जो असहिष्णु, रूढ़िवादी और सामाजिक तौर पर पिछड़े हुए हैं। इसलिए जब हम ख़ुद से पूछते हैं कि संप्रदायवाद क्या कभी न केवल अधिकतर लोगों की विचारधारा बन सकता है बल्कि लाखों करोड़ों भारतीयों की आम चेतना बन सकता है, तो शायद उत्तर इस पर निर्भर करेगा कि संप्रदायवाद के किस प्रकार के बारे में हम बात कर रहे हैं।

ऐसा हमेशा नहीं था और जो परिवर्तन हम देख रहे हैं, उसे वर्चस्वताओं के आमूल पुनर्संयोजन के रूप में देखना चाहिए। 1925 में जन्म लेने के बाद राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की बढ़त का रिकॉर्ड प्रभावशाली है। साल-दर-साल इसकी सदस्यता बढ़ती रही है, एक सौ वर्षों से। यह ऐसा क्लासिक मामला है जिसे इसे ग्राम्शी 'अवस्थितियों

का युद्ध& और एक 'आरंभिक निष्क्रिय क्रांति' कहते, जो पीढ़ियों के साथ अपनी संघर्ष की भूमि भी बदलता रहा है। यह है, लेकिन एक अपवाद के साथ; 1948 से 1962 के बीच इसकी सदस्यता बढ़ी नहीं। ध्यातव्य है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की सदस्यता में यह ठहराव गांधीजी की हत्या और नेहरू की मृत्यु के बीच आया। 1962 एक महत्वपूर्ण वर्ष है क्योंकि भारत-चीन युद्ध भारतीय कम्युनिस्टों को बदनाम करने के लिए इस्तेमाल किया गया और दक्षिणपंथी हमले में कांग्रेस की दक्षिणपंथी और सांप्रदायिक शक्तियों को बढ़ावा मिला। ऐसा कई बार कहा जाता है कि गांधीजी की हत्या में आर.एस.एस. का हाथ होने का अंदेशा इस गतिरोध का कारण था। यह संभव है कि यह एक कारक हो। किंतु मेरी दृष्टि में केंद्रीय तथ्य था वह व्यापक वर्चस्व जो उस दौर में प्रभावी था। नेहरू के नेतृत्व में बनी सरकार के पास उपनिवेशवाद-विरोध के वारिस होने के कारण बड़ी राजनीतिक और सांस्कृतिक पूंजी थी, लेकिन यह भी याद रखना ज़रूरी है कि संसद के अंदर नेहरू का मुख्य विरोध कम्युनिस्ट और समाजवादी कर रहे थे जिससे यह कहा जा सकता है कि सारी भारतीय राजनीति—राज्य को हम राजनीतिक समाज के पूंजीभूत रूप में देखें तो—सांप्रदायिकता-विरोधी शक्तियों के क़ब्ज़े में थी, चाहे समाज में सांप्रदायिक धाराएं कितनी भी प्रबल हों। दूसरे शब्दों में, शासक दल में ही नहीं, प्रमुख विरोधी दलों में भी लोग कमोबेश उन मूल्यों से जुड़े थे जो हॉब्स बॉम के 'प्रबोधन वामपंथ' के मूल्य थे।

जैसा कि मुख्यमंत्रियों के साथ हुए नेहरू के पत्राचार से पता चलता है, नेहरू कांग्रेस में व्याप्त सांप्रदायिकता से परिचित थे। फिर भी वाम वर्चस्व के उस काल के बारे में चार बातें कहना आवश्यक है। पहला, यह गणतंत्र के इतिहास में अकेली बार हुआ कि जो लोग राज्य में प्रभावशाली थे, सरकार में और विपक्ष में, उन्होंने सीधे सांप्रदायिकता पर प्रहार किया, चाहे कांग्रेस के दक्षिणपंथी कुछ भी कहें। द्वितीय, जबकि बंद घरेलू बाज़ार और सार्वजनिक उद्यम को निजी उद्यम की सेवा में लगा कर पूंजीपतियों को बढ़ावा दिया गया, यही अकेला वक़्त था जब इस वर्ग के लालच पर रोक लगायी गयी। इंदिरा गांधी के राष्ट्रीयकरण भी भारतीय अर्थव्यवस्था में मंदी के ख़िलाफ़ प्रतिक्रिया थे। तीसरे, यह अकेला समय था जब भारतीय राज्य ने एक प्रगतिशील शिक्षण संस्था के बतौर काम किया, एक पिछड़े समाज में आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष, प्रगतिशील मूल्य डालने का प्रयत्न किया। यह उस समय की पाठ्यपुस्तकों में तो देखा ही जा सकता है, लेकिन उससे भी ज़्यादा यह सरकार के पक्ष या विपक्ष में जनता के सामने दिये नेताओं के भाषणों में देखा जा सकता है। इस जनता का वृहद स्तर पर राजनीतिकरण उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन में हो चुका था। अंत में, धर्मनिरपेक्षता एक अलग-थलग मूल्य नहीं समझी जाती थी बल्कि मूल्यों और सामूहिक गतिविधि की दिशाओं के एक समुच्चय का हिस्सा थी। यह समुच्चय था: नब्बे प्रतिशत अशिक्षित जनता के हाथों में वोट, विदेश-संबंधों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता की दावेदारी के लिए गुटनिरपेक्षता, उत्पादक अर्थव्यवस्था की साम्राज्यवादी अतिक्रमण से हिफ़ाज़त, सुधारवादी राज्य का नेतृत्व और आर्थिक नीतियों में 'समाजवादी विकास' इत्यादि। सचमुच के काम से अधिक वायदे थे, लेकिन वायदों का राजनीतिक उपयोग था। यह तथ्य कि नेहरू के राज्य का मुख्य विरोध वाम से था, दक्षिण से नहीं जिसकी राह अवरुद्ध कर दी गयी थी, उस सामाजिक दृष्टि की रचना में केंद्रीय भूमिका निभाता था जिसमें धर्मनिरपेक्ष मूल्य अंतर्भुक्त थे। अब जबकि बाक़ी सारी नीतियां वामपंथ के अलावा सभी राजनीतिक कर्ताओं द्वारा छोड़ दी गयी हैं, यह देखना कठिन है कि नवउदारवादी दक्षिणपंथी राजनीति में वह जगह कहां है जहां धर्मनिरपेक्षता रोपी जा सकती है। जो चीज़ हमने संसार के कई हिस्सों में देखी है—अमेरिका, बृहत्तर यूरोपियन यूनियन से लेकर कई मुस्लिम देशों में—वह यह कि जहां भी नवउदारवादी सर्वानुमति जीत जाती है, उसके परिणामस्वरूप हुई दक्षिणपंथी जीत के साथ धर्मनिरपेक्ष तर्कबुद्धि पर ग्रहण लग जाता है। क्या भारत इसका अपवाद हो सकता है?

वर्चस्वों के इस बदलाव में मील के पत्थर कौन-कौन से हैं?

मैंने ऐसे तीन लेख लिखे हैं जिनमें यह मुद्दा उठाया गया है। 'ऑन द रुईन्स ऑफ़ अयोध्या' 1993 में लिखा गया था। और दो लेख एक दशक बाद लिखे गये थे, गुजरात जनसंहार के बाद। उस समय से पिछले दशक तक कोई महत्वपूर्ण संरचनात्मक परिवर्तन नहीं हुए हैं। अभी ही बड़ी पूंजी ने खुले तौर पर मोदी को प्रधानमंत्री के रूप में बढ़ावा देना शुरू किया है। इस प्रकार राजनीतिक अर्थव्यवस्था में पूंजी की तानाशाही और विचारधारा तथा राज्यतंत्र में संप्रदायवाद की तानाशाही के पूर्ण एकीकरण की आधारशिला रखी जा रही है। हमें यह बात याद करनी

चाहिए कि मुसोलिनी ने अपने इटालियन फ़ासिज़्म की व्याख्या करते हुए कहा था कि इसमें कॉर्पोरेशन और सरकार एक/अभिन्न हो जाते हैं।

ज़्यादा हाल के एक लेख में, जहां भारतीय उत्तर-आधुनिकतावाद की बात उठी है, मैंने सुझाव दिया है कि स्वतंत्रता के बाद के इतिहास को तीन चरणों में बांटा जा सकता है। पहला 1947 से 1979 तक चला, नेहरूवादी मॉडल की शुरुआत से उसके अंतिम संकट और आपातकाल में उसके विघटन तक। दूसरा चरण दो दशकों तक चला, जो जयप्रकाश नारायण के आंदोलन की अनिश्चितताओं और आपातकाल के बाद की जनता सरकार के साथ जुड़ा है जिन्होंने आर.एस.एस. को भारतीय राजनीति में सम्मानजनक स्थान दिया और इसके राजनीतिक दल को सरकार में महत्वपूर्ण जगह दी, वाजपेयी और आडवाणी का महत्व इसी समय से बढ़ गया। कुल मिला कर यह भारत में बूर्जुआ राज्य के सापेक्षिक राजनीतिक संकट का समय था जिसमें पुराना पावर ब्लॉक, जो कांग्रेस के नेतृत्व में चलना था, टूट गया और उसकी जगह लेने में समर्थ दूसरा नेतृत्व नहीं आया। संकट का यह चरण 1998 में दूसरी वाजपेयी सरकार के आने के साथ ख़त्म हुआ, जिसने एक नया चरण शुरू किया। इस चरण में तमाम ग़ैर-वामपंथी दलों का आमूलतः पुनर्गठित पावर ब्लॉक अस्तित्व में आया जिसने भारत में पूंजीपति वर्ग के शासन को नया स्थायित्व दिया, चाहे इन पार्टियों का कोई भी गठबंधन चुनाव जीते। निर्णायक क्षण, कहने की ज़रूरत नहीं, पहले ही आ गया था, भारतीय शासक वर्ग का साम्राज्यवाद के साथ नज़दीकी संबंध बनने के साथ और घर में नवउदारवादी व्यवस्था थोपे जाने के साथ; इस नवउदारवादी व्यवस्था को मैं अति पूंजीवाद कहता हूं। कांग्रेसी इस वर्ग सहमति का औपचारिक धर्मनिरपेक्ष चेहरा है जबकि भाजपा इसका सांप्रदायिक चेहरा है, हालांकि सत्ता में बने रहने के लिए भाजपा अपने अतिवादी प्रोग्राम में काट-छांट करने को तैयार रहती है। यह महत्वपूर्ण है कि मोदी प्रधानमंत्री बनने के लिए हिंदुत्व का इस्तेमाल नहीं कर रहे बल्कि आर्थिक उन्नति की बात कर रहे हैं जिसे मनमोहन सिंह ने इतना उपयोगी पाया था। जहां तक सांप्रदायिकता की बात है, वामपंथ के अतिरिक्त कोई ऐसा दल नहीं बचा जिसने 1998 से भाजपा के साथ सहयोग न किया हो। लोकचेतना का बढ़ता सांप्रदायीकरण अब दो तरफ़ से बढ़ सकता है। आर.एस.एस. और उससे संबद्ध संगठनों द्वारा जनता में किये हुए कामों के चलते पिछले 80 वर्षों में उन्होंने अनुयायी अर्जित किये हैं, जिसे ग्राम्शी समाज के धरातल पर जनमानस में आता अणु परिवर्तन कहते हैं। लेकिन अब, कई सालों से ऐसे ही परिवर्तन राज्य की ओर से, इसके राजनीतिक दलों से, शैक्षणिक संस्थाओं से, दमनकारी यंत्रों से, और कई बार अदालतों की ओर से आ रहे हैं। भारत जैसे-जैसे एक नैशनल सिक्युरिटी स्टेट बनता जा रहा है, एक आक्रामक, पुरुषवादी, दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद की जड़ों का समाज में और गहरे जाना तय है।

संप्रदायवाद का हमारा विश्लेषण संघ परिवार पर केंद्रित होता है क्योंकि यह देश में सबसे बड़ी और संगठित सांप्रदायिक शक्ति है, लेकिन ज़ाहिर है कि यह ऐसी अकेली शक्ति नहीं है। मैं दो दूसरी परिघटनाओं पर चर्चा करना चाहता हूं: मुस्लिम संप्रदायवाद और शिवसेना।

यह ग़ौरतलब है कि स्वतंत्रता और बंटवारे के बाद कोई सर्वभारतीय मुस्लिम पार्टी नहीं बनी है, हालांकि स्थानीय और राज्यों की राजनीति में इस तरह की सांप्रदायिकता इस्तेमाल होती है। राष्ट्रीय राजनीति और राज्यों की राजनीति में भी बहुतसंख्यक मुसलमानों ने धर्मनिरपेक्ष विकल्प का साथ दिया है। इसलिए नहीं कि वे अपने विचारों में अधिक धर्मनिरपेक्ष हैं बल्कि इसलिए कि धर्मनिरपेक्ष शासन में वे ज़्यादा सुरक्षित महसूस करते हैं। उनमें से ज़्यादातर के लिए धर्मनिरपेक्षता सामाजिक आधुनिकीकरण की अभिव्यक्ति या राजनीतिक नज़रिया या विचारधारात्मक दिशा नहीं, बल्कि एक आवश्यक सामुदायिक स्वार्थ है। ज़्यादातर मुस्लिम सांप्रदायिक नेता, धार्मिक तौर पर कट्टर मुल्ले और परंपरागत सामाजिक शक्तियां उन पर काफ़ी प्रभाव रखते हैं। सारे सूचकांक दर्शाते हैं कि स्वतंत्र भारत में आज आमदनी में, शिक्षा में, पुलिस और सेना जैसी सरकारी एजेंसियों में, सार्वजनिक सेवाओं तथा निजी उद्योगों में मुसलमानों और ऊंची जाति के हिंदुओं में दूरी बढ़ी है। राज्य की एजेंसियों के सांप्रदायीकरण और बीच-बीच में मुस्लिमों के ख़िलाफ़ संगठित हिंसा ने उनके बीच भयग्रस्त मानसिकता और हमेशा घेरेबंदी में रहने का डर पैदा कर दिया है।

कश्मीर में राजकीय आतंक—केवल जेहादियों के आतंक के ख़िलाफ़ नहीं बल्कि लोकप्रिय विरोध और विद्रोहों के ख़िलाफ़ भी—उनके अलगाव की भावना को बढ़ाता है। यह सामान्यतया इस धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र में माना

जाता है कि किसी मुस्लिम बहुल राज्य की अपने लिए अधिक स्वायत्तता की मांग पचने वाली बात नहीं है। मुस्लिम उच्च वर्ग के अतिरिक्त, जो राज्य से काफ़ी उदारतापूर्वक इमदाद पाता है, अधिकतर शहरी मुसलमान अपने-आप को बाहरी और सामाजिक-सांस्कृतिक तथा रिहायशी तौर पर अलग पाते हैं—इससे उनमें एक 'घेटो' मानसिकता पनपती है और क़बीले में एकजुट होने की आवश्यकता बढ़ती है। यह सब आंतरिक रूप से क्षयिष्णु सामाजिक रूढ़िवाद और अल्प-विकास से मिल कर मस्जिदों, मदरसों और मुल्लाओं की कट्टर बातों के प्रति उनके झुकाव को आसान बना देता है और पिछड़े समाजिक तत्वों को बढ़ावा देता है। इसी के परिणामों में एक इस वर्ग में धार्मिक विश्वास का बढ़ना है जो उच्च जाति के हिंदुओं में बढ़ती ऐसी ही भावना के बराबर या शायद ज़्यादा है जिसके कारण राष्ट्रीय भूदृश्य प्रतिस्पर्धा करते धर्मों से भर गया है। सांप्रदायिक ताक़तें इस प्रतिस्पर्धा को संगठित करती हैं और उससे लाभ उठाती हैं। सांप्रदायिक तौर पर संगठित धार्मिकता तब सांप्रदायिक राजनीति और हिंसा की संरचना करती है। बाबरी मस्जिद और ख़ास कर गुजरात के बाद शहरी मुस्लिम युवाओं में कुछ लोग हिंदू सांप्रदायिक आतंक के ख़िलाफ़ मुस्लिम जेहादी आतंक को संगठित करने के सपने देखने लगे हैं। ये तत्त्व पाकिस्तान एवं बांग्लादेश जैसे मुस्लिम बहुल राष्ट्रों में जेहादियों के फैलने से प्रेरणा लेते हैं।

इस भंवर का देखने योग्य चरित्र यह है कि हालांकि भारतीय मुस्लिम समाज में धर्मनिरपेक्षता की अनेक और सुस्पष्ट धाराएं हैं, उन्हें अभिव्यक्ति देने के लिए कोई राजनीतिक दल नहीं है। कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो नागरिक समाज में एक प्रगतिशील मुस्लिम एजेंडा को समाने लाये और साथ-ही-साथ वर्चस्व वाली परंपरागत शक्तियों से लड़ सके। परिणाम यह है कि मुसलमानों के रूप में मुस्लिम किसी प्रगतिशील प्लेटफ़ार्म पर संगठित नहीं होते। इन विषयों पर सोचने वाले अधिकतर लोगों के लिए पैलेस्टाइन यहूदियों और मुस्लिमों के बीच का झगड़ा है न कि उपनिवेशीकरण का सबसे बर्बर रूप। और अफ़ग़ानिस्तान या इराक़ पर हमला कई बार ईसाइयत वाले पश्चिम की पूर्वी मुसलमानों को ख़त्म करने की साज़िश के रूप में देखा जाता है, आधुनिक साम्राज्यवाद के इतिहास में अध्याय के रूप में नहीं। ज़्यादा हाल में हमने भारतीय मुसलमानों का बांग्लादेशी मुस्लिम लोग के समर्थन में प्रदर्शन देखा है, लेकिन शाहीन बाग़ आंदोलन के पक्ष में नहीं। पाकिस्तान और बांग्लादेश में कई जगहों पर धर्मनिष्ठ लोग अधार्मिकों को मार रहे हैं। या शिया सुन्नियों द्वारा मारे जाते हैं। उदारवादी स्त्री अनुदार जेहादियों द्वारा मारी जाती है। सामान्य भारतीय मुसलमानों में मारे जाने वालों के साथ सहानुभूति नहीं है। अगर मुस्लिम संप्रदायवाद की उपरली सतहें कई बार राज्य की नीतियों के ख़िलाफ़ खड़ी होती हैं ताकि दलाली करने में उनकी स्थिति मज़बूत हो, तो मुस्लिम संप्रदायवाद की निचली सतहों में वही लंपटता दिखायी देती है जो शिवसेना या संघ परिवार में दिखती है, हालांकि बड़े पैमाने पर उनके द्वारा हिंसा किये जाने की संभावना कम है क्योंकि उन्हें पुलिस और दूसरे सुरक्षा बलों के हाथों दमन की आशंका रहती है, हिंदुओं की तरह वे इनसे मदद की उम्मीद नहीं कर सकते।

व्यापक लंपटीकरण की यह विशेषता मुझे शिवसेना के पास लाती है जो मुझे हमेशा मुसोलिनी की बात याद दिलाती है कि फ़ासिस्ट 'अतिसापेक्षतावादी'/ 'सुपर-रिलेटिव्स' हैं। दूसरे शब्दों में, वे पाशविक शक्ति पाना चाहते हैं और अपनी नीति, अपने शत्रु और अपनी हिंसा का चुनाव सिर्फ़ इस मक़सद को हासिल करने के लिए करते हैं : एक चरण में कम्युनिस्टों और ट्रेडयूनियन के ख़िलाफ़ स्टॉर्म-ट्रूपर्स, दूसरे चरण में तमिल-विरोध; वे हिंदुत्व में विश्वास व्यक्त करते हैं जब वह काम आता है और फिर बिहारी विरोधी आतंक फैलाते हुए वे बिहारी हिंदू और बिहारी मुस्लिम में कोई फ़र्क नहीं करते। शिवसेना का सूक्ष्म विश्लेषण करने का यह मौक़ा नहीं है लेकिन कुछ बिंदुओं पर ध्यान दिया जा सकता है। एक तो यह कि ठाकरे की विचारधारा की एकमात्र स्थायी चीज़ है, कम्युनिस्टों के प्रति घृणा। इसके अलावा, आरएसएस सत्ता को हासिल करने की जिस कोशिश में हिंदू संस्कृति, परंपरा, राष्ट्रवाद आदि की बड़ी-बड़ी बातों का सहारा लेता है, वह सेना के मामले में पूरे नंगे रूप में सामने आती है। इसकी स्थापना 1966 में हुई, लेकिन 80 के दशक में ही यह हिंदुत्व के विचारधारात्मक दायरे में आयी—ऐसे समय में जब जनसंघ, जो आर.एस.एस. का संसदीय चेहरा था, वोट की राजनीति में आपातकाल के बाद जनता सरकार में काफ़ी प्रगति कर चुका था। एक समय ठाकरे ने इमरजेंसी का पक्ष भी लिया जिससे उसके कई अनुयायियों को क्षोभ हुआ। शिवसेना का मामला दिखलाता है कि किस तरह सांप्रदायिकता धार्मिक-फ़ासिस्ट हिंदुत्व और मराठी विशिष्टता के उपराष्ट्रीय, क्षेत्रीय-नस्लीय मुद्दे के बीच आवाजाही कर सकती है। उत्तर भारतीयों के ख़िलाफ़ दमन चलाने में हिंदुओं और ग़ैर-

हिंदुओं में कोई अंतर नहीं माना गया, सभी बाहरी लोग माने गये जिनकी मुंबई में उपस्थिति मराठियों के नुक़सान का कारण थी: यह एक क्लासिक मामला है जिसमें आप्रवासियों को—जिनमें से ज़्यादातर ग़रीब और कम तनख़्वाह पर काम करने वाले होते हैं—वित्तीय केंद्र में लुटेरे पूंजीवाद द्वारा उत्पन्न दु:खों के लिए दोषी ठहराया जाता है। इसके अतिरिक्त ताक़तवर लुच्ची हिंसा के लिए क्रमशः तमिलों, मुस्लिम, बिहारी यहां तक कि बंगालियों, जिन्हें बांग्लादेशी कहा जाता है, के ख़िलाफ़ भीड़ को संगठित किया जाता है जो लूट कर और छोटे व्यापार हाथ में लेकर कमाई करती हैं और पार्टी और इसके नेताओं की जेबों में धन जाता है। ठाकरे ने अपने कैरियर की शुरुआत छोटे पत्रकार और कार्टूनिस्ट के रूप में की थी लेकिन अपनी मृत्यु के समय उनकी कुल संपदा 30,000 करोड़ रुपये की थी, ऐसा कहा जाता है। ख़ैर जो हो, बात यह है कि सांप्रदायिक हिंसा और नस्ली-क्षेत्रीय हिंसा संगठित अपराध के बतौर उभरते हैं और दूसरे तरह के क्राइम सिंडिकेट के साथ मिल जाते हैं। यह सांप्रदायिक हिंसा का नियमित चरित्र है। शिवसेना सिर्फ़ ज़्यादा खुल्लमखुला यह काम करती है और इसके स्टॉर्म-ट्रूपर्स, जो ज़्यादातर लुम्पेन सर्वहारा और छोटे पूंजीपतियों के लंपट तबक़े में से आते हैं, मध्य वर्ग और निचले मध्य वर्ग में काफ़ी सम्मान पाते हैं और शहरी ग़रीब भी इनका पक्ष लेते हैं जो सभी लुटेरे पूंजीवाद के फंदे में फंसे हैं और ये स्टॉर्म-ट्रूपर्स उनकी चिंताओं और दर्द की नुमाइंदगी करते हैं।

***

मैं कोई अंतिम निर्णय नहीं दूंगा लेकिन कुछ ज़्यादा ज़ोर देकर कुछ बिंदुओं के साथ बात ख़त्म करूंगा।

सबसे पहले यह समझना अतिआवश्यक है कि भारतीय सांप्रदायिकता की पूरी संरचना में—वह संघ की हो, मुसलमानों की या शिव सेना की—बड़े पैमाने पर लंपट सर्वहारा और लंपटीकृत निम्न पूंजीपति वर्ग से आये स्टॉर्म ट्रूपर्स इतनी अहम भूमिका इसलिए निभाते हैं कि यही भारतीय पूंजीवाद की, ख़ासकर उसके नव-उदारवादी दौर में, संरचनात्मक विशेषता है। बेरोज़गारों की फ़ौज उन कामगारों के मुक़ाबले बहुत बड़ी है जिन्हें कोई स्थिर रोज़गार मिल पाता है, और यह एक ऐसी स्थिति निर्मित करता है जिसमें, अन्य रुग्ण लक्षणों के अलावा, तनख़्वाह इतनी कम है कि एक समुचित सर्वहारा संस्कृति का निर्वाह बहुत मुश्किल है और ख़ुद सर्वहारा के भीतर से बहुतेरे लंपटीकरण की ओर प्रवृत्त होते हैं। वे आंशिक रूप से पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर श्रम और वेतन के आधार पर जीवन-निर्वाह करते हैं, लेकिन पूरक के तौर पर चतुराई/हेरा-फेरी, और कई बार तो अपराध, के ज़रिये भी कमाई करते हैं। और भी बदतर यह कि बेरोज़गारों की फ़ौज इतनी विराट, इतनी स्थायी है कि उनमें से अनगिनत लोग काम की तलाश ही छोड़ देते हैं, उस व्यवस्था से ही बाहर छिटक जाते हैं जिसे क़ायदे से पूंजीवादी व्यवस्था कहा जाता है, किसी ऐसे श्रम में नहीं लगते जो अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है, उस छद्म अर्थतंत्र की आपराधिक दुनिया में पहुंच जाते हैं जो वास्तविक अर्थतंत्र के समानांतर चलता है और किसी नियम के अधीन नहीं होता, यहां तक कि शोषण के नियम के भी, और जहां एक दांव से दूसरे दांव के बीच साधारण आजीविका से लेकर अकूत दौलत तक या एक औचक मौत तक कुछ भी कमाया जा सकता है। उत्पादक श्रमिक का स्थिर जीवन उसे अपने काम को लेकर एक आत्मसम्मान, या कम-से-कम पांव तले की ज़मीन मुहैया करता है, लेकिन उत्पादकता का अभाव, इस बोध का अभाव कि वह कौन है, उसे आत्मसम्मान से वंचित कर देता है। वह आत्मसम्मान दुबारा किसी भी तरह से अर्जित किया जाना ज़रूरी है, भले ही वह दूसरों को नुकसान पहुंचा कर हो, अपराध के द्वारा हो, या उस कथित 'अन-अपराध' के द्वारा जो स्वयं सांप्रदायिकता है, अपनी तमाम हिंसाओं के साथ। मूल्य-उत्पादक श्रमिक का जीवन उसके जैसे ही काम करनेवालों के समुदाय में जिया जाता है, लेकिन लंपट सर्वहारा का जीवन अपनी प्रकृति से ही ऐसा होता है कि वह श्रम की साझा परिस्थितियों से निकलनेवाले किसी समुदाय की रचना नहीं करता। वह हमेशा ऐसे समूहों में काम करता है जो अनिश्चित और परिवर्तनशील होते हैं और आकस्मिकताओं, जिनका सामना इस आधे-अधूरे वर्ग के व्यक्ति हमेशा करते हैं, के दबाव में पुनराविष्कृत होने की अनवरत आवश्यकता से घिरे होते हैं । वर्गीय जुड़ाव से वंचित होने के कारण उनमें जाति और धर्म सरीखे सामुदायिक जुड़ाव का प्रलोभन पैदा होता है—ऐसा जुड़ाव जो श्रमिक समुदाय के ठोस जुड़ाव के मुक़ाबले अधिक अमूर्त है। सांप्रदायिक राजनीति में भर्ती उन्हें एक वास्तविक समुदाय से जुड़ाव का बोध देती है, भले ही वह बोध झूठा हो। इस प्रक्रिया में हाव-भाव की वह आक्रामकता जो लंपट जीवन में जीवित भर रहने के लिए ज़रूरी होती है, बड़ी आसानी से संगठित हिंसा के सांप्रदायिक/फ़ासीवादी

प्रकारों में रूपांतरित हो जाती है।

सांप्रदायिकता अपने सभी रूपों में सामान्यतः नवउदारवाद कही जाने वाली नीति से प्रत्यक्ष संबंध रखती है। मैं इसे अतिपूंजीवाद कहूंगा यानी खुले रूप में लुटेरा, शिकारी पूंजीवाद। मैं यह सूत्रीकरण इसलिए दे रहा हूं ताकि इस ओर ध्यान जाये कि पूंजीवाद नवउदारवाद से बहुत पुराना है, कि सभी पूंजीवादी शोषण लूट पर निर्भर है और हमारी जाति-संरचना तथा सांप्रदायिक झगड़ों के कारण भारत में यह पूंजीवादी प्रवृत्ति ज़्यादा बलवती रही है। नवउदारवादी उग्रवाद की शुरुआत से पहले ऐसी प्रवृत्तियों पर कुछ नियंत्रण था, अब ऐसे अधिकतर नियंत्रण ख़त्म कर दिये गये हैं और राज्य सिर्फ़ सांप्रदायिक हिंसा में, जिसे क़ानून-व्यवस्था की समस्या समझा जाता है, अनिच्छपूर्वक हस्तक्षेप करता है। राज्य की प्रकृति में जो बदलाव आया है, उसकी यह तार्किक परिणति है। स्वतंत्रता के बाद के पहले चरण में पूंजीपतियों-भूस्वामियों का राज्य होते हुए भी राज्य ने साम्राज्यवाद के हमले से भारतीय अर्थव्यवस्था को बचाने की कोशिश की। भारतीय पूंजीवाद जैसे-जैसे मज़बूत और परजीवी होता गया, यह साम्राज्यवादी शिकारी के साथ सहयोग करने लगा, ज़्यादा-से-ज़्यादा सार्वजनिक संपत्ति को निजी हाथों में देता गया, भारतीय अर्थव्यवस्था को विदेशी स्वामित्व के लिए खोलता गया और पूंजी संचय की उसने ऐसी नीतियां अपनायीं जिनमें संपत्तिविहीन दमित जनता को रोज़गार मिलने की गुंजाइश नहीं थी और बेरोज़गारों की संख्या बढ़ती गयी। इस प्रक्रिया में राज्य की भूमिका तेज़ी से बदल गयी। घर में यह भारतीय जनता का प्रतिनिधि नहीं रह गया बल्कि सिर्फ़ पूंजीपतियों का, बल्कि इस वर्ग की धुरी कारपोरेट हिस्से का प्रतिनिधि बन गया। विश्व अर्थव्यवस्था के साथ संबंध में यह राज्य भारतीयों के हितों का प्रतिनिधि नहीं रह गया। नवउदारवादी राज्य का प्रमुख काम अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था के हितों और आदेशों को भारतीय जनता पर थोपना रह गया है। और यह खोखले जनतंत्र के रहने के बावजूद हुआ है। ऐसी परिस्थिति में राज्य को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता छोड़नी पड़ी जो हमारे उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन का आधार थी और एक शक्तिशाली दक्षिणपंथी गिरोह, जो साम्राज्यवाद का कोई विरोध नहीं करता, भारतीय राष्ट्रवाद को धार्मिक, पुरातनपंथी, ब्राह्मणवादी शब्दावली में फिर से परिभाषित करने लगा। भारत की एकता भी नस्लीय क्षेत्रीय और धार्मिक झगड़ों से ख़तरे में पड़ गयी है। जैसा कि हमने शिवसेना के मामले में देखा, सांप्रदायिक हिंसा और नस्ली-क्षेत्रीय हिंसा में वंशानुगत संबंध है।

यह नवउदारवादी व्यवस्था बर्बर शोषण और कम तनख़्वाह की व्यवस्था, मज़दूर वर्ग के मनोबल को तोड़ने की व्यवस्था ही नहीं है, यह रोज़गार देने और उसे स्थायी बनाने को भी तैयार नहीं है। इस प्रकार यह सिर्फ़ शोषण करने की नहीं, समाज को तोड़ने और सामाजिक दिशाहीनता को जन्म देने वाला शासन है। लंपटता फैलाना सिर्फ़ लंपट सर्वहारा पैदा करने से ज़्यादा बड़ी परिघटना है, मध्यवर्ग के कई लोग इसकी चपेट में आ गये हैं। मेरा विश्वास है कि वामपंथ के सामने सबसे बड़ी समस्याओं में यह एक है। संप्रदायवाद सामाजिक बिखराव लाने वाले अतिपूंजीवाद का जश्न है जो सिर्फ़ दरिद्र जनता को ही नहीं बल्कि मज़दूर वर्ग के हिस्सों को भी प्रभावित कर रहा है।

संप्रदायवाद के विरुद्ध हर तरह का संघर्ष ज़रूरी है, लेकिन इस बारे में कोई भ्रम नहीं होना चाहिए कि संघर्ष कितना लंबा और कठिन होगा। अगर संप्रदायवाद सिर्फ़ विचारधारात्मक, अधिरचनात्मक, सतही शक्ति नहीं है बल्कि परजीवी पूंजीवाद की संरचना की जड़ में है, तो इसके ख़िलाफ़ संघर्ष सिर्फ़ धर्मनिरपेक्षता के पक्ष में संघर्ष नहीं है बल्कि पूंजीवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष का हिस्सा है। संक्षेप में, मेरा यही मतलब था जब मैंने पहले सुझाव दिया कि संप्रदायवाद के विरुद्ध संघर्ष साम्यवाद के लिए संघर्ष है। मैं तो यहां तक कहूंगा कि धर्मनिरपेक्षता अब भारत में कोई बुर्जुआ सद्गुण नहीं है जैसा कि वह ज्ञानोदयी फ्रांस में था और हमारे उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में था। आज, सांप्रदायिक चेतना के देश में व्यापक फैलाव के साथ, यह ख़ास तौर से एक कम्युनिस्ट सद्गुण हो गया है।

अनुवादः राजीव कुमार
मो. 9891822220

पी सुंदरैया की जन्मशती पर हैदराबाद में आयोजित सेमिनार (4-6 मई, 2013) में प्रस्तुत पर्चा

ख़तरनाक किनारे : विश्व साहित्य पर कुछ विचार

(डीसीआरसी, दिल्ली वि. वि. द्वारा आयोजित सातवां पाब्लो नेरुदा व्याख्यान)

एजाज़ अहमद

मुझे वर्ष 2008 का पाब्लो नेरुदा व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया, इसके लिए मैं डीसीआरसी को धन्यवाद देना चाहता हूं। पाब्लो नेरुदा से जुड़े आयोजन में बोलना मेरे लिए सम्मान की बात है।

नेरुदा की कविता या उनके जीवन के बारे में मैं कम ही बात करूंगा। यों तो वैलेजो से लेकर गुइलेन तक, लैटिन अमेरिका ने दुनिया को 20वीं सदी के कुछ महानतम कवि दिये हैं, पर मेरे विचार में नेरुदा उन सभी में सबसे अधिक प्रामाणिक कवि हैं , वैसे ही जैसे उपन्यास के क्षेत्र में मार्केज़ या ऑस्टुरियस हैं । मैं यहां 'प्रामाणिक' शब्द का प्रयोग सलाह के रूप में कर रहा हूं। अपने जीवनकाल में नेरुदा के 27 कविता संग्रह प्रकाशित हुए जबकि 7 कविता संग्रह मरणोपरांत प्रकाशित हुए। इनमें से कैंटो जनरल की रचना में उन्हें बारह साल लगे। उस समय वे अपने कवि कर्म के शिखर पर थे। जब छपकर आयी तो यह कविता 567 पृष्ठों की थी। इसमें 15वीं शताब्दी से लेकर 20वीं सदी के मध्य तक फैले पूरे लैटिन अमेरिकी इतिहास का एक स्मारकीय प्रतिबिंब (और एक विशाल काव्य आह्वान) उभर आया था। इस कविता को ख़ूब सराहना मिली, यहां तक कि इसकी तुलना दांते की *डिवाइन कॉमेडी* से की गयी । मेरा मानना है कि 'वाल्कॉट के होमरोस', जो कैरिबियायी लोगों के ऐतिहासिक अनुभव पर आधारित ऐसी ही लंबी कविता है, के साथ ही गैलीनो द्वारा लैटिन अमेरिकी इतिहास पर 3-खंड में लिखी गयी पुस्तक, मेमोरी ऑफ़ फ़ायर के पीछे कैंटो जनरल की प्रेरणा रही है।

वैलेजो, गुइलेन, ऑस्टुरियस, मार्केज़ और गैलियानो तथा कुछ अन्य लैटिन अमेरिकी लेखकों, जिनका मैंने यहां उल्लेख किया है, की तरह ही नेरुदा भी वामपंथी थे और, इससे भी बढ़कर, जैसा कि गुइलेन और ऑस्टुरियस के साथ भी था, वे साम्यवाद को मानने वाले थे। 20वीं सदी की लैटिन अमेरिकी कविता की महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में स्थापित कैंटो जनरल को, नेरुदा के सबसे बड़े अंग्रेज़ी संपादक, इलान स्टावन्स ने 'भौगोलिकता से परे और अति-ऐतिहासिक' कहा है। उन पर सटीक टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि 'नेरुदा एक ऐसे अतीत की कल्पना करते हैं जो स्पेनिश और स्वदेशी लोगों को जोड़ता है और इस तरह वे अंततः अपनी मार्क्सवादी राजनीति को आगे बढ़ाते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के लिए समर्पित होकर वे विनम्र, आम आदमी की तारीफ़ करते हैं।' इस विशालकाय कविता के कुछ अधिक चर्चित अंश को एक अलग खंड के रूप में अंग्रेज़ी में, 'द हाइट्स ऑफ़ माचू पिचू' शीर्षक से प्रकाशित किया गया है। न जाने कितने लोगों ने कितनी बार इसका अनुवाद किया है, मैंने भी एक बार इसका कुछ अनुवाद उर्दू में किया था ।

मार्क्सवाद और साम्यवाद की दुनिया से नेरुदा का संबंध काफ़ी महत्वपूर्ण था: उनके निजी जीवन में, उनकी कविता के लिए और 'विश्व साहित्य' के लिए भी, जिस विषय पर मैं जल्द ही लौटूंगा। जहां तक कविता का संबंध है, मैं पहले ही कैंटो जनरल का ज़िक्र कर चुका हूं और इस संदर्भ में ऐसी कई अन्य पुस्तकों का भी नाम लिया जा सकता है, लेकिन मेरा कहना है कि होमर, पिंडर और होरेस तक की बात करें तो भले ही संबोधन गीत ('ओड') यूरोपीय कविता के पवित्र रूपों में से एक हो, पर नेरुदा के अलावा मैं किसी अन्य कवि को नहीं जानता, जिसने प्याज़, मोज़े और छोटे गांवों के सिनेमाघरों आदि की प्रशंसा में इतने ख़ूबसूरत 'ओड' लिखे हों। जैसा कि

नेरुदा ने एक बार कहा था, 'हम उन चीज़ों से भी कविता बनायेंगे जिनसे पंच सबसे ज़्यादा घृणा करते हैं।' और ऐसे ही अपने नोबेल पुरस्कार संबोधन में उन्होंने कहा था, 'मैं एक अंधेरे इलाक़े से आता हूं, एक ऐसे देश से जिसका भूगोल अन्यों से बिल्कुल अलग है। मैं कवियों में सर्वाधिक परित्यक्त था, और मेरी कविता क्षेत्रीय, शोकाकुल, बारिश में डूबी हुई थी, लेकिन मुझे हमेशा से आदमी पर भरोसा था। मैंने कभी उम्मीद नहीं खोयी।' यह सच है। इच्छाशक्ति और आशावादिता से भरपूर नेरुदा की कविता पृथ्वी और हवा की उर्वरता को सुनने से लेकर मानव श्रम के सौंदर्य की महिमा, मानव शरीर के यौन परित्याग और मानव प्रेम की प्रचुरता में बेजोड़ है। इसमें भी वे बहुत हद तक नाज़िम हिकमत, महमूद दरवेश, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ जैसे अन्य महाद्वीपों के 20वीं सदी के कम्युनिस्ट कवियों की तरह थे। वे एक मार्क्सवादी कवि थे, जो सर्वहारा और किसान तथा जनसाधारण के सांस्कृतिक ब्रह्मांड से जुड़े थे, लेकिन ज़्दानोव के समय पनपे 'मैन-लव्ज़-ट्रैक्टर' क़िस्म के विचारों से दूर थे।

इस तरह के व्याख्यान में नेरुदा की कविता के बारे में इससे कम मैं क्या कह सकता हूं। उनकी राजनीति के बारे में, मैं और भी संक्षेप में अपनी बात रखूंगा। वे कैंटो जनरल की रचना के बीच में 1945 में चिली की कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गये; वे अपनी पार्टी के लिए दो बार राष्ट्रपति पद के लिए लड़े; उन्होंने 1970 में 'यूनिडाड पॉपुलर' की ओर से दिवंगत कॉमरेड अलेंदे की राष्ट्रपति पद की उम्मीदवारी के लिए सक्रिय रूप से प्रचार किया; उन्होंने फ्रांस में अलेंदे के विशिष्ट राजदूत के रूप में कार्य किया और चिली तभी लौटे जब अलेंदे सरकार के ख़िलाफ़ सीआईए द्वारा प्रायोजित तख़्तापलट शुरू हो चुका था। वे भाग्यशाली थे कि सितंबर 1973 में कैंसर से उनकी मृत्यु हो गयी। तख़्तापलट अपनी मंज़िल पर पहुंच गया था और रक्तपात अपने चरम पर था। उनके दो घरों और पुस्तकालयों को फ़ासीवादी गुंडों ने तबाह कर दिया था। मैंने साहित्य और संस्कृति के संबंधों पर लिखी अपनी एकमात्र पुस्तक के परिचयात्मक अध्याय में तर्क दिया था कि चिली का 1973 का तख़्तापलट वैश्विक राजनीति में एक महत्वपूर्ण मोड़ था। तब तक, और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से ही दुनिया की राजनीति में वामपंथियों पर हमला करने वालों का वर्चस्व क़ायम हो गया था। मोटे तौर पर, कई बार हार के बावजूद; चिली के ख़ूनख़राबे के साथ, सीआईए मानकों के अनुसार भी सबसे ख़राब में से एक, वैश्विक प्रतिक्रियावादी ताक़तों का सिर उठाना शुरू हो जाता है जो अभी भी चल रहा है और जो लैटिन अमेरिका और पश्चिम एशिया में अलग-अलग तरीक़े से उजागर होने लगा है, और जो वैश्विक मुद्रा के रूप में डॉलर के पतन के रूप में दिख रहा है। उन वर्षों के दौरान चिली में, अलेंदे और नेरुदा साथ-साथ संघर्ष कर रहे थे। अलेंदे अपने गौरवशाली जीवन के उन अंतिम मिनटों के दौरान लड़ते हुए मर गये, उस एकमात्र बंदूक के साथ जिसे उन्होंने जीवन भर संभाला था, और जिसे फ़िदेल कास्त्रो ने उन्हें उपहार में दिया था। उनके सम्मान में नेरुदा ने कुछ कविताएं लिखी थीं। नेरुदा ख़ुद, जैसा कि मैंने कहा, भाग्यशाली रहे कि अमेरिकी ख़ज़ाने द्वारा पोषित गुंडों की गोली से मरने के बजाय, अपने बिस्तर में कैंसर से मरे।

जहां तक 'विश्व साहित्य' के लिए नेरुदा के महत्व का सवाल है, जो इस व्याख्यान का विषय है, प्रस्तुति के इस चरण में मेरे लिए तर्क रखना कठिन है। मैं इस आशय का एक जटिल सैद्धांतिक तर्क दूंगा, वह यह, कि 'विश्व साहित्य' जो पश्चिमी दुनिया में अंग्रेज़ी और तुलनात्मक साहित्य के विभागों में इतना प्रचलित है, और इसीलिए आश्रित, साम्राज्यवादी दुनिया में भी ऐसे विभाग हैं, सांस्कृतिक और साहित्यिक संचय के साथ-साथ औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी संचय के इतिहास के रूप में पहचाना जाता है। मैं यहां उस तर्क को संक्षेप में नहीं बता सकता जो आज के मेरे अधिकांश वक्तव्य में रहेगा। संक्षेप में, मैं नेरुदा के संदर्भ में विरोधाभास पर ज़ोर देना चाहता हूं। उनकी कविता की पहली पुस्तक 1920 और 1930 के बीच आयी थी; लगभग इसी समय में जर्मनी में ब्रेख़्त और तुर्की में नाज़िम हिकमत अपने साहित्यिक करियर की शुरुआत कर रहे थे। अगले दशक में ऐमे सेसेयर की ऐतिहासिक कविता, 'रिटर्न टू माई नेटिव लैंड', आयी। 30 के दशक के मध्य तक, लेखकों का एक वैश्विक फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चा तैयार होने लगा था। विभिन्न भारतीय भाषाओं में 'प्रगतिशील लेखक संघ' इसका एक हिस्सा था। इस वैश्विक साहित्यिक संस्कृति में कम्युनिस्टों की केंद्रीय भूमिका थी, लेकिन संस्कृति अपने आप में बहुत व्यापक थी; यह साम्राज्यवाद-विरोधी, पुजारी-विरोधी, सामंत-विरोधी, नस्ल और जाति के विशेषाधिकारों का भी विरोधी था। एशिया और अफ्रीका के देशों के संबंध में इस वैश्विक साहित्यिक संस्कृति की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि

आधुनिक इतिहास में पहली बार महिलाएं, महिलाओं के रूप में महान साहित्यिक समानता और प्रमुखता के लिए खड़ी हुईं। उर्दू साहित्य के बारे में, जो एकमात्र ऐसा साहित्य है जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूं, मैं बड़े विश्वास के साथ कह सकता हूं कि 1930 से पहले किसी इस्मत चुग़ताई का होना संभव नहीं था; पीडब्ल्यूए की पत्रिकाओं के निकलने के बाद ही इस तरह की संभावनाएं खुल सकीं। (यहां मुझे फ्रांसीसी दार्शनिक, एटिने बलिबार की वह अवधारणात्मक टिप्पणी की याद आ रही है, कि ऐसा नहीं है कि महिला आंदोलन मज़दूर वर्ग के आंदोलनों के प्रभाव या उप-उत्पाद हैं; महिला आंदोलनों में वास्तव में उनके स्वायत्त और स्वतंत्र चरित्र हैं लेकिन आधुनिक विश्व के इतिहास में ऐसे किसी समाज का कोई उदाहरण नहीं मिलता जहां एक महिला आंदोलन एक श्रमिक आंदोलन के उदय से पहले उभरा हो।) यहां मुख्य बात यह है कि नेरुदा, दक्षिण अमेरिका के सुदूर के छोर पर, एक 'अंधेरे इलाक़े' में एक 'क्षेत्रीय' लेखक के रूप में विकसित हो रहे हैं। फिर भी यह एक वैश्विक साहित्यिक आंदोलन का हिस्सा था जिसमें अन्य लैटिन अमेरिकी (प्रुविया के वैलेजो, ग्वाटेमाला के ऑस्टुरियस, क्यूबा के गुइलेन और बाद की तारीख़ में कोलंबिया के मार्केज़) शामिल थे, लेकिन यूरोपीय (मायाकोवस्की, ब्रेख्त) कैरिबियन, एशियाई और अफ्रीकी भी शामिल थे। आधुनिक समय की यह पहली वैश्विक साहित्यिक संस्कृति थी जिसमें संबंधित लेखकों के नस्लीय या राष्ट्रीय मूल के संदर्भ में श्रेणीबद्धता नहीं थी, और यह साम्राज्यवादी विचारों से भी मुक्त थी। विषय-वस्तु और पाठ्य-प्रसार दोनों ही दृष्टियों से। ज़ाहिर है, इसके पास अपने प्रकाशन गृह, पत्रिकाएं आदि थे। इस तरह की वैश्विक साहित्यिक संस्कृति में बाद के दशक में केवल वामपंथी ही टिक सकते थे, क्योंकि वे साम्राज्यवादी कृपालुता और उस तरह के अन्य संरक्षण से मुक्त थे।

इन दिनों जिसे 'विश्व साहित्य' कहा जाता है, उसकी प्रकृति पर चर्चा करने के लिए आगे बढ़ूं उससे पहले कृपया इन संक्षिप्त अप्रकट टिप्पणियों को ध्यान में रखें क्योंकि जो अकादमिक बाज़ार उच्चतम संस्थागत स्तर पर है, वह अनिवार्य रूप से एंग्लो-अमेरिकन है, और एक हद तक फ्रेंच, पर यही साहित्यिक बाज़ार एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय साहित्यिक बाज़ारों को भी आकार देता है।

हालांकि, आगे बढ़ने से पहले मेरी ओर से एक स्वीकारोक्ति और एक स्पष्टीकरण ज़रूरी है।
स्वीकारोक्ति यह है कि आप जिस पाठ को सुनने जा रहे हैं वह इसका पहला संस्करण नहीं है, बल्कि चौथा है। इस विषय पर मेरे मन में 1998 में *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* के प्रकाशन के एक सौ पचासवें वर्ष पर विचार आने लगे थे, जब मैंने इस घोषणा पत्र में 'विश्व साहित्य' पर दिये गये उस प्रसिद्ध अनुच्छेद के बारे में सोचना शुरू किया, तो मैंने दो वर्षों में *मेनिफ़ेस्टो* पर चार निबंधों की शृंखला के रूप में एक लेख लिखा और इसे *सोशल साइंटिस्ट* में प्रकाशित करवाया। मैंने उसके बाद इसे काफ़ी अच्छी तरह से संशोधित किया और उसका उपयोग एक व्याख्यान के पाठ के रूप में साओ पाउलो विश्वविद्यालय में किया था, जो 2005 में ब्राज़ील में, पुर्तगाली में प्रकाशित हुआ था। कोलंबिया विश्वविद्यालय के हेमैन सेंटर में व्याख्यान देने के लिए मैंने इसे फिर से लिखा था। मार्क्स द्वारा *घोषणापत्र* में कही गयी बातों से तब मैं असंतुष्ट हो गया था और बेहतर निरूपण के लिए उनके अन्य लेखन में खोजबीन कर रहा था। मैं आज आपके सामने जो पाठ प्रस्तुत कर रहा हूं, वह चौथा संस्करण है, वह इसलिए कि मैंने इस विषय पर और अधिक पढ़ा है तथा और अधिक सोचा है। तो, जो पाठ आप सुनेंगे वह एक ही समय में काफ़ी पुराना भी है और काफ़ी नया भी। मैं इस विषय पर कोई पेशेवर विशेषज्ञता का दावा नहीं करता, फ्रेंको मोरेटी का 'विश्व साहित्य' पर जो मौलिक निबंध है, वह याद रखने योग्य है। इस विषय पर उनके आगे के लेखन, और उसके बाद जो बहस हुई, वह तब प्रकाशित नहीं हुई थी जब मैंने 'विश्व साहित्य' की अस्पष्टता को लेकर पहली बार अपने प्रारंभिक शोध का मसौदा तैयार किया था। पास्कल कैसानोवा की वह किताब भी तब नहीं आयी थी, जो फ्रांस में इतनी चर्चित रही और जिसे एडवर्ड सईद ने कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस से बड़े उत्साह से प्रकाशित करवाया था। मेरे लगातार तीन मसौदों में प्रयुक्त मुहावरे 'वैश्वीकृत और असमान' में मोरेटी की 'विश्व साहित्य' की उस परिभाषा को जो 'एक और असमान' थी, एक वैश्विक पाठ प्रणाली के रूप में संदर्भित नहीं किया गया था। लेकिन उस प्रसिद्ध अनुच्छेद में जिस तरह से मार्क्स इस विषय से निपट रहे थे उसको लेकर मेरी अपनी आपत्ति थी। अपने शीर्षक में से मैंने वह मुहावरा हटा दिया है, भले ही लगातार तीन ड्राफ़्ट के लिए इतनी अच्छी तरह मैंने इसका इस्तेमाल किया था। इसके बजाय, मैंने अब 'ऑन द

डेंजरस एज ऑफ़ थिंग्स' शीर्षक को चुना है जो ओरहान पामुक को श्रद्धांजलि के रूप में है, और पामुक के माध्यम से, यह रॉबर्ट ब्राउनिंग को भी श्रद्धांजलि है, जैसा कि आप आगे देखेंगे। मैंने मार्क्स और गोएथे संबंधी चर्चा के कुछ हिस्से को बरक़रार रखा है लेकिन उस पर भी नये सिरे से विचार किया है।

इन प्रारंभिक टिप्पणियों के साथ, अब मैं अपने विषय की ओर मुड़ता हूं। जैसा कि पहले कहा गया है, 'विश्व साहित्य' के बारे में विचारों की यह पूरी शृंखला लगभग एक दशक पहले घोषणापत्र के एक निश्चित अंश के प्रतिबिंब के रूप में मेरे साथ चल रही थी। आप में से कुछ शायद उस अंश से परिचित हैं, लेकिन मुझे इसे वैसे भी उद्धृत करने दें:

'विश्व बाज़ार को अपने लाभ के लिए इस्तेमाल कर बुर्जुआ वर्ग ने हर देश में उत्पादन और खपत को एक सार्वभौमिक रूप दे दिया है। प्रतिगामियों की भावनाओं को गहरी चोट पहुंचाते हुए उसने उद्योग के पैरों के नीचे से उस राष्ट्रीय आधार को खिसका दिया है जिस पर वह खड़ा था। पुराने जमे-जमाये सभी राष्ट्रीय उद्योग या तो नष्ट कर दिये गये हैं या नित्य प्रति नष्ट किये जा रहे हैं। उनका स्थान ऐसे नये-नये उद्योग ले रहे हैं जिनकी स्थापना सभी सभ्य देशों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन जाती है; उनका स्थान ऐसे नये उद्योग ले रहे हैं जो उत्पादन के लिए अब सिर्फ़ अपने देश का ही कच्चा माल इस्तेमाल नहीं करते बल्कि दूर-दूर देशों से लाया हुआ कच्चा माल इस्तेमाल करते हैं; उनका स्थान ऐसे उद्योग ले रहे हैं जिनके उत्पादन की खपत सिर्फ़ उसी देश में नहीं, बल्कि पृथ्वी के कोने-कोने में होती है। उन पुरानी आवश्यकताओं की जगह, जिन्हें स्वदेश की बनी चीज़ों से पूरा किया जाता था, अब ऐसी नयी-नयी आवश्यकताएं पैदा हो गयी हैं जिन्हें पूरा करने के लिए दूर-दूर के देशों और भू-भागों से माल मंगाना होता है। पुरानी स्थानीय और राष्ट्रीय पृथकता और आत्मनिर्भरता का स्थान चौतरफ़ा पारस्परिक संपर्क ने, सार्वभौमिक अंतरनिर्भरता ने ले लिया है। और भौतिक उत्पादन की ही तरह, बौद्धिक कृतियां सार्वभौमिक संपत्ति बन गयी हैं। राष्ट्रीय एकांगीपन और संकुचित दृष्टिकोण - दोनों ही अधिकाधिक असंभव होते जा रहे हैं, और अनेक राष्ट्रीय और स्थानीय साहित्यों से एक विश्व साहित्य उत्पन्न हो रहा है।'

बेशक मार्क्स के दिमाग़ में अन्य प्रकार के उद्योग थे, जैसे कि कपड़ा, स्टील, मशीन का सामान आदि। हालांकि, वे यहां जो कह रहे हैं, उनमें से कुछ निश्चित रूप से लागू होता है, और जिसे एडोर्नो ने 'द कल्चर इंडस्ट्री' कहा था। कॉनरैड के कथा साहित्य या हॉलीवुड फ़िल्मों में अफ्रीका का उपयोग, यूरोपीय क्यूबिज़्म में अफ्रीकी मास्क का, किपलिंग और कॉनरौड के यहां भारत का, और अब तक, लंदन और न्यूयॉर्क में प्रकाशित उपन्यासों के लिए कच्चे माल के रूप में दुनिया भर की अनगिनत संस्कृतियों का उपयोग होता आया है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह वैश्वीकरण न केवल उपन्यास जैसे साहित्यिक रूपों का है, जिस पर मोरेटी ज़ोर देते हैं, बल्कि उस कच्चे माल का भी है जिनसे कुछ सबसे सफल अंग्रेज़ी भाषा के उपन्यास बनाये गये हैं। कम से कम 19वीं शताब्दी के मध्य से, अंग्रेज़ी कथा साहित्य स्वयं एक सांस्कृतिक प्रथा के रूप में चला आ रहा है जिसके माध्यम से ब्रिटिश पाठकों को साम्राज्य के विभिन्न हिस्सों के सांस्कृतिक भूगोल से परिचित कराना था, ताकि इसके ज़रिये वे अपनी कल्पना में, घर बैठे अपनी औपनिवेशिक संपत्ति की यात्रा कर सकते थे।

फिर भी, आप आसानी से देख सकते हैं कि मैंने अभी-अभी मार्क्स से जो अंश उद्धृत किया है, वह कुछ अन्य मामलों में भी अत्यधिक समस्याग्रस्त है। जब वे यहां 'हर देश' की बात करते हैं, तो वे ऐतिहासिक प्रवर्तन को स्वीकार किये जाने को लेकर बहुत आश्वस्त हैं। यहां वे गिने-चुने यूरोपीय देशों और उसमें भी उत्तरी संयुक्त राज्य अमेरिका की बात करते हैं, क्योंकि 'उत्पादन' का 'महानगरीय चरित्र' कहीं और नहीं उभरा था। इसी तरह, 'पुराने-स्थापित राष्ट्रीय उद्योग' - राष्ट्रीय और उद्योगों के व्यापक अर्थों में, निस्संदेह उपनिवेशों में 'नष्ट' हो गये थे, लेकिन 'नये उद्योग' जिन्होंने उन्हें 'बेदख़ल' कर दिया था, वे उस समय उपनिवेश केंद्रों में स्थित थे लेकिन उपनिवेश की दुनिया में नहीं, इसलिए दुनिया भर में पारस्परिकता और पारस्परिकता के अर्थ में 'राष्ट्रों की सार्वभौमिक निर्भरता' की बात करना बिलकुल काल्पनिक था। दुनिया के अधिकांश लोग, इतिहास के उस मोड़ पर उन्हें 'राष्ट्र' कहें या न कहें, वास्तव में कुछ प्रमुख देशों पर अत्यधिक निर्भर होने लगे थे, और वे प्रमुख देश एक-दूसरे से न केवल परस्पर मुक्त रिश्ते से जुड़े थे, बल्कि औपनिवेशिक संपत्ति पर कब्ज़े को लेकर अत्यधिक अस्थिर और हिंसक संघर्ष में भी फंसे थे।

इसके कारण 19 वीं सदी के दौरान कई स्थानीय और क्षेत्रीय युद्ध हुए और 20 वीं सदी में दो विश्व युद्ध हुए। इन परिस्थितियों के बीच एक विश्व बाज़ार और एक वैश्विक संस्कृति का उदय हुआ-लेकिन वह सीमित था। बाक़ी के लिए, 'विश्व बाज़ार' में कई बाज़ार शामिल थे जो उद्यमों, देशों और साम्राज्यों के बीच और वास्तव में संस्कृतियों और साहित्य के बीच प्रतिस्पर्धा के स्थल थे। मार्क्स द्वारा उन पंक्तियों को लिखने से कुछ साल पहले, मैकाले ने घोषणा की थी कि भारत के पूरे शास्त्रीय साहित्य को देखें तो वह पश्चिमी साहित्य की एक आलमारी के भी बराबर नहीं है। यूरोपीय और अमेरिकी संस्कृतियां ही वैश्वीकृत हुईं। इस विस्तारित और तीव्र 'वैश्विक संस्कृति' की संप्रभुता के तहत कुछ संस्कृतियों और साहित्य को आसानी से मिटा दिया गया, ख़ासकर सफल उपनिवेशों में; अन्य जगह राष्ट्रीय और स्थानीय संस्कृतियां बनी रहीं। वर्ग या नस्ल पर आधारित संस्कृतियां, सह-अस्तित्व में भी थी और परस्पर विरोधी भी। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद पर रचा गया विपुल साहित्य इस बात का गवाह है। पूरी दूनिया में मूल निवासियों के सांस्कृतिक संघर्ष को हम लगातार देखते रहे हैं और यह आज भी जारी है।

हम *घोषणापत्र* में ऐसे अंश पाते हैं जहां मार्क्स अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमेरिका में औपनिवेशिक लूट की क्रूरता के बारे में स्पष्ट रूप से बोलते हैं, लेकिन मैंने जो अंश यहां उद्धृत किया है, वह यहां असंगत सा लगता है। ऐसा लगता है कि पूंजीवाद दुनिया भर में अबाध गति से फैल रहा है, हर जगह समान प्रभाव पैदा कर रहा है, ताकि सब कुछ वास्तव में काफ़ी अनुमानित प्रतीत हो और विश्व बाज़ार और 'विश्व साहित्य' के बीच एक आदर्श पत्राचार उभरे और जिसे अंतत: 'राष्ट्रीय संकीर्णता' के रूप में तिरस्कार के साथ ख़ारिज कर दिया जाये। विश्व बाज़ार अपने आप में बिलकुल अच्छा, महान समतुल्यक प्रतीत होता है, बिना किसी अर्थ के कि विश्व बाज़ार में इकट्ठा किया गया 'विश्व साहित्य' उन तीव्र असमानताओं से शायद ही मुक्त हो सकता है जो बाज़ार द्वारा आर्थिक क्षेत्र में, वर्ग और देश में पैदा किया जाता है। अनिवार्यत: यह दुनिया के देशों और वर्गों के बीच सांस्कृतिक सामग्री की पहुंच को असमानता की ओर ले जाता है।

यह सब बहुत ही अजीब है, यह देखते हुए कि कुछ साल पहले ही मार्क्स ने ख़ुद इसके उलट कहा था, उदाहरण के लिए *जर्मन विचारधारा* में वे कहते हैं:

> इतिहास में वर्तमान तक... अलग-अलग व्यक्ति (सेपरेट इंडिविजुअल्स)... अपने से अलग एक विदेशी शक्ति के तहत अधिक से अधिक ग़ुलाम बन गये हैं, यह वह शक्ति है जो अधिक से अधिक विशाल हो गयी है और अंतिम उदाहरण में, विश्व बाज़ार बन गयी है ... साम्यवादी क्रांति द्वारा समाज की मौजूदा स्थिति को उखाड़ फेंकने से, यह शक्ति, जो जर्मन सिद्धांतकारों को इतना चकित करती है, भंग हो जायेगी, इतिहास विश्व इतिहास में तब्दील होगा ... और... तब हरेक व्यक्ति को विभिन्न राष्ट्रीय और स्थानीय बाधाओं से मुक्त किया जायेगा, उसे पूरी दुनिया के भौतिक और बौद्धिक उत्पादन के साथ व्यावहारिक संबंध में जोड़ा जायेगा और उस स्थिति में रखा जायेगा ताकि वह पूरी पृथ्वी के इस सर्वांगीण उत्पादन का आनंद लेने की क्षमता हासिल कर सके... चहुंमुखी निर्भरता, व्यक्तियों के वैश्विक ऐतिहासिक सहयोग का यह प्राकृतिक रूप, इस साम्यवादी क्रांति द्वारा इन शक्तियों के नियंत्रण और सचेत अधिकार में बदल जायेगा...(171-172)... किसी भी मामले में, समाज के एक साम्यवादी संगठन के साथ, स्थानीय और राष्ट्रीय संकीर्णता के लिए कलाकार की अधीनता, जो पूरी तरह से श्रम विभाजन से उत्पन्न होती है, ग़ायब हो जाती है, ... 190 (*जर्मन विचारधारा*, मैक्लेलन)

यहां, विश्व बाज़ार को ही उस शक्ति के रूप में देखा जाता है, जो मनुष्य की मानवता के लिए पराया है, जो व्यक्तियों को गुलाम बनाती है और उन्हें अलग रखती है; जबकि विश्व बाज़ार की इस महान शक्ति का विघटन, और उस बाज़ार की निश्चित अस्वीकृति के रूप में साम्यवादी क्रांति का आना, व्यक्तियों की मुक्ति और उचित अर्थों में विश्व इतिहास के उद्भव के लिए पूर्व शर्त के रूप में देखा जाता है। यहां 'राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता' की खोखली चर्चा नहीं है, बल्कि 'सर्वांगीण निर्भरता'' की बात है। इसमें व्यक्तियों के ऐतिहासिक सहयोग का एक सहज रूप है। 'राष्ट्रीय संकीर्णता' के इलाज के लिए यह कोई रूप रहित 'विश्व साहित्य' नहीं है। बल्कि 'पूरी दुनिया के भौतिक और बौद्धिक उत्पादन के साथ एक व्यावहारिक संबंध' के रूप में है। जबकि 'राष्ट्रीय संकीर्णता' की पहचान विश्व बाज़ार और इसके 'श्रम विभाजन' के परिणाम के रूप में की जाती है। दूसरे शब्दों में यह एक मजिस्ट्रियल दृष्टि है, जो वास्तव में दूर के भविष्य में किसी बिंदु पर एक यूटोपिक क्षण की, जब वर्ग और उपनिवेश, बाज़ार और राष्ट्रीयता के बंधन टूट जायेंगे, और मानवता अपने प्रागितिहास से निकलकर समानताओं वाली दुनिया के रूप में उभरेगी।

'विश्व साहित्य' की सच्चाई, मेरा मानना है, कि उन दो अंशों के बीच कहीं बसती है। विश्व बाज़ार ने

निस्संदेह उपभोक्तावाद की एक साहित्यिक संस्कृति और कल्पना की एक शैली का निर्माण किया है जिसे तारिक अली 'बाज़ार यथार्थवाद' कहते हैं और इस प्रकार वर्णन करते हैं:

> जिस तरह हैमबर्गर बेचने वाली प्रतिद्वंद्वी कंपनियां चिंताएं अपने-अपने सामानों का विज्ञापन करती हैं, उसी तरह उत्तरी अमेरिका और ब्रिटेन के बड़े-बड़े प्रकाशक लेखकों को ख़रीदते हैं और उन्हें मवेशियों की तरह प्रदर्शित करते हैं। साहित्यिक एजेंट की नयी नस्ल द्वारा संभावित बेस्टसेलर की नीलामी की जाती है। ऐसी पुस्तकों को बेचने की ज़रूरत पड़ती है और यहीं पर हाइपर-मर्चेंट का प्रवेश होता है और प्रचार शुरू हो जाता है।

मैं यह जोड़ सकता हूं कि इस परिघटना में अब न केवल पॉट बॉयलर और क्राइम थ्रिलर जैसी चीज़ें ही नहीं बल्कि समकालीन कथा साहित्य के कुछ सबसे प्रतिष्ठित नाम भी शामिल हैं। यहां तक कि इस पेपर का मसौदा तैयार करते वक़्त मेरे लैपटॉप के बग़ल में नोबेल पुरस्कार के हालिया विजेता का एक बढ़िया उपन्यास पड़ा था, जिसके कवर पर न केवल जॉन अपडाइक और मार्ग्रेट एटवुड का ब्लर्ब लिखा है, बल्कि *स्टार ट्रिब्यून* से लेकर *टाइम्स* (लंदन) तक 20 दैनिक अख़बारों और मासिक पत्रिकाओं की समीक्षाओं के अंश भी छपे हैं, जो एक अत्यधिक सफल मार्केटिंग अभियान का प्रतीक है।

यह कहानी का एक पक्ष है। हालांकि, यह भी बात है कि दुनिया भर के साहित्य के गंभीर पाठकों के पास विविध देशों के साहित्य तक अभूतपूर्व पहुंच है, जबकि प्रतिष्ठित समकालीन कृतियों का अब पूरी तरह से अंतर-राष्ट्रीयकरण हो गया है। 'विश्व साहित्य' का वह रूप, जिसकी परिकल्पना अकादमिक जगत में की गयी है, इस नये सिद्धांत से ख़ुद को संतुष्ट कर सकता है।

पिछले कुछ दशकों में अनुवाद एक साहित्यिक गतिविधि के रूप में मूल रचना की तरह महत्वपूर्ण और व्यापक हो गया है। इसने दुनिया भर में पढ़ने की आदतों को बदल दिया है। कई बेहतरीन अमेरिकी कवियों ने अन्य भाषाओं के कुछ महान कवियों का अनुवाद किया है, जैसे कि नेरुदा और सेसायर। ऐसा करते हुए, उन्होंने काव्य मुहावरों और काव्य उपकरणों को अंग्रेज़ी में इस क़दर रूपांतरित कर दिया है कि अब अंग्रेज़ी में जो कविता लिखी जा रही है उनमें अधिकांश पर इन अनुवादों में प्रयुक्त मुहावरों और उपकरणों की छाप है। दुनिया भर के पुस्तकालयों और किताबों की दुकानों में दुनिया के विभिन्न हिस्सों के दर्जनों लेखकों की किताबें मिल जायेंगी, पर ये मिलेंगी उस प्रभुत्वशाली भाषा में जिसकी उस देश या क्षेत्र में व्यापक पाठक संख्या है, जहां पुस्तकालय या किताबों की दुकान स्थित है। यहां मूल रचना की भाषा की परवाह नहीं है। यह संभव है कि ज़्यादा लोगों ने स्पेनिश की बजाय किसी अन्य भाषा में मार्केज़ को पढ़ा हो। इसके कारण अधिकांश देशों में पाठक या तो उनके कोलंबियाई राष्ट्रीय मूल को भूल जाते हैं या इसे कोई विशेष महत्व नहीं देते हैं। ऐसे में वे या तो लैटिन अमेरिकी लेखक बनकर रह जाते हैं, या वास्तव में एक सच्चा सार्वभौमिक' लेखक। हालांकि कोलंबिया के ऐतिहासिक और सामाजिक अनुभवों की जटिलताओं को पढ़े बिना मार्केज़ को पढ़ना, एक सतही अध्ययन ही होगा। भारत के भीतर, ऐसी कोई साहित्यिक भाषा नहीं है जिसका आधुनिक साहित्य न केवल ब्रिटिश प्रभाव से बल्कि विभिन्न प्रकार के विदेशी प्रभावों के माध्यम से मौलिक रूप से परिवर्तित नहीं हुआ हो। उर्दू साहित्य की बात करें तो निश्चित रूप से यह ब्रिटिश साहित्य की तुलना में रूसी और फ्रांसीसी साहित्य से अधिक प्रभावित था।

मोरेटी ने उपन्यास की शैली के वैश्विक प्रसार का अध्ययन किया है। उन्होंने चतुराई के साथ 'विश्व साहित्य' संबंधी अपनी परियोजना के पक्ष में उपन्यास को रेखांकित किया है। हालांकि मेरी नज़र में काव्य रूप शायद ही उतनी आसानी से यात्रा करते हैं, जितना वे दावा करते हैं। आधुनिक कहानी का रूप भारतीय भाषाओं में इतना सार्वभौमिक क्यों हो गया जबकि अंग्रेज़ी सॉनेट, शेक्सपियर का नाटक या होमेरिक महाकाव्य नहीं हुआ। क्यों कुछ साहित्यिक रूप अन्य रूपों की तुलना में अधिक आसानी से यात्रा करते हैं, यह साहित्य के समाजशास्त्र के लिए बहुत रुचि का विषय है। फिर भी पाठों और रूपों का एक हद तक वैश्वीकरण अब तथ्य बन गया है।

'अंतर-निर्भरता' आदि में दृढ़ विश्वास होते हुए भी उस हद तक मार्क्स सही थे। गोएथे ने पहले से ही न केवल अनुवाद और सांस्कृतिक पाठ की गतिविधि बल्कि वाणिज्य और युद्ध, तथा युद्ध की उठा-पठक के बीच शांति की अवधियों को महत्वपूर्ण कारक के रूप में पहचान लिया था। इसे उन्होंने सांस्कृतिक आदान-प्रदान और राष्ट्रों के बीच साहित्यिक वाणिज्य कहा था, जो राष्ट्रीय सीमाओं के पार लोगों को यह सोचने के लिए मजबूर करता है कि

उनमें क्या समान है। 'विश्व साहित्य' के निर्माण के पीछे इंजन के रूप में विश्व बाज़ार की भूमिका के बारे में मार्क्स का तर्क उस अमूर्त दृष्टिकोण को अधिक ऐतिहासिक विशिष्टता प्रदान करता है, और निश्चित रूप से स्थिति यह है कि उपनिवेश और साम्राज्य के तमाम इतिहासों के माध्यम से हम एक तरह की पूंजीवादी सार्वभौमिकता की ओर पहुंचे हैं, जिसने संसाधनों को उत्पन्न किया है, विशेष रूप से उन्नत पूंजीवाद वाले उन प्रमुख देशों में, उस तरह की चीज़ों को संभव बनाने के लिए जिसका ज़िक्र मैंने पिछले पैराग्राफ़ में किया है। इस साधन संपन्नता का दूसरा पहलू यह है कि इस दुनिया में अंग्रेज़ी की तुलना में बहुत अधिक लोग मंदारिन बोलते हैं, और कहा जाता है कि हिंदी और फ्रेंच बोलने वालों की संख्या लगभग बराबर है। लेकिन यह समझ से परे है कि मंदारिन या हिंदी अभिलेखीय संसाधनों, अनुसंधान और शिक्षण संस्थान, निधि, और जो कुछ भी एक अकादमिक अनुशासन के रूप में विश्व साहित्य को स्थापित करने के लिए आवश्यक है, को नियंत्रित कर सकते हैं। और यह इस बात का संकेत है कि पश्चिमी अकादमिक जगत में विश्व साहित्य की परिकल्पना कैसे की जाती है कि इस विषय पर पास्कल कैसानोवा की प्रसिद्ध किताब चीन को पूरी तरह से दरकिनार कर देती है। विश्व साहित्य के बारे में ठोस रूप से सोचने के लिए उस तरह का संसाधन, उस तरह का भौतिक आधार अंग्रेज़ी में केवल इसलिए उपलब्ध है क्योंकि अंग्रेज़ी दो महान साम्राज्यों ब्रिटिश और अमेरिकी विशेष रूप से अमेरिका की भाषा रही है, जो दुनिया का पहला वैश्विक साम्राज्य है। और मानव इतिहास और इसलिए एक पूर्ण शैक्षणिक अनुशासन के रूप में 'विश्व साहित्य' के निर्माण और विपणन के लिए यह उपयुक्त स्थल है।

इस टिप्पणी के साथ, मुझे इस प्रणाली के कुछ तरीक़ों की ओर मुड़ना चाहिए, 'विश्व साहित्यिक प्रणाली', जैसा कि मोरेटी कहते हैं, न केवल 'एक' और 'वैश्वीकृत' है, बल्कि 'असमान' भी है। यहां मेरा पहला बिंदु यह है कि औपनिवेशिक इतिहास ने प्रत्येक साम्राज्य के भौगोलिक विस्तार और शासन अवधि के अनुसार यूरोपीय भाषाओं को एक पदानुक्रम में व्यवस्थित किया। जैसा कि मैंने अभी कहा, इस प्रक्रिया में अंग्रेज़ी प्रमुख हो गयी। अपनी विशाल साहित्यिक धरोहर के बावजूद फ्रांसीसी को दूसरे स्थान पर ठेल दिया गया। पेरिस अभी भी 'सिद्धांत' के स्तर पर हावी हो सकता था, लेकिन यहां तक कि इसके सिद्धांतकार को भी अपने वैश्विक सत्यापन के लिए अमेरिकी अकादमिक बाज़ार की आवश्यकता थी, और वैसे भी पेरिस विश्व साहित्य का वैसा प्राथमिक केंद्र नहीं हो सकता था 'जैसा कि अमेरिकी विश्वविद्यालयों का समूह। स्पैनिश तीसरे स्थान पर ज़रूरी थी, लेकिन लैटिन अमेरिका के बाहर उसकी वैसी हैसियत नहीं थी, जैसी कि अंग्रेज़ी-भाषी दुनिया के बाक़ी हिस्सों में एंग्लो-अमेरिकन साहित्यिक संस्थानों की थी। ब्राज़ील, जो पुर्तगाली प्रभुत्व से मुक्त हो गया था, अफ्रीका में पूर्व पुर्तगाली उपनिवेशों के लिए साहित्यिक केंद्र बन गया। कैसानोवा की पुस्तक की एक बड़ी ताक़त यह है कि यह यूरोप के अंदर केंद्र-परिधि संबंधों को बड़ी सावधानी और सटीकता के साथ पेश करती है। हालांकि, जब ग़ैर-यूरोपीय 'दुनिया' की बात आती है, जिसे वह बहुत ही सटीक रूप से 'वर्ल्ड रिपब्लिक ऑफ़ लेटर्स' कहती हैं, तो वे उन ग्रंथों के इर्द-गिर्द बनी वैसी आश्चर्यजनक कहानी नहीं बताती हैं जो इन चार औपनिवेशिक रूप से वैश्वीकृत और असमान रूप से वैश्वीकृत - भाषाओं में दिखायी देती है।

औपनिवेशिक विभाजन के दूसरी ओर, उपनिवेशवादी देश की भाषाएं संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा जैसे बसने वाले उपनिवेशों में लगभग सार्वभौमिक हो गयीं, लेकिन ऐसी भाषाएं भारत या वियतनाम जैसे प्रशासित उपनिवेशों में प्रभुत्वशाली तो हुईं पर सार्वभौमिक नहीं हो सकीं। अन्य देशों में जिन्हें 'अर्ध-उपनिवेश' कहा जाता था, जैसे कि चीन या ईरान, यहां किसी विशेष यूरोपीय भाषा का प्रभुत्व बहुत कम था। इस प्रकार, लैटिन अमेरिका में, स्वदेशी भाषाओं को या तो समाप्त कर दिया गया या लोक विमर्श से दूर कर दिया गया या कम से कम बहुत ही अधीनस्थ कर दिया गया, यहां तक कि बोलीविया जैसे देशों में जहां स्वदेशी आबादी का बहुमत था। जबकि पुर्तगाली और स्पैनिश अपने-अपने क्षेत्र में कमोबेश सार्वभौमिक थे। कुछ जीवित बची भाषाओं की ओर से दावेदारी लैटिन अमेरिका में एक शक्तिशाली समकालीन परिघटना है, और मुझे नहीं मालूम कि इस महाद्वीपीय दावे का उत्तरी अमेरिका और अन्य प्रमुख पूंजीवादी देश में 'विश्व साहित्य' के शिक्षण के प्रोटोकॉल पर क्या प्रभाव पड़ने वाला है। भारत में, इसके विपरीत, अंग्रेज़ी प्रभुत्वशाली थी लेकिन सार्वभौमिकता से बहुत दूर थी। औपनिवेशिक काल वास्तव

में कई देशी भाषाओं में साहित्य के व्यापक सशक्तिकरण का काल है। ब्रिटिश शासन के विघटन के बाद से, अंग्रेज़ी निस्संदेह हमारी भाषाओं में से एक बन गयी है, लेकिन उन लोगों की संख्या जिनके लिए यह एकमात्र भाषा है, अपेक्षाकृत कम है और बड़े पैमाने पर शासक वर्ग तक सीमित है। मध्यम वर्ग का एक विशेषाधिकार प्राप्त तबक़ा अभी भी महानगर की इस शाही ज़बान के साथ उसी तरह की सांस्कृतिक आत्मीयता का इच्छुक है। यह सब कैसानोवा की पुस्तक में अच्छी तरह से दर्शाया गया है। फ़ॉकनर इसके नायकों में से एक हैं। वे कुछ हद तक ब्राज़ील की चर्चा करती हैं। टैगोर और रुश्दी उनके यहां भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं। सादेघ हिदायत के एकमात्र उदाहरण के साथ जिसका अनुवाद प्रमुख यूरोपीय भाषाओं में काफ़ी पहले किया गया, वे इरान का ज़िक्र करती हैं, लेकिन चीन की उपेक्षा करती हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि, हां, *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में मार्क्स का कथन सही था: 'विश्व साहित्य' उत्पन्न होता है, लेकिन 'अंतर-निर्भरता' के रूप में नहीं। इसका बड़ा हिस्सा यूरो अमेरिकन बना हुआ है, जबकि यह अपने कच्चे माल और संसाधनों का एक अच्छा हिस्सा दुनिया के बाक़ी हिस्सों से भी लेता है, ज़्यादातर दुनिया के 'स्थानीय और राष्ट्रीय साहित्य' के अनुवादों के माध्यम से, जबकि वे ग़ैर-पश्चिमी लोग जो सीधे यूरोपीय भाषा में रचना करते हैं और पश्चिम में प्रकाशित होते हैं, उनके पास विश्व बाज़ार और 'विश्व साहित्य' दोनों तक एक विशेषाधिकार प्राप्त पहुंच है। हालांकि, ग़ैर-पश्चिमी भाषाओं में रचित अधिकांश पुस्तकें 'राष्ट्रीय और स्थानीय साहित्य' का ही हिस्सा हैं। ये अलग-अलग क्षेत्र हैं और पदानुक्रम से परस्पर जुड़े हुए हैं। ये भाषाई क्षेत्र अलग-अलग सांस्कृतिक बाज़ारों के साथ मेल खाते हैं। केवल 'विश्व साहित्य' का विश्व बाज़ार है, जबकि दुनिया में अधिकांश पुस्तकें केवल स्थानीय और राष्ट्रीय बाज़ारों में ही प्रसारित होती हैं। विश्व बाज़ार राष्ट्रीय और स्थानीय बाज़ारों में प्रवेश करता है और हावी होता है; यह उन्हें समाप्त नहीं करता है। 'राष्ट्रीय और स्थानीय साहित्य' के संदर्भ में 'विश्व साहित्य' के बारे में भी यही सच है। यह हावी है लेकिन राष्ट्रीय और स्थानीय को नहीं मिटाता है। जैसा कि रामचंद्र गुहा ने कहा था, सबाल्टर्न बोल सकते हैं लेकिन भोजपुरी में, फ्रेंच में नहीं।

मार्क्स के विचार के उस दूसरे पहलू के बारे में क्या कहा जाये जिसका ज़िक्र मैंने *जर्मन आइडियोलॉजी* से उद्धृत अंश में किया है। वहां वे विश्व बाज़ार और सामान्य रूप से पूंजीवाद को विश्व साहित्य के उदय का प्रमुख कारक न मानकर 'व्यक्तियों के वैश्विक-ऐतिहासिक सहयोग के प्राकृतिक रूप' और 'पूरी पृथ्वी के इस चतुर्दिक उत्पादन का आनंद लेने की क्षमता' के ख़िलाफ़ एक महान बाधा के रूप में देखते हैं।

मार्क्स के इस विचार को मैं दिल से स्वीकार कर सकता हूं, यह जानते हुए कि हमें क्या चाहिए, लेकिन यह भी जानते हुए कि हमें जो चाहिए वह हाथ में नहीं है, और फिर भी वह ज़रूरत एक यूटोपियन अधिशेष की तरह बनी हुई है जिसके लिए हम प्रयास करना जारी रख सकते हैं। मोरेटी और अन्य, उसमें मैं भी शामिल हूं, वैश्विक साहित्यिक प्रणाली के भीतर की जिन असमानताओं के बारे में बात कर रहे हैं, वे अपरिहार्य हैं। 'समाजशास्त्रीय औपचारिकता' की कोई भी मात्रा इन असमानताओं को दूर करने में हमारी मदद नहीं कर सकती है, न ही मोरेटी का दावा है कि ऐसा होगा। द्वितीयक अध्ययन और कृत्रिम मोनोग्राफ़ पर पूरी तरह से भरोसा करते हुए जिस तरह के 'दूरस्थ पाठ' का वे प्रस्ताव करते हैं, उससे कभी भी 'स्पष्ट सॉर्टिंग डिवाइस' नहीं मिलेगा। वास्तव में कोई स्पष्ट सॉर्टिंग डिवाइस है भी नहीं। 'वैश्विक साहित्य' अगर कुछ है, तो वह अपार तरलता का सागर है। मोरेटी के यहां पेड़ों और लहरों का रूपक आंदोलन को देखने का एक ऐसा तरीक़ा है, जिसमें उनकी 'समाजशास्त्रीय औपचारिकता' के लिए कम जगह है।

जोनाथन अराक ने 'एंग्लो-वैश्वीकरण' को लेकर मोरेटी के ख़िलाफ़ जो आरोप लगाया है, उसका क्या? मुझे लगता है, यह आरोप सही नहीं है; यह मोरेटी की ग़लती नहीं है, बल्कि उस साम्राज्यवादी इतिहास का परिणाम है जिसके कारण विश्व साहित्य के शिक्षण योग्य संग्रह का एक बड़ा हिस्सा अंग्रेज़ी में इकट्ठा किया गया है। मौनीफ़ या रिट्जोस को बिल्कुल न पढ़ने की तुलना में उन्हें अंग्रेज़ी में पढ़ना बेहतर है। असल में आरोप का निशाना कहीं और है। तुलनात्मक साहित्य में, जिसकी जड़ें भाषाशास्त्रीय आलोचना में हैं, संबंधित भाषाओं में महारत हासिल करने का गुण ज़रूरी था, और भाषा सीखने की आवश्यकता के पैमाने को पूरा किया जा सकता था क्योंकि इसका दायरा

आमतौर पर यूरोप तक ही सीमित था। एक बार जब आप दुनिया का दायरा बढ़ाते हैं, तो इसमें शामिल भाषाओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है। एक बहुभाषाविद और यूरोपीय विद्वान के रूप में, अमेरिका में काम कर रहे मोरेटी, इस समस्या को बहुत जल्दी ख़ारिज कर देते हैं और मुख्यतः अंग्रेज़ी में शोध मोनोग्राफ़ पढ़ने के रूप में एक बहुत अपर्याप्त -सा समाधान ढूंढ़ते हैं । मैं स्वयं साहित्यिक अनुवाद को लेकर बहुत उत्साहित रहता हूं और मेरा मानना है कि साहित्यिक पेशेवर कभी-कभी मूल पाठ को पढ़ने में क्षमता से बहुत अधिक दिमाग़ लगा देते हैं। मैं यह भी मानता हूं कि अनुवाद आपको रास्ते के केवल एक हिस्से तक ले जा सकता है। हमारे समय के कुछ महानतम उपन्यासकारों, जैसे मौनीफ़ या प्रमोएद्या के भी सभी कार्यों का अनुवाद नहीं किया गया है। वैसे भी ग़ैर-यूरोपीय भाषाओं की कविताओं का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद करना बहुत कठिन है। साहित्य एक भाषिक कार्य है, और रिज़ल में जिस तरह के भाषाई रजिस्टर हैं, उदाहरण के लिए, जिसे बेनेडिक्ट एंडरसन पहचानते हैं, उन्हें अंग्रेज़ी अनुवाद में समझना असंभव होगा यदि आप फ़िलिपिनो साहित्य में स्पेनिश और तागालोग और लिकानो के आपसी रिश्ते को नहीं जानते हैं। ऐसे में बेन एंडरसन मुझे उस तरह के विद्वान के रूप में दिखते हैं जिसकी 'विश्व साहित्य' के शिक्षण के लिए आवश्यकता है क्योंकि उनमें सामाजिक और ऐतिहासिक विज्ञान संबंधी गहन शोधदृष्टि, दक्षिणपूर्व एशिया के उपनिवेशीकरण से जुड़ी प्रमुख यूरोपीय भाषाओं का ज्ञान, दक्षिण पूर्व एशिया की कई भाषाओं में असाधारण दक्षता, साहित्यिक बारीक़ियों की शानदार समझ और एक पेशेवर जासूस का स्वभाव जैसे विलक्षण गुण हैं। मैं यहां अतिमूल्यांकित, *इमैजिन्ड कम्युनिटीज़* की बात न करके उनके अन्य लेखन की एक पूरी शृंखला का उल्लेख करना चाहूंगा, जिसमें विशेष रूप से उनकी सबसे हालिया पुस्तक, *अंडर थ्री फ्लैग्ज़* तथा इंडोनेशिया और थाईलैंड के साहित्य पर केंद्रित उनकी रचनाओं को शामिल किया जा सकता है।

अब मैं इस बहस को मोड़ते हुए आपके समक्ष एक प्रस्ताव रखता हूं, वह यह कि जब हम 'विश्व साहित्य' की बात करते हैं तो हम यहां संरचनात्मक रूप से भिन्न दो क्षेत्रों के बारे में बात कर रहे होते हैं जो निकट हैं, जिनके कच्चे माल अक्सर एक समान हो सकते हैं, लेकिन जो अपनी विशिष्ट पहचान बनाये रखते हैं। एक अकादमिक साहित्यिक क्षेत्र है जहां 'विश्व साहित्य' एक शैक्षणिक वस्तु के रूप में मौजूद है। यह क्षेत्र व्यवस्थितता, छंटाई उपकरण, पाठ्यक्रम मॉड्यूल, शिक्षण विधि, गहन पाठ और 'दूरस्थ पाठ' को पसंद करता है। यह सिद्धांत को पढ़ाता है, सिद्धांतों की यूरोपकेंद्रिकता को लेकर असहज महसूस करता है, सिद्धांत के विस्तार की इच्छा से उत्साहित महसूस करता है, आश्चर्य करता है कि इसका कैसे और किस हद तक विस्तार करें। यह इस चिंता से घिरा रहता है कि विश्व साहित्य के शिक्षण से उन सामग्रियों का बहुत विस्तार होगा जिन्हें पढ़ाया जाना है, लेकिन यह भी चाहता है कि पढ़ाई के घंटे और छात्र संपर्क के घंटे न बढ़ें। अनूदित साहित्य पर संदेह रहता है क्योंकि अनुवाद मूल भाषाई रूप को छोड़ देते हैं, पढ़ने की प्रक्रिया को सपाट करते हैं, भाषाई विश्लेषण को छोड़कर कथा तत्व के विश्लेषण पर ध्यान केंद्रित करते हैं। दार्शनिक अवधारणाएं भी सभी भाषाओं में सही तरह से व्याख्यायित नहीं हो पातीं, इसलिए साहित्यिक पाठ को मूल में पढ़ा जाना चाहिए। यह एक शिक्षण विधि का क्षेत्र है, जिसका उद्देश्य साहित्य शिक्षण है। मेरा मतलब इस विशेष साहित्यिक क्षेत्र के मूल्य को कम आंकना नहीं है। बहुत ख़ुशी और उद्देश्य की भावना के साथ मैं स्वयं इसमें हिस्सा लेता हूं। लेकिन मुझे लगता है कि 'विश्व साहित्य' के अस्तित्व के दो अलग-अलग रूप हैं, और हमेशा रहे हैं: एक व्यवस्थितता के शैक्षणिक क्षेत्र में, और दूसरा अधिक अव्यवस्थित, अराजक, विवादास्पद, उत्पादक क्षेत्र में। यहां लेखक और ग़ैर-अकादमिक साहित्य प्रेमी आनंद और पुनराविष्कार के लिए साहित्य में डुबकी लगाते हैं। मार्क्स ने इन्हें 'स्पीसीज़ बीइंग' कहा है। ये लोग उस युग की नैतिक अर्थव्यवस्था में भाग लेने के लिए, अन्य लेखकों से अपने काम के लिए जीविका प्राप्त करने के लिए, अन्य लोगों के लेखन से चकित होकर अपने कल्पनाशील जीवन में बदलाव लाने और शायद केवल काल्पनिकता से भी अधिक, संबद्धता के लिए, जो कभी-कभी राजनीतिक संबद्धताएं भी होती हैं, और जो पहले उद्धृत मार्क्स के वाक्यांश 'सेपरेट इंडिविज़ुअल्स ने पूरी दुनिया के भौतिक और बौद्धिक उत्पादन को व्यावहारिक संबंध के धरातल पर लाया।' के बहुत क़रीब है, साहित्य से जुड़ते हैं।

यह वह दुनिया है जिसमें शेली 'हम जो जानते हैं उसकी कल्पना करने की क्षमता' के बारे में बात कर

सकते हैं। और उस अद्भुत और आश्चर्यजनक अस्पष्ट वाक्यांश में जो मुझे सुनायी देता है वह यह है कि तथ्यों की अपनी वास्तविकता है, जिसे आप उदाहरण के लिए सामाजिक विज्ञान से जान सकते हैं, लेकिन एक दूसरा तरीक़ा भी है - वस्तुओं के साथ लगभग एक आध्यात्मिक संबंध का, जहां आप अपने तथ्यात्मक ज्ञान को अपने संपूर्ण कल्पनाशील संकाय के अधीन कर देते हैं, जो सर्वोत्तम अर्थों में साहित्य का क्षेत्र है। जो आप नहीं जानते, उसकी कल्पना करने की कोशिश करना भी उसकी क्षमता का एक महत्वपूर्ण अभ्यास है, लेकिन यहां भावुकता का ख़तरा है क्योंकि इसमें भौतिक संदर्भ बिंदु का अभाव है। जिसे आप जानते हैं, उसकी कल्पना करने के लिए एक अलग तरह की कठोरता और अपने आप से और अधिक मांग की आवश्यकता होती है। और यदि किसी को अपने स्वयं के ज्ञान को एक अच्छी काव्य कल्पना की कठोरता के साथ समझना है, तो वह स्वयं के बाहर की दुनिया के लिए अधिक सहानुभूतिपूर्ण अनुभव प्राप्त कर सकता है।

मैंने शेली को एक महान, गहन राजनीतिक, ब्रिटिश रोमांटिक कवि के रूप में जाना है। उत्सुकतावश मुझे इंडोनेशिया के महान यथार्थवादी उपन्यासकार, प्रमोएद्या तोर की एक छोटी-सी टिप्पणी याद आ रही है। प्रमोएद्या वही व्यक्ति हैं जो 1965 के नरसंहारों में बच गये थे, जो सुहार्तो की जेलों के अंदर और बाहर आते-जाते रहे, लेकिन मौक़ा मिलने पर भी कभी सुरक्षित निर्वासन के प्रलोभनों के आगे नहीं झुके। यहां जो मैं याद कर रहा हूं वह उनके उपन्यास का कथन है, 'सभ्यता और संस्कृति का पुनर्विन्यास और मूल्यांकन ऐतिहासिक वास्तविकता में शामिल नहीं है।' यह एक ऐसे व्यक्ति का एक उल्लेखनीय बयान है जिसने न केवल हठधर्मी यथार्थवादी उपन्यास लिखे, जिनमें आप शायद वे सभी गुण पा सकते हैं जिन्हें लुकाच ने यूरोपीय ऐतिहासिक उपन्यास के लिए ज़रूरी बताया है। हालांकि, मुझे पूरा यक़ीन है कि उन्होंने लुकाच को कभी नहीं पढ़ा होगा। वे विनम्रता से कहते थे, 'मैं ज़्यादा शिक्षित व्यक्ति नहीं हूं।' इससे उनका मतलब यह था कि उन्हें इंडोनेशिया के बाहर के बारे में गहरा ज्ञान नहीं था। मैं यह जोड़ सकता हूं कि प्रमोएद्या ने अपने समय का एक अच्छा हिस्सा इंडोनेशियाई अतीत के विभिन्न कालखंडों और समस्याओं के इतिहास को लिखने में बिताया। वे एक साथ इतिहास के लेखक, ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखक, एक महान उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवादी थे जो स्वतंत्रता के बाद के इंडोनेशिया और विशेष रूप से 1965 के रक्तपात के बाद पैदा हुए राज्य के साथ ख़ुद को कभी नहीं जोड़ सके। वामपंथी समाजवादी यथार्थवाद के विचार के साथ वे पूरी तरह से सहज थे। संस्कृति के 'मूल्यांकन' के रूप में साहित्य की इस अवधारणा से उनका क्या मतलब हो सकता है 'जो कि ऐतिहासिक वास्तविकता में सटीक रूप से नहीं दिया गया है'? मैं कल्पना करता हूं कि उनका मंतव्य वही था जो शेली का था, भले ही मैं कभी भी सुनिश्चित नहीं हो सकता कि उनमें से किसी का क्या मतलब है। जो हम पहले से जानते हैं, उसकी कल्पना करने की क्षमता का आह्वान शेली ने किया था। प्रमोएद्या अन्यत्र महसूस करते हैं कि 'मनुष्य भी अक्सर केवल एक हाथ के साथ ताली बजाते हैं।' साहित्य उस मनुष्य के लिए, कल्पना का प्रयास है, मूल्यांकन का कार्य है ताकि उस एक हाथ की ताली की गूंजती चुप्पी को तोड़ा जा सके।

और, जबकि हम अभी भी प्रमोएद्या के विषय पर बात कर रहे हैं, मैं यह जोड़ सकता हूं कि सुहार्तो की तानाशाही के तहत वे लगभग तीस वर्षों तक प्रताड़ित किये गये। उनके पुस्तकालय को जला दिया गया, उनकी पुस्तकों पर प्रतिबंध लगा दिया गया, उनके बोलने पर सार्वजनिक प्रतिबंधित लगा दिया गया, उन्हें अलग-अलग अवधि के लिए जेल में रखा गया और फिर जब भी वे जेल से बाहर आते, उन्हें हर सप्ताह पुलिस स्टेशन में रिपोर्ट करने के लिए मजबूर किया जाता। लेकिन उन्होंने उसके शासन काल के बारे में कभी कोई उपन्यास या संस्मरण या कुछ भी नहीं लिखा। उन्होंने उस दौर को एक शुद्ध नकारात्मकता के साथ, एक 'शून्य' के रूप में वर्णित किया, और कहा, इसके बारे में वे ऐसा कुछ भी नहीं लिख सकते थे, जो उनके शब्दों में, 'उनके पाठकों को स्थापित व्यवस्था से आगे ले जाये।' अन्यत्र वे 'एक साहित्य' जो समाज में व्यक्ति के लिए साहस, नये मूल्य, एक नया विश्व दृष्टिकोण, मानवीय गरिमा और एजेंसी प्रदान कर सकता है' की बात करते हैं। इस समय के उत्तर-औपनिवेशिक, उत्तर-आधुनिक स्वभाव के अनुकूल कोई लेखक नहीं था, क्योंकि यदि वास्तव में महान कथाओं की मृत्यु हो जाती, तो इससे उन्हें कोई ख़ुशी नहीं मिलती। हालांकि, प्रमोएद्या यहां जो कहते हैं, उसे 1799 में घटित अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावाद के इतिहास के एक और क्षण के साथ 'विश्व साहित्य' के उस बड़े प्रांगण से जोड़ा जा सकता है जब कोलरिज ने वर्ड्सवर्थ को

लिखा था: 'काश, आप उन लोगों को संबोधित करते हुए एक कविता लिखते... जिन्होंने फ्रांसीसी क्रांति की पूर्ण विफलता के परिणामस्वरूप, मानव जाति के सुधार की तमाम उम्मीदें छोड़ दी हैं, तथा घरेलू लगाव और दूरदर्शी दार्शनिकों की अवमानना की आड़ में भेष बदलकर स्वार्थ के समंदर में डूब रहे हैं।'

मैं यहां आंशिक रूप से, प्रमोएद्या की चर्चा पिछले साल हुई उनकी मृत्यु पर शोक व्यक्त करने के लिए कर रहा हूं, लेकिन शेली और कोलरिज के संबंध में भी उनके बारे में बात करूंगा, क्योंकि कैनन को संशोधित करने के कई आधुनिक तरीक़े एक तरह के उपस्थितिवाद और ऐतिहासिक गहराई के मुद्दों के प्रति लापरवाह रवैये से घिरे हैं। हमें अतीत के साहित्य को पढ़ने पर ज़ोर देना चाहिए क्योंकि वे हमें न केवल उस अतीत के बारे में बताते हैं, बल्कि उस अतीत द्वारा गठित प्राणी के रूप में हमारे अपने बारे में बताते हैं। लेकिन अगर इसे इस तरह से कहें तो वह पिछली पीढ़ियों का साहित्य है जिसमें हम अपने वर्तमान की अनुगूंज सुनते हैं; और विस्तार का मतलब उस चीज़ का साधारण ह्रास नहीं होना चाहिए जो अन्य स्थानों और अन्य समयों में केंद्रीय रहा है।

अगर प्रमोएद्या ने कोलरिज के उस अंश को पढ़ा होता जिसे मैंने अभी-अभी आपको उद्धृत किया है, तो वे उसे परिचय और आत्मीयता के साथ मान्यता देते क्योंकि फ्रांसीसी क्रांति की विफलता पर कोलरिज का जो संकट था और जो लोग धूमधाम से थे उन लोगों पर कोलरिज का जो क्रोध था, जिसे उन्होंने 'दूरदर्शी दार्शनिकों के लिए अवमानना' कहा है, वह कुछ ऐसा होगा जो प्रमोएद्या को स्पष्ट रूप से पता था, क्योंकि उन्होंने समाजवादी क्रांतियों के साथ-साथ महान उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवादी परियोजनाओं की विफलता और उन विफलताओं के बढ़ते परिणामों को देखा था जो न केवल विश्व स्तर पर कमोबेश राजनीतिक क्षेत्र की तानाशाही और आम तौर पर दक्षिणपंथी शासन तक सीमित था बल्कि मुक्ति के मेटानेरेटिव्ज़ के अंत, इतिहास का अंत, सभ्यताओं का संघर्ष, और इसी तरह की हानिकारक विचारधाराओं को भी समेटे था।

मैं, इस बिंदु पर एक दूसरे को प्रतिध्वनित करने वाले अतीत और वर्तमान के साहित्य के बारे में कुछ बात करना चाहता हूं। यहां यूरोप और ग़ैर-यूरोप के बीच विभिन्न प्रकार के संबंधों की बात करना अभिप्रेत नहीं है पर तुर्की भाषा में प्रकाशित ओरहान पामुक के हालिया उपन्यास**कार** के संदर्भ में कुछ बात करूंगा जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद, *स्नो* नाम से छपा है। उपन्यास का मुख्य नायक एक तुर्की व्यक्ति है जो हाल ही में जर्मनी से लौटा है। उसने इस्तांबुल से काफ़ी दूर स्थित एर्ज़ुरम और फिर कार्स तक की यात्रा की है, जो लगभग उतना ही दूर है जितना आप देश को पूरी तरह से छोड़े बिना पूर्व की ओर जाते हैं। लेकिन यह काल्पनिक यात्री दूर-दराज के क्षेत्रों की उन जातीय परेशानियों का सामना करने के लिए पूरी तरह से तैयार नहीं है - जो आधुनिकता और परंपरा, तर्क और धर्म के बीच चल रही हैं। मैं पूरी किताब पर नहीं बल्कि उन चार उद्धरणों पर आपका ध्यान चाहता हूं जो पहले पृष्ठ पर, अध्यायों की सूची से भी पहले दिये गये हैं।

पहला उद्धरण रॉबर्ट ब्राउनिंग की कविता *बिशप ब्लोग्राम्स एपॉलोजी* से है,:

'चीज़ों के ख़तरनाक किनारे पर हमारा हित है,
ईमानदार चोर, कोमल हत्यारा,
अंधविश्वासी नास्तिक।'

अब, यह निश्चित रूप से बहुत अच्छा होगा यदि पाठक उपन्यास पढ़ने के बाद ब्राउनिंग की कविताओं की तलाश में निकल जायें, लेकिन मुझे नहीं लगता कि पामुक का यह उद्देश्य है। मुझे लगता है, वह पाठकों को साहित्यिक इतिहास की ओर वापस धकेलने की बजाय उस 'ख़तरनाक किनारे' की ओर आगे ले जाना चाहता है जो हमारे अपने वर्तमान को एक ऐसे अतीत से जोड़ता है जो केवल एक साहित्यिक अतीत नहीं है। पामुक के उपन्यास में अर्मेनियाई नरसंहार और 'कोमल हत्यारों' द्वारा कुर्दों की दशकों लंबी घेराबंदी का वर्णन है। ये हत्यारे राष्ट्रीय एकता के नाम पर हत्या करते हैं। और तुर्की से परे, हमारे बीच में जो 'ईमानदार चोर' हैं; जो हज़ारों किसानों को आत्महत्या की ओर धकेलते हैं। यह याद रखना चाहिए कि अगर 'ईमानदार चोरों' ने उनके जीवन के अलावा सब कुछ नहीं लिया होता, तो वे ख़ुद को नहीं मारते। एक नास्तिक होने के नाते, सबसे अधिक 'अंधविश्वासी नास्तिक' वाले मुहावरे ने मेरा ध्यान खींचा था क्योंकि यह हमें सोचने पर मजबूर करता है कि वास्तव में किसी भी विश्वास की वैध सीमाएं क्या हैं, किसी भी विश्वास

को संवेदनशीलता और दायित्वों से भरी जटिल और मानवीय भावनाओं से अलग करने से किस प्रकार एक और ख़ाली अंधविश्वास बनने का जोख़िम रहता है, जो जानलेवा भी हो सकता है। राष्ट्र के नाम पर या आधुनिकता के नाम पर कोई उतनी ही आसानी से किसी को मार सकता है, जितनी आसानी से कोई दूसरा धर्म के नाम पर मार सकता है। मैं इस मामले पर जल्द लौटूंगा।

अब मैं आपको अगला उद्धरण देता हूं, जो स्टेंडहल की प्रसिद्ध रचना, *द चार्टरहाउस ऑफ़ पर्मा* से है : 'एक साहित्यिक कृति में राजनीति की उपस्थिति एक संगीत कार्यक्रम के बीच में एक पिस्टल-शॉट की तरह होती है। यह एक कच्चा मामला है, हालांकि इसे अनदेखा करना असंभव है। हम बहुत ही भद्दे मामलों की बात करने वाले हैं।'

बेशक, पामुक इन उद्धरणों में घोषणा कर रहे हैं कि उनका अपना उपन्यास किस बारे में है, लेकिन साहित्य क्या है, और यह क्या करता है, इसके बारे में भी इनमें सामान्य तर्क दिये गये हैं। अन्य परंपराओं और धारणाओं के विपरीत, साहित्य और साहित्यिकता की अवधारणाओं के भीतर एक निश्चित परंपरा के साथ अपनी संबद्धता की घोषणा वे नहीं करते। जैसा कि उच्च कोटि की कथा के लिए वैध विषय के रूप में हम ब्राउनिंग के 'चीज़ों के ख़तरनाक किनारे' जैसे सामान्य भाव से 'राजनीति' और 'भद्दे मामलों' के वास्तविक नामकरण की ओर बढ़ते हैं, हमें यह याद रखना चाहिए कि स्टेंडहल इसे 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लिख रहे हैं। ऐसा वे साहित्य की अत्यधिक सौंदर्यवादी अवधारणा के दौर में लिख रहे थे क्योंकि साहित्य, जैसा कि मैथ्यू अर्नोल्ड एक पीढ़ी बाद में कहेंगे, *अराजकता के सामने संस्कृति का एक क्षेत्र* है। हेर्डर जैसे लोगों ने निश्चित रूप से राजनीति को एक निश्चित स्थान दिया जब उन्होंने यूरोप के छोटे भाषाई समुदायों, जिन्हें जल्द ही राष्ट्रों के रूप में नामित किया गया- से कविताओं को एकत्र किया तथा सामाजिक और राजनीतिक पीड़ा के अनुभव के साथ उनके काव्य कथनों की पहचान की। साहित्य के प्रभुत्ववादी दृष्टिकोण में, किसी भी मामले में, साहित्य में राजनीति की मज़बूत घुसपैठ वास्तव में उदात्त और सुंदर के दायरे में 'बदसूरत मामलों' की घुसपैठ थी।

उस विचार को निश्चित रूप से बार-बार चुनौती दी गयी है, जैसा कि बाल्ज़ाक या ब्लेक या शेली के किसी भी पाठ से पता चलता है। हालांकि, एक बार जब राजनीति को साहित्य से पूरी तरह बाहर रखने की लड़ाई में हार हो गयी, तब से अनुमेयता की सीमा तय करना एक बड़ी समस्या रही है। अनुमति की उन सीमाओं को अब कुछ और आसानी से पार किया जा सकता है जब उन मामलों में पारंपरिक नैतिकता के उल्लंघन की बात आती है, जिन्हें निजी के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, जैसे कि सेक्स, लेकिन बुनियादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के संबंध में किसी भी मौलिक रूप से विरोधी रुख़ - जैसे कि किसी कथा की कृति में अभिषेक समारोहों के लिए साम्यवादी रुख़ – कहीं अधिक घातक होगा। पामुक के मामले में, निश्चित रूप से, राष्ट्र के पेट के भीतर राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ हिंसा का पूरा इतिहास निषिद्ध है। इस तरह के 'भद्दे मामले' निश्चित रूप से तीनों महाद्वीपों में आधुनिक साहित्यिक कल्पना के निर्माण के केंद्र में रहे हैं।

न तो समाजवादी और न ही उपनिवेशवादविरोधी कल्पना ने, जिन्होंने हमारे पीछे की सदी के इतने विपुल साहित्यिक उत्पादन को एक साथ जोड़ा है, कभी यह माना कि साहित्यिक पाठ के भीतर साहित्यिक मूल्य और राजनीतिक प्रतिबद्धता के बीच कोई विरोधाभास था। 20वीं सदी के उत्तरार्ध के उर्दू भाषा के महान कवि फैज़ ने हमेशा ख़ुद को हाफ़िज़, ख़्वाज़ा फ़रीद और ग़ालिब की महान परंपराओं के उत्तराधिकारी के रूप में माना, अपनी कविताओं के मूल सिद्धांतों को उनसे लिया, और अपने साम्यवादी विश्वासों के साथ सहजता से उन कविताओं को जोड़ दिया। अपने उन दृढ़ विश्वासों के लिए वे अक्सर जेल जाते थे, लेकिन हमेशा पाठकों के एक विशाल समूह के दिल पर राज करते थे। उनमें से अधिकांश स्वयं कम्युनिस्ट नहीं थे, लेकिन जो उन्हें एक कवि के रूप में प्यार करते थे। 20वीं शताब्दी की पश्चिमी यूरोपीय-अमरीकी दुनिया की स्थितियों में किसी कवि को ऐसा प्यार नहीं मिला या मिल भी नहीं सकता था। उनकी कविता और उनकी राजनीति के बीच कोई विरोधाभास नहीं था। जिन लोगों ने नाज़िम हिकमत को मूल भाषा में पढ़ा है, वे उनके काम में भाषाई दायरा, जटिलता, साहित्यिक मूल्य और राजनीतिक जुनून को लेकर समान और सहज जुड़ाव महसूस करते हैं। मेरे विचार से, हमारे तीनों महाद्वीपों के संदर्भ में नेरुदा की पीढ़ी के सभी प्रख्यात लेखकों के बारे में भी यही सच था।

जब नोआम चॉम्स्की पहली बार भारत आये, तो *फ्रंटलाइन* पत्रिका ने उनकी यात्रा के अंत में उनके साथ एक साक्षात्कार आयोजित किया जिसमें उन्होंने कहा कि भारत में अभी भी एक प्रकार का नागरिक समाज है जो संयुक्त राज्य अमेरिका से कम से कम द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से ग़ायब हो गया था। मुझे लगता है, हमारे महाद्वीपों के कई अन्य देशों के बारे में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। एक जीवंत नागरिक समाज की यह निशानी है कि वहां एक एक बड़ी साहित्यिक संस्कृति की उपस्थिति होती है जो लोक प्रतिबद्धता और साहित्यिक मूल्य के बीच के संबंध को मानती है। जैसे-जैसे 'विश्व साहित्य' ग़ैर-पश्चिमी साहित्य को समान स्तर पर शामिल करने के लिए अपने सिद्धांत का विस्तार करता है, उसे अपने साहित्य में सामने वाले राजनीतिक तत्व से जुड़े उन बहुत अलग और अति राजनीतिक रूप से पढ़े जाने वाले जनता के मुद्दों को भी उठाना होगा, जिनकी यूरोपीय-अमेरिकी प्रभुत्ववादी साहित्यिक संस्कृतियों में अब तक अनुमति नहीं थी।

अब, पामुक के चयन से अगले दो उद्धरणों को सुनें, द *ब्रदर्स करमात्ज़ोव* में *दोस्तोवस्कीज नोटबु***क्स** से यह उद्धरण है : 'ठीक है, फिर, लोगों को ख़त्म करें, उन्हें कम करें, उन्हें चुप रहने के लिए मजबूर करें। क्योंकि यूरोपीय ज्ञानोदय लोगों से ज़्यादा महत्वपूर्ण है।' और आख़िरी, संक्षिप्त उद्धरण, कॉनरैड के *अंडर वेस्टर्न आईज़* से:

'मेरे अंदर का पश्चिमी व्यक्ति विलीन हो गया था।'

इस तरह 'पश्चिमी' नहीं, बल्कि 'मेरे अंदर का पश्चिमी'। किस में? ख़ुद पामुक में? सामान्य रूप से तुर्की में? 'यूरोप का बीमार आदमी', जिसकी बीमारी के इलाज के लिए केमलिज़्म ने उसे एशिया और यूरोप के बीच, पिछड़ेपन और आधुनिकता के बीच राह चुनने के लिए मजबूर किया था। जहां की सेना ही धर्मनिरपेक्षता की मुख्य संरक्षक थी, फिर भी, तुर्की कुछ ऐसा नहीं कर सका जिसे पर्याप्त अच्छा कहा जाये। यह बहुत ज़्यादा मुस्लिम था। बहु-जातीय उस्मानली साम्राज्य की जटिल मिलेट प्रणाली से उभरने के बाद, केमलिस्ट तुर्की ने उच्च यूरोपीय फ़ैशन के प्रभाव में एकात्मक, एकभाषी, एक सांस्कृतिक राष्ट्र-राज्य बनने की मांग की। यूरोप अपने अल्पसंख्यकों के साथ जैसा व्यवहार करता है, उसी राह पर चलते हुए तुर्की ने दिखाया कि क्यों वहां उतने ही अर्मेनियाई बचे हैं, जितने आज के जर्मनी में यहूदी हैं। लेकिन, फिर, यूरोप पलट गया और, तुर्की को यूरोपीय संघ से बाहर रखने के लिए, उसके मानवाधिकार रिकॉर्ड के बारे में पूछताछ करना शुरू कर दिया गया। पश्चिम की नज़र में, तुर्की ने अपनी न्यायपालिका को यूरोपीय न्यायिक प्रक्रियाओं के अनुसार फिर से प्रशिक्षित करना सीखा। और जब पामुक ने ख़ुद अर्मेनियाई नरसंहार के बारे में अपना उपन्यास प्रकाशित किया, तो पश्चिमी आंखों के नीचे उनका ट्रायल आयोजित किया गया था। उन्हें मुक्त कर दिया गया क्योंकि तुर्की को यूरोप के लिए अपनी आधुनिकता साबित करनी थी। भला हो यूरोप का कि आज वे आज़ाद हैं। लेकिन इस्लाम को यूरोपीय - अमेरिकी दुनिया द्वारा सभ्यता के दुश्मन के रूप में नामित किया गया है, ताकि तुर्की राज्य, उन्हीं पश्चिमी आंखों के तहत, अपने इस्लाम विरोध को अपनी इच्छानुसार हिंसक रूप से दबाने के लिए पूरी तरह से स्वतंत्र रहे। इस्तांबुल के महानगरीय बुद्धिजीवी पामुक को कुछ यूरोपीय मूल्यों के नाम पर सहेजा गया है, लेकिन यूरोप के नाम पर और उसी धर्मनिरपेक्षता के नाम पर दूसरों की हत्या का भी उन्हें गवाह बनना चाहिए। आख़िर वे और यूरोपीय संस्कृति दोनों धर्मनिरपेक्षता के पक्षधर हैं। उपन्यास, आंशिक रूप से उस यूरोपीय स्व के आंतरिक अपघटन की कथा है, क्योंकि मुख्य नायक राष्ट्र के आंतरिक भाग में गहराई तक जाता है और 'अंधविश्वासी नास्तिक' अपने इस्लामी समकक्ष से मिलता है। क्या तब यह एक स्व-समान यूरोप है? या यह अंतर्विरोधों, विपरीत दबावों और अलग-अलग इतिहासों का एक गट्ठर है? और शायद यूरोपीय साहित्य के अंदर ही एक आलोचनात्मक परंपरा भी है जिसे कोई भी भी पहचान सकता है।

मुझे लगता है कि पामुक अपनी पसंद के उद्धरणों में यही कर रहे हैं: एक लेखक के रूप में अपने स्वयं के पंथ और प्रतिबद्धता को स्पष्ट करना, साहित्य क्या है या क्या होना चाहिए, और यूरोपीय साहित्य के भीतर ही भावना की एक निश्चित संरचना के साथ संबद्धता पर ज़ोर देना।

मैंने प्रमोएद्या और पामुक के लेखन पर ध्यान दिया है, जो न केवल बहुत अलग देश और समय के लेखक हैं बल्कि स्पष्ट रूप से उनकी राजनीतिक मान्यताएं भी बिल्कुल भिन्न हैं। कुछ समय के लिए यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि हमारे समय की कुछ महानतम रचनाएं न केवल पश्चिम के बाहर से आयी हैं, बल्कि उन भाषाओं में भी हैं

जो यूरोप से बाहर नहीं निकली हैं, या वे यूरोप की ग़ैर-प्रभुत्वशाली भाषाओं से आती हैं, जैसे कि ग्रीक या पोलिश।

अब जो शायद सबसे चुनौतीपूर्ण हिस्सा है, वह है यह सवाल कि हमारे समय का 'विश्व साहित्य' किसे कहा जाये, चाहे उत्तर अमेरिकी साहित्यिक संस्कृति इस वास्तविकता को पर्याप्त रूप से पहचानती है या नहीं। साहित्य के निर्माता वह सब बड़े उत्साह के साथ पढ़ते हैं जो भी उन्हें अनुवाद के रूप में मिलता है। दुनिया भर के साहित्यप्रेमी उन अनूदित उपन्यासों और कविताओं को चट कर जाते हैं। एक भाषाई परंपरा के महत्वपूर्ण लेखक अन्य भाषाई परंपराओं से अनुवाद करते हैं क्योंकि अच्छे अनुवाद को उच्च सम्मान मिलता है। और अन्य लेखक, जो अपनी मातृभाषा में प्रसिद्ध नहीं हैं, वे भी विश्व-प्रसिद्ध लेखकों के तो नहीं, लेकिन अन्य, ग़ैर-प्रभुत्वशाली भाषाओं से महान लेखकों का अनुवाद करते हैं, ताकि शिक्षण नियमावली के बाहर 'विश्व साहित्य' का जो व्यावहारिक, बोझिल क्षेत्र मौजूद है, उसका विस्तार जारी रहे। आप सामाजिक और ऐतिहासिक विज्ञान के पाठ्यक्रमों से सऊदी अरब और खाड़ी के राज्यों के बारे में सभी प्रकार के तथ्यों को जान सकते हैं, लेकिन इसकी कल्पना करने के लिए, आपको मौनीफ़ को पढ़ना होगा, चाहे जिस भी भाषा में आपको उनका साहित्य मिल जाये। निश्चय ही हमें एक ऐसे पाठ्यक्रम को पढ़ाये जाने की प्रतीक्षा है, जिसमें हमारे समय के महान उपन्यासकारों पर, जिन्होंने हमारे समय के सबसे प्रतिनिधि उपन्यास लिखे हैं। प्रत्येक लेखक के तीन, चार, या पांच खंड हो सकते हैं। इन लेखकों में – ऑस्टुरियस, मौनीफ़, प्रमोएद्या और महफ़ूज़ - सभी को उनकी रचनाओं के अनुवाद के रूप में पढ़ाया जा सकता है। और, मेरी मानें तो, यह उतना आसान नहीं है जितना लगता है।

सभी साहित्य के शिक्षण की तरह, विश्व साहित्य के शिक्षण के लिए भी निश्चित रूप से यह ज़रूरी है कि वह इन सवालों का समाधान ढूंढ़े कि कैसे और क्या- कौन से लेखक और कौन-सी किताबें, किस तरह की शिक्षण विधियां, पाठ्यक्रम और पाठ्यक्रम अनुक्रम कैसे व्यवस्थित किया जाये, और इसी तरह - लेकिन उसे उस कुछ दूसरे, बहुत ही केंद्रीय प्रश्न को भी पूछना है: क्यों? आप साहित्य क्यों पढ़ाते हैं? आप अपने अनुशासन के दायरे को मौलिक रूप से क्यों बदलना चाहते हैं, जहां तक विश्व की सीमाएं अनुमति देंगी, क्या वहां तक इसका विस्तार करें? राजनीति, नैतिकता, मूल्य आदि के बारे में ऐसा क्या है, जो ये लेखक कहना चाह रहे हैं। संक्षेप में, अर्थ का प्रश्न ही मूल प्रश्न है और यह अर्थ कैसे रूप में व्याप्त और निर्धारित होता है।

अनुवाद : नलिन विकास
मो. 9717367329

O

जम्हूरियत, औरत, मेहनतकश, साम्राज्यवाद - इन चार महाज़ों (मोर्चों) पर मार्क्सवाद ने दुनिया भर में जो जद्दोजहद की है उससे मज़दूर जनता को, औरतों को, जम्हूरी तहरीकों को, महकूम मुल्कों के आम वासियों को बड़ी तक़वियत (शक्ति) मिली है, लेकिन सवाल हल नहीं हुए; बल्कि आज, साम्राज्यवादी सरमाये की इस नयी जीत के बाद ही सवाल नयी गंभीरता के साथ हमारे सामने आये हैं। यानी, वो चार सवाल नहीं बदले, जो मार्क्सवाद लेकर चला था, बल्कि उनमें ही ज़्यादा गहराई आयी है, और बहुत से नये सवाल उठे हैं, लिहाजा मार्क्सवाद के अपने सिद्धांत में वक़्त के साथ-साथ नयी गहराई और नये-नये बदलाव आये हैं, कुछ इसलिए कि ज़माना बदलता चला गया है. लेकिन ज़्यादा इसलिए कि जब मार्क्सवाद यूरोप के उस छोटे से कोने से बाहर निकला जहां उसने पहली बार जड़ पकड़ी थी, और पूरी दुनिया में फैला, तो इस नज़रिये को नयी-नयी हक़ीक़तों का सामना करना पड़ा और दुनिया को नयी तरह से समझना पड़ा। जो नज़रिया सनअती सरमायादारी के रद्देअमल में पश्चिमी यूरोप में पैदा हुआ था, पूर्वी एशिया में पहुंचकर किसान जनता के साथ जुड़ा और दुनिया के कोने-कोने में जो साम्राज्यवाद विरोधी, राष्ट्रवादी तहरीकें चल रही थीं, उनमें शामिल होने से ख़ुद मार्क्सवादी सोच में फैलाव आये...

——एजाज़ अहमद, 'आज के ज़माने में मार्क्सवाद का महत्व' से एक अंश

दो नज़्में

एजाज़ अहमद

(एजाज़ अहमद जब दिल्ली पहली बार 1988 में आये थे
तब डा. मुहम्मद हसन उन्हें जलेस कार्यालय, 8 विठ्ठलभाई
पटेल हाउस लाये थे। तभी उन्होंने कुछ अपनी कविताएं और
महमूद दरवेश की नज़्मों के अनुवाद सुनाये थे, जिन्हें हमने
अक्टूबर 1988 के अंक में छापा था। उन्हें हम फिर से
यहां दे रहे हैं –सं.)

1. नौहा

मौत से इंकार करो,
मत जाओ
मौत की उस वादी में,
ठंडक में,
उसमें तो
बाहम[1] मिल बैठने का इम्कान[2] तक नहीं
तुम अगर चली गयीं
यूं
चुपचाप
तो आपस की
ये रंज़िशें भी ख़त्म हो जायेंगी।

2. मिदनाऊ से एक ख़त

पता बहुत ही सादा है, बिलकुल मुख़्तसर,
तालाब पे खिले हुए कंवल तुम देखोगे तो पहचान जाओगे।
गली का आख़िरी मकान हमारा है।
यहां खिड़कियां हर रात तारीकी[3] पर खुलती हैं
कमरों के अंदर बरसाती, नर्म हवा, औरतों के
अंदाज़, औरतों के दर्द पहचानती हैं,
हमारी आदतों, हमारी ज़रूरतों में ढल गयी हैं

बाहर रात गये अकसर एक जीप देर-देर तक खड़ी
अपनी बत्तियां जलाती-बुझाती रहती है
जब्र की हर बेकैफ़[4] सुबह हमने इरादों और
सरगोशियों के सिपुर्द की।
सात सालों में पुलिस हमारे घर के अंदर फ़क़त
दो बार आयी; अब यहां कोई मर्द नहीं रहता।
हमारे गिर्द हुस्न की हर शक्ल सादा है रोज़मर्रा इस्तेमाल के लिए
हम तीनों बहनें इंतज़ार करती रहती हैं अपने दोस्तों
भाइयों का जो चले गये
जो शायद
ज़िंदा हों, जो शायद लौट आयें।
हमारे नज़दीक हर वो अज़ीज़ दोस्त, सहेली साथी
जिया है जिसकी मौत की ख़बर अभी नहीं आयी
और एक तरह से तो वो भी,
जो ज़िंदगी का रस्ता
अपने लहू से रोशन कर चुके,
लेकिन ज़ाहिर है
उनका अब हम इंतज़ार नहीं करते।
मगर वह शुमाली[5] हवा जिसका हमें तुम्हें
इंतज़ार है, जो किसी दिन ज़रूर
आएगी, यहां जब भी पहुंची,
हमारे बांस और मिट्टी के ये दर खुले होंगे।
हुस्न और हज़ार ख़तरात के संगम पर ज़िंदगी
बसर करने का यह फैसला हमने जान-बूझकर किया है
और अब हमारे लिए हर जख़्म हरा है, कोई जख़्म अजनबी नहीं।
तुम्हें पता है ? यहां जगह उनके लिए भी है जो अब
पहाड़ों में जा छिपे हैं, और वो दूसरे जो तशद्दुद[6] के शिकार हैं : ओझल लोग जो
हमारे लहू के हमसफ़र हैं।
तुम बहुत जल्द चले गये: कुछ दिन और रहते तो शायद कहते
कि हमारा ये वजूद - दोस्ती और दिलजूई की यह तलब –
ये हाजत[7]- इस्तक़ामत[8] की एक सूरत है।
यहां तो अब दुख-दर्द भी निजी मिल्कियत नहीं रहे।
या यूं कह लो कि ये उस क़िस्म का घर है जो लोग --
लौटकर आने वाले लोग --आसानी से ढूंढ़ लेते हैं।
लेकिन तुम तो, ज़ाहिर है, अब लौटकर नहीं आओगे

परस्पर, आपस में, 2. संभावना 3. अंधेरा 4. आनंदहीन, 5. उत्तरी, 6. हिंसा 7. आवश्यकता, 8. ठहराव

फ़िलिस्तीनी शायर महमूद दरवेश की एक नज़्म का तर्जुमा

मैं फ़िलिस्तीन का आशिक़

तुम्हारी ग़ज़ाल[1] आंखें
जैसे दर्द की दस्तकें हों
मैं इन्हें तुंद[2] हवाओं से बचाता,
तन की तहों में छिपाता,
रात और बारिश के रस्तों से हटा-हटाकर
घर लाता रहा हूं।
ये ताबीरें
वजूद और आतिश के वस्ल की,
धीमी,
रफ़्तगां से आइंदा तक[3] फैली हुईं
चुनांचे
हम जहां कहीं, जब कभी एक दूसरे के रूबरू हुए
तुम भी याद रखना कि सरहदों पे
ख़ारदार जंगले के इस तरफ़
हम कभी बाहम[4] भी थे –
तुम्हारे लफ़्ज़ों में गीत का सुभाव था,
जो मेरे नग्मों में गुनगुनाया गया,
फिर दर्द आया, और बहार के अंदेशों से ग़ाफ़िल,
सदियों की फीकी दोपहर आयी
तुम्हारे लफ़्ज़ नीली चिड़ियों की तरह उड़ते
मेरी दहलीज़ से दूर होते गये,
ख़िज़ां के सख़्त पतझड़ में जैसे हवा के वरक़ों पर लिखी हुई
परवाज़[5] की तहरीरें
धुंधलाने लगी हों।
तुम गयीं तो हमारे सब शीशे चटख़ गये
और शब-गिरफ़्ता ज़मीन के औसाफ़[6]
शुमार करने के वास्ते
हमने कांच-कांच बिखरे हुए अपने गीत उठाये।
कांच के इन टुकड़ों से गीतों की नयी फ़स्ल उगेगी,
नयी मिज़राबें बहम[7] होंगी।
ये नोकीले खुरदुरे कांच
हम अपनी कहानियों की छत पर,
छत की कड़ियों पे, बोयेंगे—बीज की तरह –
फैलायेंगे
ज़ख़्मों से आलूद[8] चांद तलक

लहू लुहान चट्टानों तलक,
लेकिन कभी-कभी यूं भी हुआ कि कई-कई पहर
सोच भी थक-हार के बैठ गयी है, गोया तुम्हारी आवाज़ मेरे ज़हन से
ज़ीना ज़ीना
उतर गयी हो
फिर मैं तादेर हैरान रहा हूं
कि न जाने मेरी चुप थी, या तुम्हारी रुख़सत,
तुम्हारी रवानगी,
कि नज़्म
बोसीदा वरक़ की तरह
बीच से ही फट के रह गयी है,
जैसे दीवार तले ज़मीन बैठ गयी हो।

मैंने आख़िरी बार तुम्हें बंदरगाह पर देखा –
तनहा, सरासीमा, बेसरो सामान।
और मैं तुम्हारे तईं आया
फ़रासते-अजदाद[9] तुमसे मांगने के वास्ते
कि अज़-बहरे-ख़ुदा[10]
मुझे रास्ता दिखाओ,
कोई सबील[11] बताओ कि ज़ैतून का हरा झुंड
चाहत की खुशबुओं की सदफ़-सदफ़ अमीन[12]
ख़ारदार तारों से घिरा,
शहर-बदर,
बंदरगाहों की ख़ाक में अटा, बहर कैफ़[13]
अपनी हरियाली बरक़रार रख सके—
नमक की बू और ज़ायक़ों के बावजूद।

आज मैंने रोज़नामचे में लिखा है---
मुझे नारंगियां पसंद हैं,
मुझे बंदरगाहों से नफ़रत है,
लेकिन जहां मैं उस रोज़ खड़ा था,
बर्फ़ीली लगातार बारिश में,
हमारे पास फ़क़त नारंगियों के छिलके थे
सपाट सेहरा चहारतरफ़ खूंट-खूंट फैला था
चांदनी के सफ़ेद बिस्तर की तरह।
मैंने तुम्हें कीकर और कांटे की चट्टानों पे देखा है--
नंगे पांव, बरहना सर[14]
तुम खंडरों के बीच दौड़ती गयीं
धूल के बादलों में
पास आते, दूर जाते चेहरे थे।

और एक बार जब
तुम्हारी कोंपले हरी थीं
मैं कि उन दिनों अजनबी था
तादेर तुम्हारी दहलीज़ पर दस्तक देता रहा था,
मुझे लगा था कि मुतवातिर दस्तकों तले
खिड़कियां और दरवाज़े,
सलाखें और पत्थर
धीरे-धीरे लरज़ने लगे हैं।

मैंने तुम्हारा चेहरा तालाबों में देखा--
चांद की मिसाल
साकित।
खलियानों में तुम्हें पाया,
लहू लहू शराबोर।
मैंने रात गये तुम्हें चायखानों में देखा--
एक-एक शख़्स से नज़्र और मुराद की भीख मांगते हुए
मैंने तुम्हें लफ़्ज़ों में देखा,
आंसुओं में तुम्हारी शबीह[15] पहचानी,
तुम मेरे लबों पे हर्फ़ बन गयी हो,
पर कभी हर्फ़े-आख़िर, कभी हर्फ़े-नातमाम[16],
और गिरफ़्त से सदा आज़ाद रही हो,
कभी आतिश, कभी पानी की तेज़ धार।
मैंने ग़ारों के दहानों पर[17]
तुम्हारा इफ़लास[18] ओढ़नियों में टंगा देखा।
मैंने तुम्हें दुकानों में सिमटकर बैठते,
शाहराहों पर रेज़ा-रेज़ा बिखरते,
आग की तपिश में अपना बदन गर्म करते देखा
मैंने तुम्हें देखा है--
सूरज से बहते लहू में,
समंदर के नमक में,
रेग के ज़र्रों में,
अपाहिजों के ज़मींबोस[19] मुक़द्दरों में।

मैंने तुम्हारा हुस्न देखा है-सबीह[20] और मुलायम
जैसे ज़मीन की वास
या बचपन की कड़ी नींद
मैंने क़सम खायी है--
मैं अपनी नज़र के तारों से तुम्हारे वास्ते एक रूमाल बनाऊंगा
फिर एक अलम[21]
आंसुओं का रेशम तुम्हारे नाम से मंसूब[22] रहेगा

बोसों की एक तहरीर कशीद[23] होगी
कि फ़िलिस्तीनी तुम कल भी थी
फ़िलिस्तीनी तुम आज भी हो
सदा रहोगी
रातों के झक्कड़ मेरी मुंडेर पर झुक आये हैं
मैं अपना ज़र्द हिलाल[24] कू-ब-कू[25] धोता फिरा हूं

लफ़्ज़ों के साथ मेरा मुआहिदा[26] है

और सूरज के शबाब के साथ।
तुम कुंआरे खेत की तरह ख़ुशनुमा हो
उजले गेहूं की मिसाल बावफ़ा
तुम्हारे गीतों से क़रया-क़रया[27] हवा की गोद भरेगी

बीज, मिट्टी और पानी के वस्ल में
ज़मीन का सब्ज़ बचपन पलट आयेगा
और तुम
खजूर के पेड़ की तरह सुतवां,
चोटी गुंथी हुई,
तुम हवा और जंगल के दुश्मनों से,
दरिंदों की गिरफ़्त और इश्तहा[28] से
सद-हज़ार बरस तक महफ़ूज़ रहोगी।

लौट आओ,
तुम जहां भी हो और जो कुछ भी बन गयी हो
मेरे बदन और चेहरे की गरमाई
मेरे संगीत और रिज़्क़[29] का नमक

मुझे लौटा दो।
ज़ैतून की कोई शाख़ मुझसे ले लो
मेरे अलमिये[30] की कोई सतर

ख़याल की कोई लड़ी,
बचपन का कोई खिलौना,
मसाइब की[31] इस चहारदीवारी मैं से कोई ईंट--
कि हमारे बच्चे, बच्चों के कोई बच्चे, रस्ते का सुराग़ रक्खें
और लौट आयें
तुम्हारी आंखें फ़िलिस्तीनी हैं
तुम्हारा नाम फ़िलिस्तीनी
तुम्हारे ख़्वाब, ख़याल, तुम्हारा बदन, तुम्हारे पैर

तुम्हारी चुप, तुम्हारे बोल
तुम हयात में भी फ़िलिस्तीनी हो
मौत में भी फ़िलिस्तीनी रहोगी
मैं तुम्हें पुरानी बयाज़ों[32] में लिये फिरता हूं

हर्फ़ के पर्दों में सीना-ब- सीना महबूब सूरत
मेरे तमाम सफ़र बाज़याफ़्ता[33] के सफ़र थे
तुम्हारा मेहरबान, ख़ुशख़साल बदन उम्र-ता-उम्र (ख़ुशख़साल =अच्छी आदतों वाला)
अपने मदार[34] पर मुस्तक़िल रहा।

मेरी वादियों की अमानत तुम्हारे नाम से
हर एक मोड़ पे मैंने हमलावरों को,
ग़ारतगरों को,
टापों तले चिंगारियों की तरह उड़ते पत्थरों को,
ललकारा है कि
ठहर जाओ
जंग के मैदान सदियों बदलते रहे हैं,
मगर मैं तुम्हारी शक्ल और नीयत पहचानता हूं,
मेरे नग़मे सीना-ओ-शाम[35] से क़दीमतर हैं
पलट जाओ
जो पुराने असनाम[36] तुमने तराशे थे

अब झींगुरों का रिज़्क़,
तारीख़[37] का कोड़ा

बन गये हैं।

और बिजली की चमक
मेरे नेज़े की अनी पर आज भी नाचती है।

तर्जुमा : एजाज़ अहमद

---

1 हिरण जैसी, 2 तेज़, 3 जाने वालों से लेकर आने वालों तक, 4 एक साथ, 5 उड़ान, 6 रात की जकड़ में फंसी धरती के गुण, 7 उपलब्ध, 8 लथपथ, 9 बुज़ुर्गों की बुद्धि, 10 ख़ुदा के लिए, 11 उपाय, 12 सीप सीप अमानतदार, 13 हर हाल में, 14 नंगे सिर, 15 शक्ल, 16 अधूरा शब्द, 17 गुफाओं के मुंह पर, 18 ग़रीबी, 19 धराशायी/ज़मीन चाटने वाले, 20 गोरा, 21 झंडा, 22 जुड़ा, 23 खिंचेगी (शराब बनाने की तरह), 24 पीला चांद, 25 गली गली, 26 समझौता, 27 गांव गांव, 28 भूख, 29 जीविका, 30 त्रासदी, 31 मुसीबतों की, 32 नज़्में लिखने की कापियां, 33 फिर से तलाश, 34 केंद्र, 35 दो पहाड़ों व स्थानों के नाम (सिनाई पर्वत और सीरिया), 36 बुत, 37 इतिहास

खंड : दो

दो कविताएं

सुभाष राय

1.

जो सुना अक्क महादेवी से

(श्रीसैलम, तेलंगाना, से 18
किलोमीटर दूर कृष्णा के
शांत तट पर खड़ी पहाड़ियों
में सदियों से आत्मदीप्त
अक्क महादेवी की
गुफाओं की यात्रा से
लौटकर)

निर्वस्त्र हूं, नग्न नहीं हूं मैं
सारे बंधन फेंक आयी हूं बहुत पीछे
कोई छाया नहीं रही मेरे मन पर
कोई कपड़ा नहीं रहा मेरी देह पर
यह देह भी कहां रह गयी मेरी
मल्लिकार्जुन से मुलाक़ात के बाद

तुम्हें दिखती होगी देह
तुम्हें दिखते होंगे सघन दीर्घ केश
गौर काया, मोहक आंखें
तुम्हें दिखता होगा तुम्हारा लालच इस देह में
तुम्हें दिखती होगी तुम्हारी तृष्णा इन स्तनों में
तुम अपनी कल्पनाओं की
मृग मरीचिका में बंधे हुए
रेगिस्तान में जल देखने को स्वतंत्र हो
तुम अभी बर्दाश्त नहीं कर पाओगे
एक स्त्री को विवस्त्र देखकर
अभी पहुंचे नहीं हो उस ऊंचाई पर
जहां से देख पाओ इस तरह
मुझे बिना विचलित हुए
बिना कांपे - थरथराये

मैं मल्लिकार्जुन के साथ सोयी हूं
और वही हो गयी हूं
मेरे रोम-रोम में
बरस रहे हैं
आनंद के मेघ
मेरी आत्मा घुल रही है
सफ़ेद जैस्मिन जैसी
परम चेतना में
अब मुझे कोई पुरुष
स्पर्श नहीं कर पायेगा

आकाश को कोई वस्त्र नहीं ढंक सकता
जल किसी वस्त्र में नहीं अंटता
प्रकृति के अंग-प्रत्यंग निरावृत हैं
मैंने जिसे वरा है, जिसकी बहुरिया हूं
वह देख सकता है अंधेरे में भी
झांक सकता है कठोर से कठोर
चट्टान के भीतर तक
उसकी आंखों से कुछ भी छिपा नहीं है
उसके सामने क्या पहनूं
कैसे छिपाऊं अपनी देह
उससे मिलकर देह
राख में बदल गयी है
और राख पर सिर्फ़
आत्मा का वस्त्र टिक सकता है

मैंने सारे वस्त्र उतार फेंके
सारे बंधन जला डाले
न परिवार, न घर
न दुख, न सुख
न पीड़ा, न हर्ष
न मोह, न अमर्ष
तन के हों या मन के
वस्त्र भी तो आख़िर बंधन ही हैं न!
मैंने ओढ़ लिया मल्लिका के सफ़ेद फूलों को
अपनी चेतना की अदृश्य देह पर
और बदल गयी हूं सतरंगी
धवल प्रकाश में

अब मल्लिकार्जुन के अलावा

किसी का हुक्म नहीं चलता मुझ पर
कोई रूप, कोई शब्द, कोई ज्ञान
विचलित नहीं कर सकता मुझे
मैंने अपने एकांत में
पाया है विराट विश्व
सारे बंधन तोड़कर
पा लो तुम भी चाहो तो
मेरे भीतर सुलग रहा है प्रेम
मीठी आग में जलकर
झर रही हूं पल-पल भस्म की तरह
बह रही हूं जैस्मिन की सुगंध की तरह
पाना चाहो तो पा लो
मुझे मेरी तरह

2.

लाठियां और तलवारें

नहीं पता कब से लेकिन मेरे घर के एक कोने में
पड़ी रहती थीं कुछ लाठियां
कुछ फरसे, कुछ तलवारें

कभी पिताजी को ज़रूरत नहीं पड़ी उनकी
उन्होंने तो सांप पर भी कभी लाठी नहीं चलायी
उन्हें लाठियों की ताक़त पर
कभी यक़ीन नहीं रहा
उन्हें ज़िंदगी के बहुत
सारे मुहावरे याद थे
वे जानते थे कि तलवारें
सुइयों का काम नहीं कर सकतीं
वे ठीक से चारा भी नहीं काट सकतीं
तलवारों से खेलने में उंगलियों के
कटने का ख़तरा बना रहता है
ध्यान बंटा तो वे अपना ही
सीना चाक कर सकती हैं

उन्हें सिलना और पैबंद लगाना आता था
कहते थे कि सिलाई ऐसी होनी चाहिए
कि धागा, धागों में समा जाये

पैबंद कभी पैबंद की तरह न दिखे
वे सुई से तलवे के अंदर टूट कर फंसे
कांटे को भी मुलायमियत से निकाल देते थे
मेरे शर्ट के बटन भी टांक देते थे

फरसे की कहानियां सुनाते हुए
वे कई बार बड़ी दुविधा में पड़ जाते
समझा नहीं पाते कि हमारे पुरखों को
फरसे की क्या ज़रूरत थी
ज्ञान और प्रेम की बात
करने वाला कोई आख़िर
मां का गला कैसे काट सकता है

उन्होंने लाठी के गुन की हिमायत कभी नहीं की
वे चमकती तलवारें देखकर व्याकुल हो जाते थे
फरसे के बारे में सोचते ही उनके
गले से ख़ून बहने लगता था
वे शब्दों की ताक़त के प्रति आश्वस्त रहते थे
बच्चों को कविताएं सुनाते थे

सुनता आया बचपन से
कि मेरे पुरखे लड़ाइयों में जाते थे
लड़ना उनकी जीविका का हिस्सा था
वे कुछ सिक्कों के लिए लड़ते थे
वे किसी के लिए भी लड़ने चले जाते थे
जो ज़्यादा इनाम देता था उसी के हो जाते थे
मामूली स्वार्थ में अजनबियों की हत्या करने में
संकोच नहीं करते थे

परंतु मेरे पिता इतने मज़बूत थे
कि मेहनत के अलावा किसी और
हथियार पर कभी भरोसा नहीं किया
वे खेत में ख़ुद को बोते थे
ख़ुद को उगते हुए देखकर ख़ुश होते थे
और ख़ुद को काटकर बच्चों के
सपनों में ढाल देते थे

मो. 9455081894

लोकतंत्र का धुंआ और हमारा नागरिक समाज

विवेक निराला

काव्य-पुस्तिका, *मौजूदा हालात को देखते हुए* तथा *सहसा कुछ नहीं होता* और *उत्सव की समाप्ति के बाद* जैसे दो मुकम्मल कविता-संग्रहों के बाद कवि बसंत त्रिपाठी का नया संग्रह, *नागरिक समाज* प्रकाशित हुआ है। यहां तक आते -आते बसंत हमारी पीढ़ी के प्रमुख कवि के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। कविता की पृथ्वी पर बसंत पूरी तरह उतर चुका है। अब बसंत की आहट नहीं उसकी गरमाहट है। रक्ताभ किसलय अपने वास्तविक रंग में बदल चुके हैं और इसके साथ ही हमारी शताब्दी का तीसरा दशक आरंभ हो चुका है। नयी शताब्दी की सारी आशंकाएं अब डरावनी वास्तविकताओं में बदल चुकी हैं। सारे स्वप्न बिखर चुके हैं। असंतोष ही इस सदी का स्थायी भाव हो जैसे। युद्ध, सांप्रदायिकता, घृणा, हिंसा और अपराध के साथ ही पूंजीवाद के सर्वग्रासी रूप के खुलकर सामने आने और इसी को विकास कहे जाने की कीमियागिरी भी हमारी इसी सदी की विशेषता है। अपनी इस सदी के इसी यथार्थ को बसंत व्यक्त करते हैं। इस संग्रह की पहली ही कविता है, 'इस सदी को'। इस कविता में बसंत इस सदी को समझने के कुछ सूत्र बताते हुए कहते हैं :

केवल विकास दर के बढ़ते ग्राफ़ से नहीं
अपहरण बलात्कार और आत्महत्याओं के तरीक़ों से भी
यह सदी दर्ज हो रही है इतिहास में
इतिहास के अंत के भाष्यकारों से नहीं
इतिहास में शामिल होने
और उसे बदल डालने की इच्छा से भी
आप जान सकते हैं इस सदी को।
…
भरमाने और उलझाने वाले तर्कों से ही नहीं
असंतोषों के उमड़ते सैलाब से भी
जान सकते हैं हम
इस महान सदी को।

इस सदी में मुद्रा-स्फीति की तरह भाषा में शब्द-स्फीति भी बढ़ी है। मुद्रा के अवमूल्यन की तरह भाषा का भी अवमूल्यन हुआ है। शब्द लगाातार अपनी अर्थवत्ता खो रहे हैं। सदियों से लिखते-पढ़ते और रटते चले आ रहे वाक्य 'भारत एक कृषि-प्रधान देश है' का निरर्थक होते जाना, किसानों की आत्महत्या और उनका दमन हमें इसी समय में देखना था। शेयर बाज़ार में निफ़्टी और सेंसेक्स के उठने और गिरने को हमें अपनी सांसों के उठने-गिरने के साथ महसूस करना था, हमें 'आई पी एल' में क्रिकेट खिलाड़ियों की नीलामी पर नज़र रखनी थी, हमें रोज़-रोज़ बढ़ती तेल की क़ीमतों पर चुप्पी साधे रखनी थी और राष्ट्रवाद तथा राम-मंदिर के लिए अपना सबकुछ न्यौछावर कर देना था। हमारे समय में बाहर जितना शोर है, भीतर उतना ही सन्नाटा। बाहर भीड़ ही भीड़ है, मगर आदमी अपनी परछाईं के साथ बिल्कुल अकेला। हमारे समय में जिन्हें दुनिया की महानतम उपलब्धियां बताया जा रहा है कवि उन सब के लिए एक शोकगीत लिखता है :

शेयर बाज़ार का सांड़ हुंकारता है किसानों की हड्डियों में
मोटरकार की मंदी में अर्थहीन हो जाती है खाद की तेज़ी

जीवन भर थक-हारकर कमाता है किसान एक मज़बूत फंदा
बंधा था जो आस की रस्सी से, टूट जाता है वह
ज़िंदगी का रेला।

ये दुनिया की महान उपलब्धियां हैं और इन्हें हमेशा समाज के लिए बताया जाता रहा है। मगर, इन्हीं उपलब्धियों के साथ 'हर बार छूट जाता है आदमी अपनी परछाईं के साथ बिल्कुल अकेला।' यही हमारे समाज का यथार्थ है और इस नागरिक समाज में भांति-भांति की विडंबनाएं हैं। इस नागरिक समाज के नागरिकों से शासन-सत्ता उनके नागरिक होने के सबूत मांगती है। जिनके पास काग़ज़ नहीं वे फेंक दिये जायेंगे इस देश से बाहर। उन्हें इस देश का नागरिक बने रहने का कोई हक़ नहीं। इस महादेश में कलाओं की वह दुनिया जो प्रतिरोध रचती है, नाक़ाबिल-ए-बर्दाश्त है। हमने इसी नागरिक समाज की नागरिकता से च्युत होते महान कलाकार मक़बूल फ़िदा हुसैन को देखा है। यह वही नागरिक समाज है जिसमें धार्मिक कट्टरता है, जातिवादी घृणा है, ग़ायब होता हुआ देश है और मरे हुए लोग हैं। ये ऐसे लोग हैं जो भव्य मंदिर के लिए भारी चंदा देते हैं, मगर भुखमरी उनकी चिंता से बाहर है। ये वही लोग हैं जो 'जयश्रीराम' का गगनभेदी नारा लगाते हैं, मगर अपने पड़ोसी की हत्या पर समझदार चुप लगा जाते हैं। इस नागरिक समाज में अल्पसंख्यक वही लोग हैं, जो संवेदनशील हैं। ज़ाहिर है कि हर समय की तरह हमारे समय में भी कवि उन्हीं थोड़े से लोगों में है - निरुपाय और बिल्कुल अकेला। इस नागरिक समाज पर टिप्पणी करती कविता की अकेली आवाज़ ही यह कह सकती है :

अपने ही देश को जाते तमाम रास्ते
समृद्धियों से बंद कर रखे हैं तुमने
तुम्हारी संपत्ति ही तुम्हारा क़ैदख़ाना है
ध्वस्त कर दिये हैं संवेदना के सारे पुल
दुख को कहते हो अभिशाप
लेकिन देखो कि चमकीली तरंगें ही
तुम्हारा चयनित अकेलापन है
और मोमबत्ती ब्रह्मास्त्र।

किसी भी रचना को देखने का एक प्रतिमान यह हो सकता है कि उस रचना में हमारा समय कैसे व्यक्त हुआ है? अपने समय से जुड़कर ही रचना को समय के पार जाना होता है। हमारे समय के यथार्थ को व्यक्त करने वाली कविताएं ही हमसे जुड़ पाती हैं। हमारा समय एक जटिल समय है, इसलिए हमारे समय का यथार्थ भी उतना ही जटिल है। अपने इस जटिल समय के यथार्थ को सहज अभिव्यक्त करना भी एक चुनौती ही है क्योंकि इस सहज अभिव्यक्ति में सरलीकरण का एक ख़तरा भी निरंतर मौज़ूद रहता है। यही कारण है कि सोशल मीडिया और प्रिंट मीडिया में आ रही ढेरों कविताओं में से कुछ ही अपनी ओर ध्यान खींच पाती हैं। इस संग्रह में एक कविता है, 'समय उलझाता है।' इस कविता में कवि कहता है, 'समय उलझाता है अपनी चालाकियों से/उसके पास नये-नये पैंतरे हैं।' अपने समय को व्यक्त करने की एक कोशिश बसंत ने इस संग्रह में भी की है। वह समय जिसमें इतनी तरह की चालाकियां हैं कि हमें पता भी नहीं चलता और हम छले जाते हैं। बाज़ार अब हमसे 'जयहिंद' के गीत गवा लेता है, वह हमारे स्वास्थ्य की चिंता करते हुए 'फ़ुल बॉडी चेक अप' का पैकेज सुझा देता है; (ज़ाहिर है कि उसे हमारे स्वास्थ्य की नहीं अपने आर्थिक स्वार्थ की ही चिंता है) वह हमें छुट्टियां बिताने-विदेश में आने-जाने से लेकर पांच दिन और चार रातों को घूमने, रुकने तथा खाने की व्यवस्थाओं के आकर्षक प्रस्ताव ले कर सामने आ खड़ा होता है। वह हमारे बेडरूम में टी.वी. के साथ घुस कर हमें तमाम सत्ता-षड्यंत्रों से अनजान बना कर 'सास, बहू और साजिश' में उलझाये रखना चाहता है कि हम सत्ता के विरुद्ध कुछ सोच भी न सकें।

कवि जानता हे कि लोमड़ी से भी ज़्यादा चालाकी भरे इस समय में प्रतिरोध ही एकमात्र विकल्प है। अब लड़ाई ज़रूरी है लेकिन हमारा नागरिक समाज इतने ख़ानों में बंटा हुआ है कि विश्वसनीयता भी एक बड़ी चुनौती है। याद आती है अग्रज कवि की वह कविता पंक्ति जिसमें वह कहता है कि 'एक कवि कर भी क्या सकता है/सही बने रहने के सिवा।' क़दम-क़दम पर अपनी विश्वसनीयता सिद्ध करनी पड़ती है। इसके बावज़ूद आपको स्वीकार किया

जायेगा या नहीं आप ठीक-ठीक नहीं कह सकते। कभी उस वर्ग का न होना आपकी अयोग्यता मान लिया जाता है और कभी अस्मितावादी विमर्शों की स्वानुभूति बनाम सहानुभूति की पुरानी बहस सामने आ खड़ी होती है। हम यह हठ नहीं करते कि हमें हमराह मानो मगर साथ तो आने दो! इस पूरे मसले पर इस संग्रह की एक कविता है 'लड़ाई' :

लड़ाई अब शुरू होनी चाहिए
लड़ाई की ख़ातिर
मैं सबसे पहले कम्युनिस्टों के पास गया
वहां सैकड़ों दस्ते थे
और सभी एक दूसरे को संशोधनवादी कहते थे
...
फिर मैं आदिवासियों के पास गया
उन्होंने मेरी नस्ल पर सवाल उठाये
मैं जब दलितों के पास गया
वहां अंबेडकर की आरती चल रही थी
मैं भी बैठ गया श्रद्धालुओं के बीच हाथ जोड़े
तभी एक ने कहा- 'नहीं हम तुम पर
भरोसा नहीं कर सकते
देह न सही, तुम्हारी आत्मा पर
पड़ा है अदृश्य जनेउ'

साझा लड़ाई की चिंता कवि को है लेकिन सवाल उस स्वीकार्यता का है जिसके बिना साझापन ही संभव नहीं।

इस समय हमारे देश में लोकतंत्र इस देश के हर ज़िम्मेदार नागरिक की चिंता के केंद्र में है। इस लोकतंत्र में बहुमत की आंधी प्रतीत कराता हुआ सत्ताधारी दल विपक्ष नामक संस्था को समाप्त कर चुका है। अब विपक्ष जैसे है ही नहीं, और यही लोकतंत्र की मुश्किल भी है। 'चुनाव का असमंजस' कविता में बसंत कहते हैं :

मामला कुछ अजीब था
मैं जब भी प्रधानमंत्री को देखता
मुझे वे विपक्षी पार्टी के लगते
विपक्ष का नेता
बिलकुल प्रधानमंत्री जैसा
विकास के प्रचारकों और विरोधियों के तर्क
एक से जान पड़ते
उनकी चुप्पी भी एक-सी शातिराना।
दलितों के पैरोकारों में वही चौंध देखता
जो ब्राह्मणों और ठाकुरों के पैरोकारों में

कविता की अंतिम पंक्तियों में कवि कहता है :

और तो और
शहरों से लगे गांव के किसान मुझे
उदारीकरण के सबसे बड़े समर्थक जान पड़ते
बाप-दादाओं का गड़ा ख़ज़ाना जैसे
अचानक लग गया हो हाथ।
मैं किसी को किसी से अलग नहीं कर पा रहा हूं
और चुनाव सिर पर हैं
अब मैं कैसे चुनूंगा अपना प्रतिनिधि?

इस संग्रह में 'लोकतंत्र' और 'लोकतंत्र का धुंआ' शीर्षक दो कविताएं हैं जो कवि की केंद्रीय चिंता को व्यक्त करती हैं। 'लोकतंत्र' में जहां 'मेरा मैं सूने आकाश में तारों की टिमटिमाहट सुनता है, मेरा वह शहर में फ़ौजी जूतों की कड़कड़ टापें।' वहीं 'लोकतंत्र का धुंआ' कविता में कवि कहता है कि 'एक लोकतंत्र है जो ख़ाली टीन के डिब्बे में

कंकड़ की तरह बजता है-खड़ंग।' इन पंक्तियों पर सहज ही ध्यान जाता है और धूमिल तथा सर्वेश्वर की बरबस याद आती है। कविताई का जैसे वही ढंग, 'कंकड़ की तरह बजता है-खड़ंग।' अपने समय में निरर्थक होते हुए लोकतंत्र की जो चिंता उन कवियों की थी लगभग वैसी ही चिंता दिखती है यहां। यह जितना कवि परंपरा का सातत्य है उससे कहीं अधिक लोकतंत्र की समस्या का सातत्य।

कवि बसंत त्रिपाठी का यह कविता संग्रह तीन उपशीर्षकों में विभक्त है। पहला, 'महायुग', दूसरा, 'आयो घोष बड़ो व्योपारी' और तीसरा, 'कुछ भी अलौकिक नहीं होता'। इसमें जहां रात के लिए एक स्याह बिंब है, जहां दिन एक जलती चिता है, वहीं कवि कविता के लिए थोड़ी लफ़्फ़ाज़ी, थोड़ी आक्रामकता, थोड़ी सी बहक, टेढ़ी-मेढ़ी चाल, थोड़ी ऊब, बहुत सारा ग़ुस्सा, थोड़ा असंतोष, थोड़ा विश्वास और बहुत सारा संदेह आवश्यक मानता है। यह सब जैसे उसकी कविता के आवश्यक तत्व हैं। इनके बिना आज कविता संभव नहीं। इस संग्रह में 'हिंदी' शीर्षक एक कविता है जिसमें हिंदी के अपमान की ओर संकेत करते हुए कवि कहता है, 'इस भाषा ने मेरे माथे पर लिख दी हैं/ पराजय की कुछ अदृश्य पंक्तियां।' इस संग्रह में 'हिंदी के सर्जक', 'कविता की उपलब्धि', 'कविता और घोड़ा', 'ये हिंदी वाले कौन हैं...' और 'पराजित भाषा विमर्श' आदि कविताएं हिंदी भाषा और उसके साहित्य संसार का एक लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हैं। 'ये हिंदी वाले कौन हैं...' कविता में बसंत कहते हैं :

हर वो व्यक्ति
जो हिंदी में लिखता है
थोड़ा कुरेदो
तो बमकने लगता है हिंदी वालों पर

कहता कि ग़ैरजिम्मेदार हैं
गंभीरता का अभाव है
मेहनत तो करते ही नहीं
सामंती और संकीर्ण
कूपमंडूक फ़ार्मूलेबाज़
स्त्री-विरोधी जातिवादी

कहने लगता कि देखो
कितना काम किया है मैंने
लेकिन नोटिस ही नहीं लिया इन हिंदीवालों ने
जब राहुल जी और निराला को नहीं पूछा
तो मेरी क्या बिसात!

यह हिंदी के लेखक की आम शिकायत है। यह कुछ हद तक सही है कि हिंदी-समाज अपने लेखकों की उपेक्षा करने वाला समाज है। इससे कुंठित हो कर हमारे एक बड़े कवि ने हिंदी का कवि होने पर अफ़सोस जताया था। अपनी इसी कविता में कवि कहता है, 'फिर प्रकाशकों को लतियाता/कि रॉयल्टी नहीं देते।' अभी हाल में ही कवि विनोद कुमार शुक्ल के बहाने लेखक-प्रकाशक संबंधों तथा लेखक की रॉयल्टी पर एक नया विवाद शुरू हुआ है। इस पर तमाम बहसें भी हुई हैं। इस संग्रह में 'किताब-लेखक-प्रकाशक-पाठक-दुकानदार' शृंखला की कविताएं ख़ासतौर पर दृष्टव्य हैं जिनमें कवि के व्यंग्य के साथ पराजय की कुछ अदृश्य पंक्तियां लिखने वाली हिंदी के प्रकाशकों की चतुराई और लेखक की बेचारगी स्पष्ट दिखायी देती है।

कविता-संग्रह के अंतिम खंड में कवि पाब्लो नेरूदा, गैब्रियल गार्सिया मार्केज़, नाज़िम हिकमत, मीरां और अपने अग्रज कवियों और लेखकों से अपने समय में आत्मीय संवाद करता है। 'नेरुदा' शीर्षक कविता में वह कहता है :

तुम जीवन और कविता के बीच
अपना हैट पहने और कलम थामे
ऐसे खड़े थे

जैसे पहाड़ पर देवदार का जंगल
और तुम्हारी कविता ऐसे बहती थी
जैसे हरे जंगल के बीच से
कोई उजली नदी।

मैं जब भी खोलता हूं तुम्हारी कविता की किताब
तुम हमेशा पन्नों के भीतर से
मेरी ओर हाथ बढ़ाकर कहते हो-
'आओ साथी,
दुनिया को पहचानने की इस विस्मयकारी दुनिया में
तुम्हारा स्वागत है।'

'कुछ भी अलौकिक नहीं होता' शीर्षक इस उपखंड में अपनी रचनात्मक खीझ के साथ कवि 'खेखसी मेरी जान', 'करेले की बेल' और 'चलन से बाहर एक अठन्नी' जैसी कविताओं के साथ तुच्छ मान ली गयी चीज़ों पर तथा उपेक्षित और वंचित समुदाय पर संवेदनापूर्ण अभिव्यक्तियां करता है। 'खेखसी, मेरी जान' तो इस खंड की बहुत ही मज़ेदार कविता है। इसमें कवि कहता है :

स्वाद तुम्हारा नहीं है अद्भुत
न ज़ुबान पर चढ़ राज ही करती
नाम सुनकर तुम्हारा
मुंह में सोता भी नहीं फूट पड़ता
फिर भी खेखसी, मेरी जान
तुमसे प्यार है।

छत्तीसगढ़ की खेखसी
ओड़िया की कांकड़
मराठी की काटवेल मेरी जान
तुमसे प्यार है।

छत्तीसगढ़, ओड़िया, मराठी सहित सामान्य भारतीय जनता की अंडाकार, कांटेदार यह सब्ज़ी एकाध महीने के लिए ही दिखायी देती है सारे आभिजात्य को धता बताती हुई। इसी तरह बसंत की यह कविता भी अपनी भाषिक संरचना में सारे आभिजात्य को तोड़-फोड़ डालती है।

हमारे समय में जबकि सब कुछ निरर्थक होता जा रहा है - विचारधारा और पक्षधरता एक बड़ा मूल्य है। यहां विचारधारा से आशय राजनीतिक दलों की विचारधारा से नहीं बल्कि जन-हितैषी विचारधारा और जन-पक्षधरता से है। हमारे समय के विचारधारा और पक्षधरता के मूल्य को सबसे ऊपर रखकर बसंत त्रिपाठी की ईमानदार अभिव्यक्तियां ही इस संग्रह का हासिल हैं। पुस्तक का आवरण कवि-पुत्री सुश्री निकिता त्रिपाठी ने तैयार किया है जो आकर्षक होने के साथ ही बहुस्तरीय-अर्थ-व्यंजना से परिपूर्ण है।

मो. 9415289529

पुस्तक: ***नागरिक समाज***
कवि : बसंत त्रिपाठी
प्रकाशन : सेतु प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली

कहानी

महुआ हाट

अजय महताब

'मम्मी ! चलो, दादी बुला रही है' – बारह वर्षीय पूजा ने रूपाली को आवाज़ लगायी। सुबह के पांच बजने को थे, काफ़ी उजाला भी हो चुका था। ये गर्मियों के दिन थे और अप्रैल का महीना लगभग आधा गुज़र चुका था। रूपाली टोकरी उठाती हुई बोली – 'हां – हां, दादी को बोलो आ रहे हैं।'

वह टोकरी और बोरी लेकर आगे चली तो बेटी और सास को खलिहान में इंतज़ार करते पाया। बेटी के हाथों में छोटी सी टोकरी देखकर उसके ज़िम्मेदार हो जाने के एहसास भर ही से वह मुस्कुरा दी। तीनों साथ साथ चल दीं। दो चार क़दम चलने पर ही उन्हें कुल आधा दर्जन महिलाएं अपने बच्चों के साथ आगे उनकी बाट जोहती दिखीं। पूजा अपनी सहेलियों को देख गुलाब की तरह खिल उठी।

यह मौसम महुआ चुनने का होता है। मुंह अंधेरे ही गांव की लगभग सभी बहुएं, बूढ़ी और बेटियां दल बांधकर गांव की 'महुआ पट्टी' की ओर निकल पड़ती हैं ताकि धूप कड़ी होने से पहले चुने हुए महुओं को लेकर लौट सकें। महुआ चुनना इन सुबहों का सबसे ज़रूरी काम होता था। ज़रूरी तो यह महिलाओं के लिए था, बच्चों के लिए तो यह सिर्फ़ मनोरंजन था इसीलिए बच्चे भी मांओं के साथ उत्साहपूर्वक रोज़ जाते।

डांगा से बड़ाबांकी होते हुए नेशनल हाइवे - 33 पिपला, मलियंता, खड़िया कॉलोनी आदि कई गांवों से गुज़रती हुई मुसाबनी से आगे ओडिशा जाती है। हाइवे की ज़द में आनेवाला यह पूरा इलाक़ा या अंचल 'महुआ पट्टी' ही है । यहां देखने पर असंख्य तथा गिनने पर हज़ारों की संख्या में महुए के पेड़ शान से तनकर खड़े हुए मिलेंगे। भीषण गर्मियों में जब सारे खेत धूप खा खाकर सूखने और सूख सूखकर फटने लगते हैं तब ऐसे समय में महुए के पेड़ों की मौज रहती है। इस वक़्त ये ख़ूब फलते और फूलते हैं तथा गांवों के रोज़गार का आंशिक साधन भी बनते हैं।

महुआ पट्टी में महुआ चुनती हुई स्त्रियां आपस में चुहल कर रही थीं –'देखो तो, प्रिया का मम्मी का टोकरी कितना जल्दी भर गिया।'

'हां तो आधा हाट में बेचेगी आर आधा से दारू बनायेगी।'

'हम काहे दारू बनायेंगें?'

'तुम दारू बनायेगी तभी तो प्रिया का पप्पा हांड़ियावाली का पास जाना छोड़ेगा।'

'हां, जब घर में ही नेसा मिलेगा तो आदमी बाहर क्यों जायेगा।'

रूपाली की इस बात पर सभी खिलखिला कर हंस पड़ीं। राधा के गाल शर्म से लाल हो गये थे। तभी पूजा की दादी ने सबको डांट लगायी –

'आरे बाबा, आठ बाज गिया, तुम लोग का डिमाक नांई है क्या! घोर भी तो जाना है। जोल्दी हाथ चालाओ।'

बूढ़ी की डांट सुनकर सभी सकपका गयी थीं। वे आपसी चुहल छोड़ जल्दी जल्दी हाथ चलाने लगी थीं। घड़ी बांधने की आदत किसी महिला को थी नहीं और मोबाइल कोई अपने साथ लेकर जाती नहीं थी, अतः पूजा की दादी के अंदाज़े पर ही सब ने भरोसा किया। वैसे भी बूढ़े बूढ़ियों का समय को लेकर अंदाज़ा बहुत सटीक होता था। दस पंद्रह मिनट में ही सबने अपने अपने हिस्से का काम समेट लिया था।

अप्रैल लगभग ख़त्म हो चुका था। सभी लोग महुआ बीनने और सुखाने में व्यस्त थे। मई के महीने में महुओं

का गिरना ज़रा कम हो जाता है। मगर जब तक खेती का काम शुरू न हो जाता सभी लोग इसी में ही लगे रहते थे।

आज निधिराम के दालान पर सुबह सुबह रोज़ की तरह बैठकी जमी हुई थी। एक ताज़ा घटना पर चर्चा छिड़ी हुई थी- 'पेपार पोढ़ा तोपोन?'

'आज का ना!'

'हां, आजे का। भाटी में छे गो आदमी पाकड़ाया हे। काहां गिया... ?' - मंटू अख़बार में ख़बर तलाशने लगा और पा जाने पर उसकी आंखें खुशी से चमक उठीं – ' ए देखो। लुआबासा में शराब की भठ्ठी पर छापेमारी।'

मंटू सबको इस उत्साह से ख़बर दिखा रहा था जैसे कि यह सारा किया धरा उसी का है या कि भठ्ठी संचालक उसके दुश्मन का। तभी अचानक जैसे, उसे कुछ याद आया। वह निधि दास की ओर मुख़ातिब होकर बोला – 'आरे निधु! तुम्हारा ससुर तो नेही पाकड़ाया ना। काहे कि तुम्हारा ससुराल का केस है और ऊ तो पीते भी हैं।'

निधि दास हंसकर बोला – 'आरे नांई! उनका तो तीन दिन से बुख़ार है। ओ क्या दारू पिने जायेगा।'

'चालो ठीके हुआ। पुलिस का फेरा बोहुत खाराप है' - तपन ने निधि दास को सांत्वना दी।

इन्हीं सबके बीच तपन की नज़र असीम दत्ता पर गयी। असीम कुछ चिंतित सा नज़र आ रहा था। उससे तपन ने पूछा–'आरे ओसीम, बोहुत चिंता में दिखायी पाड़ राहा है !'

'हां, काल हाम बड़ाबांकी गिया था, हारि से भेंट कारने। काहे कि मेरा पास तीस किलो महुआ हो गिया है ना।'

'ओह, हरी मुंडा! ओ ऐसा क्या बोल दिया कि तुम चिंता में पाड़ गिया?'

'हां, बोल राहा था कि माहुआ नांई खारीदेगा। तुम लोकोन भी तो उसी का पास ना माहुआ बेचता है, ओ आब नांई खारीदेगा' – यह सूचना उसने कुछ ऐसे दी जैसे ख़तरे की घंटी बजा रहा हो।

'हां, हाम माहातो लोकोन का पूरा माहुआ तो ओही खारीदता है लेकिन एभी काहे नांई खारीदेगा?'

तपन के इस प्रश्न में आश्चर्य भरा हुआ था। मंटू, निधिराम, मानु सारे लोग हैरान थे। असीम ने रहस्य पर से पर्दा हटाते हुए कहा – 'हारि बोल राहा था कि ओ कुछ भाटी ताटी बोंद राखेगा। आरे बाबा पेपार मे लुआबासा का केस ठो तुम लोक देखा कि नांई। ओ बोल राहा था कि बोहुत टाईट चेकिन चाल राहा है।' ! भाटी बांद राखने का माने जानता है तुम लोकोन ?'

असीम ने अपनी बात एक सवाल पर ख़त्म की। उसकी बातें सुनकर मंटू महतो ने विश्वास मिश्रित लापरवाही वाले लहज़े में कहा–

'धात! ए सोब ड्रामा है, ड्रामा। क्या ओसीम दा, ओ डाराया आर आप डार भी गिया। ए सोब ना बाहाना है, बाहाना। सोब भाटीवाला ए सोब बात बोल बोलके हामलोक को डारायेगा आर हामलोक सास्ता में माहुआ सोब बेच देगा। काहे बेचेगा? दो दिन मार्केट में दारू नांई मिलने से देखना आदमी पागला जायेगा।'

'सास्ता में काहे बेचेगा ? हाम लोकोन बोका है क्या? साब देखना, जाब आदमी लोकोन दारू दारू चिल्लायेगा ना, साब हामीलोक का पास में आयेगा' – मानु ने मंटू का समर्थन किया।

मंटू का समर्थन करते हुए तपन ने भी कहा– 'हां, उस टेम हाम लोकोन पैंतीस का बदले पाचास रूपिया किलो में मातकाम (महुआ) बेचेगा।'

असीम के चेहरे पर चिंता अभी भी झलक रही थी। बातचीत के धागे टूट चुके थे और सब अपनी अपनी दिनचर्या की ओर लौट गये थे। इस वक़्त पूरे गांव की तसवीर बदली हुई सी होती थी। गांव में प्रवेश करते ही आंखों को सूखते हुए महुओं के दर्शन होते और नथुनों में उनकी मादक गंध टकराती। यहां मुख्य रूप से महतो आबादी ही निवास करती थी जिनमें बहुसंख्यकों के पास अपनी ज़मीन व खेत थे। इसके अलावा थोड़ी बहुत संख्या मुंडा, सोरेन, मुर्मु, चालक आदि की भी थी जिनमें से कुछ के पास ज़मीन थी, कुछ के पास नहीं।

जिनके पास ज़मीनें होतीं वे कोई छोटा मोटा व्यवसाय भी कर लेते थे, मसलन परचून की दुकान वग़ैरह और जिनके पास ज़मीनें नहीं थीं वे कोई छोटा मोटा काम करके ही परिवार का पेट पालते थे। बारिश के दिनों में इस तरह के अधिकतर लोग दूसरे के खेतों में काम कर लेते थे, मगर बाक़ी दिन संघर्ष भरे होते थे। ऐसे दुर्दिनों में महुआ रोज़गार

का एक आंशिक विकल्प ज़रूर होता था। सप्ताह के अलग अलग दिनों में अलग अलग हाट में महुआ हाट लगाकर, महुआ बेचने का काम किया जाता था। मगर अब गांवों की हवा बदलने लगी थी। सभी अचानक चिंतित हो उठे थे क्योंकि पूरे अंचल को विषम परिस्थितियों ने आ घेरा था। आज सोना हेम्ब्रम, पवन मुंडा, हरि बास्के, जोबा मुर्मू और वृहस्पति सोरेन निर्मल महतो के दालान पर बैठकर गहन विचार विमर्श में व्यस्त थे –

'साला टुडु ! आज भी माल नांई खारीदा' – पवन की आवाज़ में एक प्रकार की झल्लाहट नज़र आयी।

'हां, मेरा भी तीस किलो मातकाम नांई लिया। हाम तो तीन बार घूमके आपस भी आ गिया' – सोना ने भी अपनी चिंता ज़ाहिर की।

'हाम भी हारि से पूरा माल घुमाके ले आया है। बोलता है भाटी का पोडाक्सान बांद हे। चेकिन चाल रा हे' – वृहस्पति ने अपनी चिंता ज़ाहिर करके माहौल को और भी चिंताजनक बना दिया था। सबके चेहरों पर चिंता के साथ साथ तनाव की लक़ीरें भी साफ़ दिखायी पड़ रही थीं।

'चेकिन चाल रा हे कि ढेंकी हो रा है साला सामाज में ई नांई आ रा। चेकिन चाल रा हे तो मार्केट में दारू काहां से आ रा हे? माहुआ कोई नांई खारीदेगा लेकिन सास्ता में दारू साबको चाहिए। बिना माहुआ का ही देसी दारू बान रा हे का ?' – सोना ने तल्ख़ तेवर के साथ अपना आक्रोश ज़ाहिर किया। उसके इन तेवरों में वर्तमान परिस्थितियों का स्वाभाविक चित्रण हो रहा था।

तभी हरि फूट फूटकर रोने लगा। दरअसल, उसे एक सप्ताह पहले ईंटों के भट्ठे से निकाल दिया गया था और अब तक उसको कोई दूसरा काम भी नहीं मिल पाया था। सभी मिलकर उसे सांत्वना देने लगे। सहानुभूति पाकर जब वह ज़रा संभला तो वृहस्पति ने उसे समझाते हुए कहा – 'देख हारि, ऐसा रोने से कैसा होगा?'

'चेत एञ मेना दादा (क्या बोले भैया), पलाशबोनी का काजल बेसरा तो पकड़ा गया। उसको महुआ हाम ई बेचा था।'

यह कहते हुए उसके अंतर्मन का दर्द उसकी आंखों और स्वर दोनों ही से छलक पड़ा। उसने सुबकते हुए आगे कहना जारी रखा–

'पूरा पाचास किलो मातकाम बेचा था। सोलो सो टाका ते काथा हुई लेना (सोलह सौ रुपयों में बात हुई थी) लेकिन तीन सो रुपिया ही मिला था। पूरा पाइसा तो मेरा चाल गिया ना।'

हो सकता है, हरि ने इन पैसों को ख़र्च करने की कोई योजना बनायी हो। संभव था कि वह इन पैसों से राशन लाता या फिर सब्ज़ी लाता या फिर महाजन को देता। अपना सोचा हुआ तो वही बता सकता था। ऐसे नाज़ुक वक़्त में काजल की गिरफ़्तारी उसके लिए 'मुफ़लिसी में आटा गीला' साबित हुई थी। थोड़ी देर बाद उसका सुबकना कुछ कम हुआ तो उसने अपनी असल समस्या बतायी–

'हाम तो काजल का भरसा में ही रासान भी ले लिया। इधार पुराना उधारी भी नांई दिया। हाम तो फांस गिया, काहे कि पुराना बेलेंस नांई देने से तो ओसीम दा हामको आर रासन भी नांई देगा।'

किसी के पास हरि की इस समस्या का कोई हल नहीं था। हल निकाल पाना आसान भी नहीं था। जोबा ने एक सर्द आह भरी और कहा –

'लेकिन रोने से भी तो कोई लाभ नांई होगा ना।'

'रोये नांई तो आर का कारे? काब काजल जेल से छुटेगा, काब पाइसा देगा, देने भी साकेगा कि नांई ? आर आभी तो काम भी छुट गिया है। आभी पेट को गाछ में टांगेगा क्या? बोलो, रोये नांई तो आर का कारे?'

इस बार हरि के लहज़े में गुस्सा झलक रहा था। उसके जज़्बात बेक़ाबू से हो गये थे। किसी के मुंह से अब सांत्वना के बोल नहीं निकल पा रहे थे। बातें और परेशानियां, इन्होंने कोई हल न निकलने दिया और बैठक बेनतीजा रही। यह चिंताजनक बातचीत सिर्फ़ पिपला नहीं पूरे अंचल का प्रतिबिंब थी।

महुआ भले ही लोगों का मुख्य रोज़गार न हो मगर रोज़गार का एक अन्यतम साधन ज़रूर था। समस्या यह थी कि लोग अभी बातचीत की कच्ची पगडंडियों पर बस पग धर रहे थे, किसी समाधान के रास्ते अभी उनके क़दम बढ़ नहीं पाये थे। मगर पिपला चिंतन का केंद्र ज़रूर बन गया था।

पूरे अंचल की स्थिति कमोबेश एक समान थी और यह बद से बदतर हुई जा रही थी। पुलिस की दबिश दिन -ब-दिन बढ़ती जाती थी। हरे पीले और लाल पत्तों वाली महुआ पट्टी अब दूषित हो चली थी। चारों तरफ़ ख़ाक़ी रंग की मक्खियों की भिनभिनाहट से जंगल भर गये थे। हर जगह जासूसी कीड़े बजबजा रहे थे और शासन तंत्र को पल प्रतिपल की ख़बर दे रहे थे। बेरोज़गारी के इस भयावह समय में कौन कौन ख़बरी वाली चाकरी कर रहा था, यह अंदाज़ा लगा पाना भी मुश्किल था।

गुप्त सूचना मिलते ही पुलिस अपनी बहादुर टीम के साथ मौक़ा-ए-वारदात यानी कि अवैध रूप से शराब चुआने वाली भट्ठी तक पहुंच जाती और भट्ठी संचालकों को शराब तथा कच्चे माल के साथ धर दबोचती। पुलिस की इस बहादुरी में उसका भरपूर साथ देने को पत्रकारों की टोलियां सदा कमर कसे हुए तैयार रहती थीं। ये सहायक दस्ते कारसाज़ पुलिस की करामाती तस्वीरें खींचकर और मसालेदार तड़का लगाकर अगले दिन अख़बार में गर्मागर्म परोसते और पुलिस व जनता दोनों ही से थैले भर भर वाहवाही बटोरते और इस तरह अपने अख़बार नवीस होने का फ़र्ज़ और क़र्ज़ अदा करते। इस मामले में बुद्धिजीवियों के एक से बढ़कर एक तर्क सामने आ रहे थे –

'पुलिस अगर पहले से इतनी एक्टिव रहती ना तो ये कुकुरमुत्ते की तरह ये भट्ठियां उग ही नहीं पातीं। अब हो रहा है सही एक्शन।'

'यह शराब थोड़ी है, मिथाइल अल्कोहल है। इससे तो आदमी दो सेकंड में अंधा होकर पांच सेकंड में मर जाता है।'

'मैं तो कहता हूं, ये अहुआ-महुआ पूरी तरह से बंद ही कर देना चाहिए। झारखंड में भी बिहार की तरह पूर्ण शराबबंदी लागू कर देनी चाहिए।'

'प्राब्लम महुए से थोड़ी है। असल में ये लोग ग़लत तरीक़े से महुआ चुआते हैं। उसमें साबुन, मोबिल, नशे के टैबलेट और पता नहीं क्या क्या मिलाते हैं।'

'लाइसेंस हो तब न! लाइसेंस नहीं होने के कारण ही तो ये लोग मनमानी करते हैं।'

मगर इतने महत्त्वपूर्ण विषय और इस नये 'शराब-विमर्श' मतलब 'महुआ-विमर्श' से इलेक्ट्रॉनिक मीडिया कटा कटा सा था। ये ख़बरें जहां प्रिंटमीडिया के लिए तगड़ा आहार थीं, वहीं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए दाल-भात संग चटनी या अचार। ये हर ऑपरेशन की कामयाबी के बाद पुलिसकर्मियों के गर्व से दीप्तमान चेहरों के भाव कैमरे में क़ैद करने की ज़हमत न उठाते थे । हां, कुछ छोटे-मंझोले न्यूज़ चैनल्स इन दूर दराज़ के इलाक़ों की ख़ाक छानने को ज़रूर भटकते।

पिपला में कोई भट्ठी नहीं होने की वजह से यहां छापेमारी जैसी कोई दुर्घटना अब तक नहीं घटी थी, इसलिए यहां के लोग ख़ुद को सुरक्षित मान रहे थे, मगर उस दिन जो घटना घटी वह इसके पहले किसी ने कल्पना नहीं की थी। बबलू दत्ता को पुलिस ने पचास किलो महुए समेत गांव के चौक से गिरफ़्तार किया था। लोगों के मुताबिक़, पुलिस ने बताया कि बबलू किसी भट्ठी संचालक को महुओं की खेप देने जा रहा था। पुलिस के हिसाब से उसके हाथ बहुत बड़ी कामयाबी लग गयी थी।

पूरा गांव दहशत में था। किसी ने तो ज़रूर ख़बर दी थी, कोई तो था जो पूरे गांव पर नज़र रखे हुए था। पता नहीं कोई एक या झुंड के झुंड। डर स्वाभाविक भी था, पुलिस जब गांव के चौक तक आ सकती है, बबलू को, माल के साथ पकड़ सकती है तो घरों में घुसने में कितनी देर लगती! सबने अपने बचाव के अलग अलग तरीक़े निकाल लिये थे। किसी के महुए प्लास्टिक की बोरियों में सुरक्षित तालाब के अंदर तो किसी के धान के गोदाम में धान के अंदर तो किसी के ज़मीन के अंदर। ऐसे दहशत भरे समय में आज तपन, असीम, समीर, निधि, जोबा, सोना, पवन, वृहस्पति और निर्मल चिंताग्रस्त होकर ज़रूरी चर्चा के लिए बैठे थे। असीम ने अपने हाथों में दो कंकड़ नचाते हुए कहा–

'क्या रे सोरेन ! कुछ माल बिका की नेही? तेरा तो भाटी सोब में साबसे जादा जान पाहिचान है।'

असीम की बात सुनकर वृहस्पति का मुंह चिरैते से भी ज़्यादा कसैला हो गया। उसने तड़पकर कहा –

'आप तो दादा ऐसा बात बोल रा हे जेसा आपको कुछ पाता ही नांई हे। माहुआ जदि बिक राहा होता तो

हाम साबसे पाहिले आपे का उधारी चुका देते।'

बाक़ी लोगों ने भी वृहस्पति की हां में हां मिलायी क्योंकि बनिया होने के नाते असीम लगभग सभी का ही महाजन था। निधि ने भी अपना गंभीर मत देते हुए कहा -

'पाता नांई, आचानोक क्या हो राहा है! पाइले भी चेकिन होता था, भाटी में छापा भी होता था लेकिन माहुआ तो बिके जाता था।' पवन को सहानुभूति अर्जित करने के लिए यही मौक़ा सही लगा। उसने इसका फ़ायदा उठाते हुए तुरंत कहा –

'आपको क्या चिंता निधु दा! आपका तो दोकान है, ओसीम दा का भी दोकान है, ट्राक्टार है। ओ तो हाम साबका माहाजान है। हाम लोकोन का क्या है, काभी काम होता हे तो काभी नांई। माहुआ से कुछ साहारा मिलता तो ओ भी नांई हो राहा।'

वृहस्पति और बाक़ी सबको पवन की बातों से एक नैतिक संबल मिला था। कई बार दुख भी दुखियों का संबल बन जाता है। उन सबके बीच बैठा निर्मल महतो अपनी बारी का इंतज़ार कर रहा था। उसने जब देखा कि लगभग सभी अपना दुख साझा कर चुके हैं तो उसे अपनी बात कहने का यही उचित अवसर लगा। उसने बातचीत को नया मोड़ देते हुए कहा-

'चिंता का बात यह नहीं है कि हामलोग महुआ नहीं बेच पा रहा या फिर पुलिस गांव गांव में छापामारी कर रहा है। चिंता इससे भी गंभीर है जिसका तरफ़ किसी का ध्यान ही नहीं जा रहा है।'

निर्मल इन सब में सबसे ज़्यादा पढ़ा लिखा था और उसकी हिंदी भी बाक़ी सबसे ज़्यादा साफ़ और सुंदर थी। निर्मल की बातों से सभी चौंके। सबके बीच खुसर फुसर होने लगी। तभी असीम ने पूछा–

'और क्या बात हो सकता है?'

'एक बात बताओ, हमलोग महुआ का सीज़न में जितना महुआ चुनकर बेचता है उससे क्या साल भर का ख़र्चा निकल जाता है?'

'नांई' – एक समवेत स्वर उभरा।

'तो फिर काहे जाते हैं सब महुआ चुनने? और अभी सब काहे परेशान है? एक काम करो, सब अपना महुआ फेंक दो। हम भी फेंक देते हैं।'

निर्मल ने अचानक से ऐसा प्रश्न पूछ दिया था और ऐसी बात कह दी थी कि किसी को कुछ कहते नहीं बन पा रहा था। निर्मल ने सबको असमंजस में देखकर कहा– 'आरे भाई, सीधा सा बात है। जिस तरह खेती से सालभर का चावल मिलता है, महुआ से इतना इन्कम तो होता नहीं है कि सालभर का रासन आ जाये फिर भी लेडी लोग रोज़ सुबह सुबह चुनने जाता है। कभी सोचा है काहे?'

इस सवाल पर भी सभी एक दूसरे का मुंह ताक रहे थे। किसी को समझ नहीं आ रहा था कि आख़िर निर्मल पूछना-बताना और जानना क्या चाह रहा था। निर्मल ने अगला सवाल किया –

'क्या महुआ से सिर्फ़ दारू बनता है?'

'नहीं, इसका तो बोहोत काम होता है। इसका पाता, छाल, फाल, फूल साब तो काम का है।'

'लेकिन परचार तो यही हो रहा है ना कि महुआ से सिर्फ़ दारू ही बनता है। देखो, महुआ चुनना और बेचना तो हम महतो – आदिवासी लोग का काल्चार है। यह प्रकृति का हमलोग को दिया हुआ अधिकार है। यह अधिकार आज हमसे छीना जा रहा है।'

निर्मल की इस बात का सब पर असर हो रहा था। जोबा बोला– 'दादा, एतना बाड़ा बात तो हाम लोकोन सोचा ही नांई। आप लेखा–पोढ़ा आदमी है, आपको तो साब मालूम हे।'

'नहीं सोचा तो अब सोचो। काहे की एक तरफ़ तो सरकार भट्टी सब बंद कर रहा है लेकिन दूसरा तरफ़ धड़ल्ले से लाइसेंसी दारू दुकान भी खुलवा रहा है। इस अंचल का सब महुआ हाट धीरे धीरे बंद हो जायेगा।'

'ए तो गालात बात हे ना दादा। हाम लोकोन माहुआ बेचने से पुलिस आ जाता है आर जाब सारकार माहुआ बेच राहा हे तो ठीक !'

निर्मल की बात सुनते ही सोना ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। इस पर निर्मल ने उसकी बातों को संशोधित करते हुए कहा - 'सरकार दारू बेच नहीं रहा बिकवा रहा है।'

'हां – हां ओही, लेकिन दारू के लिए तो माहुआ चाहिए ना तो हाम लोकोन से खारीदे।'

सोना के वाक्य पर निर्मल झल्ला गया था। उसने लहज़ा सख़्त कर कहा–

'तुम लोग सरकार को क्या सोचा है– गुरमा या भिलाई पाहाड़ी का हाट? जहां तुम लोग शनिवार और बुधवार को सब्ज़ी लेने जाता है। जैसे असीम अपना महाजन से राशन ख़रीदता है वैसे तुम लोग भी सोचता है की सरकार तुम लोग से महुआ ख़रीदे। तब तो अच्छा है। जाओ, मेरा लिए भी बात करो। मेरा भी तीस किलो महुआ है।'

सभी के मुंह जैसे सिल से गये थे। उन लटके हुए चेहरों को देखकर निर्मल ने अपना लहज़ा थोड़ा नर्म किया और कहा–

'क्या हुआ, ऐसे चुप रहने से कैसे होगा?'

तभी वृहस्पति बोला – 'अब तो बाबा तुम ही बोलो, हाम लोकोन क्या कारेगा?'

'देखो, महुआ चुनना और बेचना हामलोग का बिजनेस नहीं है । यह हमारा अधिकार है, हमलोग का पहचान है। हमलोग महुआ, मांदर, धुमसा (नगाड़ा) आर तीर-धनुष से ही पहचाने जाते हैं। जो हमारा हक़ छीनेगा उससे तो हमलोग को लड़ना ही पड़ेगा ना। चाहे एक आदमी हो या पूरा सिस्टम। जदि 'महुआ हाट' को कब्ज़ा से बचाना चाहते हो तो लड़ो। अगर लड़ना नहीं चाहते हो तो सब जैसा काम धंधा कर रहा था, वैसा ही करो ।'

सब एक दूसरे का मुंह देखने लगे जैसे जानना चाह रहे हों कि किसकी क्या मर्ज़ी है। लड़ाई होगी कि नहीं, होगी तो किस तरह और कब होगी? या इसका कोई और विकल्प निकाला जायेगा, निकाला जायेगा भी या नहीं? फ़िलहाल तो ये सारे प्रश्न अनुत्तरित रह गये। दुख, चिंताएं और समस्याएं तो सबके साथ थीं, मगर शायद कोई आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था। वैयक्तिक चिंताओं ने माहौल इतना बोझिल कर दिया था कि सामूहिक समस्या का हल खोजने के लिए कोई भी वहां दो पल ठहर नहीं पाया। जिनके पास ख़ुद की ज़मीनें थीं, उनके दिलों में ज़रा सा ही सही, मगर सुकून था, आंखों में मद्धिम ही सही, मगर रोशनी थी। यहां उम्मीद की लौ जल रही थी क्योंकि उन्हें बारिश का इंतज़ार था, उम्मीदों भरी बारिश का इंतज़ार।

सब कुछ पहले जैसा ही चल रहा था – वही आतंक छापेमारियों का, वही स्थिति बेरोज़गारी की, वही हताशा, वही निराशा, ज़िंदगी की वही परेशानियां। वृहस्पति और उसकी पत्नी ने पिपला चौक पर स्थित एक होटल में नौकरी करनी शुरू कर दी थी। मालिक और ग्राहकों की डांट–फटकार के बीच दोनों अपनी मजबूरियों का गट्ठर सिर पर लादे रोज़ काम पर जा रहे थे। बेटा सुबह सुबह उठ जाता, मां के काम में हाथ बंटाता, कोचड़ा के बीजों को सुखाता - फैलाता, घर में जो कुछ होता, नाश्ता कर स्कूल चला जाता। न होता तो बिना कुछ खाये ही स्कूल चला जाता।

पवन और सोना को अब तक गांव में कोई काम नहीं मिला था। ये लोग भी अब बाकियों की ही तरह काम की तलाश में टाटा (जमशेदपुर) आने जाने लगे थे। जिस दिन इन्हें काम मिलता, लौटते वक़्त चेहरा गुलाब सा खिला होता और होठों पर पान की लाली सजी होती थी, मगर जिस दिन काम न मिलता, लौटते वक़्त चेहरे रंग उड़े हुए दीवारों के माफ़िक़ लगते और गर्दन शाम की सूरजमुखी की तरह लटकी होती।

शराब की भट्टियों का बंद होना और लाइसेंसी शराब की दुकानों का खुलना बदस्तूर जारी था। आबकारी विभाग के रवैये से ऐसा लग रहा था जैसे कि विभाग ने ठान ही लिया है कि सभी दुकानों को लाइसेंस देकर ही छोड़ेगा, क्योंकि जितनी तेज़ी से भट्टियों को बंद करवाया जा रहा था उससे दोगुनी तेज़ी से लाइसेंसी शराब की दुकानें भी खुलती जा रही थीं। यह गांवों, शहरों में अंगूर और महुए की बेटी के आशिक़ों के लिए तो एक वरदान ही था। अब चोरी छिपे शराब ख़रीदने और पीने का चलन ही ख़त्म हो गया था क्योंकि दुकानों पर तो बड़े बड़े अक्षरों में लिखा होता था - 'अनुज्ञप्ति प्रदत्त विदेशी शराब की दुकान' और यहां हर तरह की शराब मिल जाया करती थी।

बात साफ़ थी, अब लोमड़ियों के आगे लहलहाती अंगूर की बेलें इतनी सी ऊंचाई पर थीं कि बिना छलांग लगाये ही वे अंगूर के मज़े ले सकें और 'अंगूर खट्टे हैं' वाला बहाना भी न दोहराना पड़े। अब तो पकड़े जाने का भी तनिक भय नहीं था क्योंकि शराब ख़रीदना, बेचना, पीना पिलाना सब कुछ अब वैध था। शराब वही थी, पीनेवाले

वही थे, बस बेचनेवाले और बेचने के तरीक़े बदल गये थे।

लू के गर्म थपेड़ों के बीच वृहस्पति और उसकी पत्नी बुझे मन व भारी क़दमों से घर लौट रहे थे। जब जिस्म से ख़ून सुखा देने वाली गर्म हवा पूरे वेग से चलती तो ऐसा लगता मानो दिन के सीने को स्टील की मोटी प्लेट बनाकर उस पर लोहे के हथौड़े से चोट कर घंटी बजायी जा रही है। दो तीन रोज़ पहले थोड़ी बहुत बारिश ज़रूर हुई थी, मगर गर्म तवे पर पानी के छींटों की तरह। मालिक से एक ज़ोरदार थप्पड़ खाकर वृहस्पति इस गर्मी में अभी तक अपने गाल सहला रहा था। अभी थोड़ी देर पहले ही उसका स्वाभिमान जागा था और थोड़ी देर पहले ही वह बेरोज़गार हो गया था।

दोपहर के दो बज रहे थे। इतनी बड़ी और उम्र से लंबी सड़क पर महाश्मशान सा सन्नाटा पसरा हुआ था। यहां से गुज़रती हुई हवा के भी सीने में इक हूक सी उठती हुई मालूम होती थी। बीच बीच में सोयी हुई सड़क को झिंझोड़कर, सन्नाटे का सीना चीरती, तीर की तरह कोई ट्रक या कार धूल उड़ाती हुई निकल जाती थी।

टाटा से मुसाबनी को जाने वाली 'शंकर ट्रैवल्स' की एक बस पिपला चौक पर आकर रुकी। उसमें से जोबा, सोना, पवन, शंभु आदि उतरे। आज न तो किसी का चेहरा गुलाब की तरह खिला था और न ही किसी के होठों पर पान की लाली सजी थी। वृहस्पति से नज़रें मिलते ही रूखे सूखे अंदाज़ में उनके बीच दुआ सलाम हुआ –

'जोहार दादा !'

'जोहार !'

'आपलोग आज जाल्दी आ गिया दादा ?' – कुछ दूर ख़ामोश चलने के बाद सोना ने ख़ामोशी तोड़ते हुए यह सवाल किया।

सोना के इस सवाल पर वृहस्पति और उसकी पत्नी ने एक दूसरे को कातर दृष्टि से देखा। ख़ामोशी वैसी ही बरक़रार रही। साथ चलते हुए थोड़ी देर बाद वृहस्पति ने ख़ामोशी तोड़ते हुए पूछा –

'तुमलोकोन भी तो आज जाल्दी आ गिया?'

'हामलोकोन तो तीन दिन से एही टाइम पार आता हे।'

शंभु के इस जवाब के बाद किसी को न कुछ पूछने की हिम्मत पड़ी और न कुछ बताने की। सभी अपने अपने कंधों पर ख़ामोशी की एक लाश ढोये हुए चल रहे थे। तभी पवन ने ख़ामोशी के तालाब में अपने सवाल का एक कंकड़ फेंका –

'एक ठो नेया खाबार सुना दादा ?'

ख़ामोशी के तालाब में तरंगें उठीं । वृहस्पति ने चौंककर पूछा – 'क्या ?'

'सुनने में आया है कि 'माहुआ पाटी' आब सारकार का हाथ में चाल जायेगा काहे कि सारकार बोल राहा हे कि मातकाम का कालाबाजारी हो राहा है। आब से सारकार इसको ठेका में देगा।'

'हां दादा, हाम लोकोन भी जाबसे सुना हे, सोच राहा हे निर्मोल दा से बात कारेगा' - सोना ने पवन के बात की तस्दीक की। निर्मल का नाम सुनते ही वृहस्पति को थोड़ी हिम्मत बंधी। उसने कहा-

'माने निर्मोल ठीके बोल राहा था। ओ तो आगे से ही बोला था कि हाम लोकोन से हामारा आधिकार छिना जा राहा हे। हाम भी तुम लोकोन का साथ जायेगा। एक बार ऐसा ही पोटका में भी हुआ था। सारकार केंदू पाता का आधिकार ओहां का बासिंदा लोग से छीनने का कोसिस किया था। ओहां भी लाड़ के आदमी लोकोन जीता था। आब हाम लोकोन को भी लाड़ना ही पाड़ेगा।'

वृहस्पति की बातों से सबको नयी ऊर्जा मिली। अब सबकी चाल में तेज़ी आ गयी थी। इधर ख़बरों का बाज़ार गर्म था। ख़बरें उड़ती जातीं, फैलती जातीं। ख़बरें आतीं कि लोग तीर तलवारों, दरांतों, गंड़ांसों और भालों पर धार चढ़ा रहे हैं, कि आज सरकार के विरुद्ध गांव में मीटिंग हुई, कि नकुल के घर से तीस किलो महुआ चोरी हो गया, कि शंभु चालीस किलो महुए के साथ गिरफ़्तार हुआ, कि महुआ पट्टी में फ़ोर्स तैनात आदि आदि।

पूरा गांव और शायद पूरा अंचल यह तय कर चुका था कि अब क्या करना है और शायद सत्ता पक्ष भी यह तय कर चुका था कि उसे अब क्या करना है। गांवों में सादे लिबास में अक्सर अनजाने लोग दिखायी पड़ते और गश्त

करती गाड़ियां भी। जोबा को काफ़ी दौड़ धूप के बाद आज हरि सिंह मुंडा से अपने पुराने बकाये में से पांच सौ रुपये हासिल हुए थे। गांव में, अंचल में और यहां तक कि पूरे देश के किसी भी कोने में, कहीं भी आज और इस वक़्त बारिश हुई थी या नहीं, यह नहीं पता, मगर जोबा के मन में आज सावन झूमके आया था। उसका मन आज बहुत बहुत प्रसन्न था, आज उसे चारों तरफ़ हरियाली ही हरियाली नज़र आ रही थी। आज ही उसने सिंगबोंगा को बहुत बहुत धन्यवाद दिया था, आज ही उसने असीम के चौदह सौ रुपये में से चार सौ रुपये चुकाये थे, आज ही उसे 'माछ भात' खाने की बड़ी तीव्र इच्छा हुई थी। उसने धार किये हुए तीर और भाले जतन से रख दिये, जाल उठाया और समीर के घर की ओर निकल पड़ा। समीर और जोबा की दोस्ती गांव भर में मशहूर थी। समीर के घर पहुंचकर जोबा ने हांक लगायी - 'सामीरSS ! ए सामीर!'

जोबा के हाथ में जाल देखकर समीर समझ गया था कि उसे क्यों बुलाया जा रहा है। इधर समीर को देखते ही जोबा उत्साहपूर्वक बोला - 'चाल भाई डोभा जायेगा।'

समीर ने हामी भरी और दोनों गांव के बीचोबीच स्थित छोटे तालाब की ओर चल पड़े। यह तालाब पूरे गांव के काम में आता था, मगर गांव में वाटर टावर बन जाने के कारण लोगों की आमदरफ़्त इधर थोड़ी कम हो गयी थी। ख़ुद समीर के घर बोरिंग होने के कारण वह भी दो तीन महीने से इधर आना जाना नहीं करता था। तालाब पहुंचकर दोनों ही का उत्साह ठंडा पड़ गया था। यहां कीचड़ का आभास कराता ज़रा सा पानी दिखायी पड़ रहा था। इस कीचड़ में दो चार छोटे व मंझोले आकार की मछलियां धंसने को संघर्ष करती हुई तड़प रही थीं। ज़रा दूर एक बगुला उड़ता हुआ दिखायी पड़ रहा था जो शायद शिकार की तलाश में था और ऐसा लग रहा था कि उसकी नज़र मछलियों पर पड़ चुकी है। विडंबना यह थी कि मछलियां लाख तड़पें छटपटायें, तालाब से बाहर नहीं जा सकती थीं। मौत तो उनकी तय थी, चाहे बगुले के हाथों मरें या इंसानों के।

जोबा और समीर हाथों में जाल थामे कभी मछलियों को देखते, कभी करीब आते बगुले को, तो कभी एक दूसरे को। तालाब के कीचड़ में उन्हें पूरे गांव, पूरी महुआ पट्टी का प्रतिबिंब साफ़ साफ़ दिखायी पड़ रहा था।

मो. 7766892854

जनवादी लेखक संघ के चालीस बरस

चंचल चौहान

हिंदी-उर्दू के लगभग सभी लेखक अब यह जानते हैं कि जनवादी लेखक संघ (अंजुमन जम्हूरियतपसंद मुसन्निफ़ीन) हिंदी-उर्दू के लेखकों का एक अखिल भारतीय संगठन है। इसके वेबसाइट पर यह दर्ज है कि इसका गठन फ़रवरी 1982 में नयी दिल्ली में आयोजित एक अखिल भारतीय स्तर की कान्फ्रेंस में हुआ था जिसमें 500 से भी अधिक लेखकों ने शिरकत की थी जो भारत के सभी राज्यों से आये थे। इन प्रतिनिधियों ने संगठन का *घोषणपत्र* और *संविधान* पारित किया और अपनी कार्यकारिणी और केंद्रीय परिषद का चुनाव किया। यह बहुविदित सत्य है कि जनवादी लेखक संघ भारत में हिंदी और उर्दू के लेखकों का सबसे बड़ा संगठन है जिसकी हिंदी-उर्दू क्षेत्र के सभी राज्यों में ज़िला स्तर से राज्यस्तर तक की इकाइयां सक्रिय हैं, इनके अलावा पश्चिम बंगाल और महाराष्ट्र में भी कई इकाइयां हैं।

ज़ाहिर है कि जनवादी लेखक संघ ने अपनी सक्रियता के 2022 में चालीस बरस पूरे कर लिये हैं। मैं सौभाग्यशाली हूं कि इस संगठन के गठन की पूर्वपीठिका से लेकर इस समय तक मैं इन चालीस बरसों का सक्रिय सहयात्री रहा हूं, इन चालीस बरसों में से तीस बरस संगठन की केंद्रीय ज़िम्मेदारी का निर्वाह भी किया। इस समय संगठन में अनेक नये युवा सदस्य हैं जिन्हें इन चार दशकों का इसका इतिहास शायद न मालूम हो, इसलिए उसे याद करते रहना चाहिए। यह भी जानना चाहिए कि संगठन बनने और समाप्त होने के पीछे कौन से कारक होते हैं। संगठन तभी बनते हैं जब उनके बनने की ज़मीन तैयार हो, इसलिए उन सामाजिक आर्थिक कारणों को समझना भी चेतना के विकास के लिए खुराक का काम करता है।

लेखक अपने संगठन बहुत पुराने समय से बनाते आ रहे हैं। तमिल लेखकों का एक युग (अनुमानत: ईसा पूर्व 100 से 250 ई. के बीच) 'संघम् साहित्य' के नाम से मशहूर है, उत्तर भारत में भी भक्तिकाल के दौरान यह माना जाता है कि गोस्वामी बिट्ठलनाथ ने सन् 1547 के लगभग अपने पिता वल्लभ के 84 शिष्यों में से चार और अपने 252 शिष्यों में से चार को लेकर अष्टछाप के प्रसिद्ध भक्त कवियों की मंडली की स्थापना की। भारत में 19वीं सदी में आधुनिक पूंजीवाद के उदय के साथ अनेक तरह के संगठन वजूद में आये, रजनी पामदत्त ने अपनी किताब, *इंडिया* टुडे में उन तमाम संगठनों का हवाला दिया है। हिंदी के आधुनिक विकास के साथ ही 1910 में 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' और बाद में कुछ अन्य संगठन भी बने। फिर जब सदी के तीसरे दशक में सर्वहारा वर्ग की राजनीति और विचारधारा का व्यापक प्रसार होना शुरू हुआ तो उसकी वैचारिक रहनुमाई में 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' का गठन हुआ जो 1953 में समाज में आये नये बदलावों के दबाव में बिखर गया। ये सभी संगठन समाज के भीतर चल रही उथल पुथल से ही पैदा हुए और सामाजिक संरचना में बदलाव की वजह से निष्प्रभ हो गये। चंद व्यक्तियों को संगठन बनाने या मिटाने का कारक मानना सही नहीं है।

जनवादी लेखक संघ के बनने के पीछे भी भारत में आ रहे नये बदलावों का ही हाथ था। प्रलेस के 1953 में बिखरने की मूल वजह थी आज़ादी के बाद वर्गों की नयी क़तारबंदी। उसके गठन काल में भारत के सर्वहारा से लेकर मध्यवर्ग और पूंजीपति भी 'विरुद्धों का सामंजस्य' बनाकर ब्रिटिश साम्राज्य के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे, प्रगतिशील लेखक संघ इन सभी का संयुक्त वैचारिक मोर्चा ही था। आज़ादी के बाद इज़ारेदार पूंजीपति और बड़े भूस्वामी वर्गों के गठबंधन के हाथ में सत्ता आयी और उसने साम्राज्यवाद से भी समझौता कर लिया तो पुराना संयुक्त मोर्चा काम का नहीं रह गया, उसका बिखरना ऐतिहासिक नियति थी। नये शासकवर्गों ने सर्वहारा की वैचारिकी और राजनीति दोनों

के ख़िलाफ़ दमनकारी नीति अपनायी। उसने 'आधुनिकतावाद' की शीतयुद्ध की वैचारिकी को 'नयी कविता', 'नयी कहानी', 'नयी समीक्षा' आदि के नाम से पल्लवित पोषित किया। अमेरिकी संस्था सी आइ ए पोषित 'कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ्रीडम' ने भी संगठित न होने की 'आधुनिकतावादी' वैचारिकी ख़ूब प्रचारित की, कई बरसों तक उसका एक तरह से वर्चस्व ही रहा।

साठोत्तरी बरसों में नये शोषकशासक वर्गों की नुमाइंदगी करने वाली कांग्रेस से अवाम का मोहभंग हुआ, उसका प्रतिबिंबन संविद सरकारों के गठन के रूप में सामने आया। उस समय देश में वामपंथ एक शक्तिशाली राजनीतिक घटक के रूप में उभर रहा था, साहित्य में भी इसका असर दिखायी देने लगा। इससे पहले 'पोयम आन द पेज' या 'रचना की पूर्ण स्वायत्तता' को ही अंतिम सत्य माना और प्रचारित किया जा रहा था। कहा जा रहा था कि साहित्य का समाज, राजनीति या किसी भी अन्य क्षेत्र से कोई रिश्ता नहीं होता। इस समझ पर सवालिया निशान 1967 के आसपास बहुत से साहित्यकारों ने लगाने शुरू कर दिये और एक स्पष्ट वामपंथी रुझान रचनाओं में दिखायी देने लगा। 'नयी कविता', 'अकविता', 'ताज़ी कविता' आदि के रूपवादी नुस्ख़े नाकाम होने लगे और एक बार फिर नयी रचनाशीलता और आलोचना में समाज के बड़े सरोकार प्रतिबिंबित होने शुरू हुए।

और तभी उस नये वामपंथी उभार के संगठित होने की प्रक्रियाएं भी एक बार फिर शुरू होने लगीं क्योंकि सत्ताधारी वर्गों की नुमाइंदगी करने वाली कांग्रेस पार्टी एकदलीय तानाशाही की ओर बढ़ रही थी, पूंजीवाद भयंकर संकट का सामना कर रहा था, सभी जगह शोषण की मार के ख़िलाफ़ लोग लामबंद हो रहे थे, बहुत बड़े प्रदर्शनों और प्रतिरोधी कार्रवाइयों की बाढ़ आयी हुई थी। 1974 की ऐतिहासिक रेल हड़ताल ने मध्यवर्ग समेत व्यापक अवाम को क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए प्रेरित कर दिया था, इसलिए साहित्य की 'कुआनो नदी' भी 'लाल और उद्दाम' हो रही थी और उस समय की रचनाओं में 'कहां हो क्रांति के सूत्राधार'(सर्वेश्वरदयाल सक्सेना) या 'इंक़लाब चाहिए'(शलभश्रीराम सिंह) जैसी पुकार सुनायी पड़ रही थी। लेखकों ने अपने सामाजिक दायित्व को संगठित रूप में निभाने के लिए 1974 में बांदा सम्मलन में एकजुट होने की कोशिश की, एक साझा मंच, 'जनवादी लेखक मंच' के नाम से बना भी, मगर वह बिखर गया और वर्गसहयोग का रास्ता अख़्तियार करने वाले कुछ कांग्रेसभक्त वामपंथी लेखकों के नेतृत्व ने एक राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करके एक अन्य लेखक संगठन बना लिया, जिसे नया नाम दिया, 'नेशनल फ़ेडरेशन आफ़ प्रोग्रेसिव राइटर्स'। वर्गसहयोग की राजनीति का विरोध करने वाले लेखकों को उसमें बुलाया ही नहीं गया। सत्तरोत्तरी बरसों में वर्गसहयोग की राजनीति करने वाले कांग्रेसभक्त 'वामपंथी' कई क्षेत्रों में इसी तरह के 'नेशनल फ़ेडरेशन' बना रहे थे, जिनमें एकदलीय तानाशाही के रास्ते पर चल रही कांग्रेस के समर्थक ही शामिल किये जा रहे थे जब कि जनआक्रोश पूरे देश में कांग्रेस पार्टी के ख़िलाफ़ उमड़ रहा था, जिसे खुद शासकवर्गों के एक धड़े ने 'संपूर्ण क्रांति' के नारे के तहत लामबंद कर लिया था, क्योंकि शासकवर्गों के आपसी अंतर्विरोध भी भयंकर आर्थिक संकट के उस दौर में बहुत तेज़ हो रहे थे। इन्हीं अंतर्विरोधों की परिणति इमर्जैंसी में हुई, जनता के जनवादी अधिकार छीन लिये गये, लेखकों और पत्रकारों का भी दमन होने लगा। मज़दूरों का बोनस पूंजीपतियों को दे दिया गया। लेखकों का लिखने और आलोचना का अधिकार, संगठित होने का संवैधानिक अधिकार कुचल दिया गया यानी भारतीय *संविधान* में प्रदत्त नागरिक आज़ादियां छीन ली गयीं, तानाशाही राज क़ायम हो गया। बदक़िस्मती से खुद को वामपंथी और 'प्रगतिशील' मानने वाले नवोदित लेखक संगठन, 'नेशनल फ़ेडरेशन आफ़ प्रोग्रेसिव राइटर्स' ने इमर्जैंसी जैसे तानाशाही क़दम का समर्थन कर दिया और इस तरह अपने संगठन पर ही नहीं, पूरे वामपंथ पर कलंक का टीका लगवा लिया जिसकी वजह से आज तक कोई भी वामपंथविरोधी या फ़ासिस्ट विचारों का लेखक 'सारे वामपंथी संगठनों' पर अपनी तलवार भांजने में पीछे नहीं रहता।

लेखकों का एक बड़ा हिस्सा उक्त लेखक संगठन से भयंकर रूप से नाराज़ हो गया और इमर्जैंसी के हटते ही नये संगठन के रूप में खुद को संगठित करने की तीव्र इच्छा ज़ाहिर करने लगा। दिल्ली के 'जनवादी विचार मंच' के तत्वावधान में ऐसे लेखकों का एक शिविर 1979 में आयोजित हुआ जिसमें 'जनवादी लेखन के दस वर्ष' का लेखा-जोखा लिया गया, जिसमें पढ़े गये लेखों और उन पर हुई बहस में संगठित होने की इच्छा का अक्स साफ़ दिखायी दे रहा था। यह इच्छा तब और ज़ोर पकड़ने लगी जब लेखकों के जनवादी अधिकार छीनने वाली तानाशाही रुझानों

वाली, कांग्रेस की 1980 में वापसी हो गयी और जिसने फिर से 'बिहार प्रेस बिल' या 'हास्पीटल एंड अदर इंस्टीट्यूशंस बिल' और अन्य कई जनविरोधी विधेयक पारित कराने की कोशिश की जिनसे अवाम की नागरिक आज़ादियों पर कुठाराघात होता था। यही समय 'कविता की वापसी' के नारे का भी था जो शासकवर्गों की ओर लेखकों को आकर्षित करने के लिए दिया गया था। उन्हीं दिनों 1980 में मुंशी प्रेमचंद की जन्मशती भी जगह जगह मनायी गयी। ऐसा कैसे हो सकता था कि मुंशी प्रेमचंद को याद करें और उनकी उस दिली ख़्वाहिश को भूल जायें जिसने उन्हें लेखकों को संगठित करने के लिए बार बार प्रेरित किया। रेखा अवस्थी ने अपनी पुस्तक, *प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य* में 1936 से पहले की प्रेमचंद की इस ख़्वाहिश का प्रमाणसहित विवरण दिया है।

1980 में जे एन यू के तत्वावधान में दिल्ली में आइ सी एच आर के परिसर में एक हॉल में, जिसे अब ढहा दिया गया है, मुंशी प्रेमचंद जन्मशती का एक भव्य आयोजन हुआ था, वहीं देश भर से लेखक बुलाये गये थे, वहीं से कुछ लेखक भोजनावकाश में उठ कर वहां से कुछ ही दूर, 4 अशोक रोड के बरामदे में इकट्ठा हुए, और नये संगठन के गठन की पहलक़दमी का आपसी बातचीत द्वारा फ़ैसला लिया। मैं इस पूरे घटनाक्रम में शामिल था। उस पर अमल करते हुए देश भर में लेखकों से संपर्क और बहस के लिए एक दस्तावेज़ जारी किया गया। हिंदी-उर्दू लेखकों ने भारी तादाद में हर जगह संगठन बनाने की प्रक्रिया में जोश के साथ शिरकत की। काफ़ी बहस और चिंतन के बाद एक *घोषणापत्र* का मसौदा तैयार हुआ, उस पर सहमति रखने वाले अनेक जानेमाने लेखकों के हस्ताक्षर थे, उसे भी देशभर में हिंदी-उर्दू लेखकों के बीच सुझावों और सम्मतियों के लिए जारी किया गया। इस तरह की देशव्यापी जनवादी शिरकत के बाद लेखकों को आमंत्रित किया गया और फ़रवरी 1982 में नयी दिल्ली में पूरे देश से भारी तादाद में आये उन लेखकों के सम्मेलन ने जनवादी लेखक संघ के रूप में नये संगठन की नींव रखी। सम्मेलन ने सुझावों और सम्मतियों को शामिल करके *घोषणापत्र* और *संविधान* पारित किया, काम काज के लिए एक केंद्रीय परिषद और केंद्रीय कार्यकारिणी व उसके पदाधिकारी चुने, इस तरह पूरे जनतांत्रिक तौर तरीक़े से नये संगठन का गठन किया।

अपने अनुभव और इतिहासबोध से लेखकों ने एक नया परिप्रेक्ष्य अर्जित किया था। उन्होंने यह जान लिया था कि आज़ादी के बाद की राजसत्ता ने बार बार जनवाद पर प्रहार किये, चुनी गयी सरकारें गिरा दीं, नागरिक आज़ादियां छीनने के अनेक विधेयक पास किये। बिना मुक़दमा चलाये किसी को भी जेल में डाल देना आम बात थी, इमर्जैंसी में जनवाद पर प्रहार का सबसे घिनौना चेहरा उभर कर सामने आ चुका था, इसलिए इसमें संदेह नहीं रह गया था कि इस व्यवस्था की ओर से जनवाद को ख़तरा है। लेखक की लिखने की आज़ादी का इमर्जैंसी में छीन लिया जाना इसी ख़तरे का मूर्त रूप था। इसका मुक़ाबला अवाम द्वारा संगठित हो कर ही किया जा सकता था। उस समय जो तथाकथित 'प्रगतिशील' नेशनल फ़ेडरेशन था, उसके नेतृत्व ने इमर्जैंसी का खुला समर्थन करके जनवाद पर हमला बोलने वाले शासकवर्गों के हाथ ही मज़बूत किये, इसमें उनकी वैचारिक चेतना की दरिद्रता ही झलकती थी जिसकी वजह से उन्हें सामाजिक यथार्थ की सही पहचान नहीं हो पा रही थी। 'प्रगतिशीलों' की समझ से अलग नयी तर्कसंगत समझ जनवादी लेखक संघ ने पेश की जिससे समाज के यथार्थ की सही पहचान संभव हुई, वही समझ जलेस के *घोषणापत्र* की मूल आत्मा है, वही समझ उसे अन्य लेखक संगठनों से अलग करती है।

उसी समझ से जनवादी लेखक संघ ने लेखकों के सामने 'जनवाद की रक्षा और विकास' का ऐतिहासिक दायित्व प्रस्तुत किया। यही दायित्व उसका केंद्रीय नारा बना, और सभी मुद्दों पर अपनी राय बनाने का पर्सपेक्टिव भी। मसलन, उर्दू की रक्षा के सवाल पर 'प्रगतिशील' नेतृत्व में 1986 में प्र.ले.सं. की स्वर्णजयंती के अवसर पर भयंकर झगड़ा दिखायी दिया। उर्दू के प्रति हिक़ारत दिखाते हुए उनके संगठन के सबसे बड़े पदाधिकारी यानी अध्यक्षमंडल के अध्यक्ष ने *हंस* पत्रिका में लेख लिख कर उसे 'बासी भात में खुदा का साझा' बता कर लांछित किया, जनवादी लेखक संघ ने तुरत *हंस* में इसका प्रतिवाद पेश किया, उसने अपने *घोषणापत्र* में दिये केंद्रीय नारे के तहत 'उर्दू की रक्षा और विकास' के बारे में प्रस्ताव पारित किया कि 'उर्दू की रक्षा और विकास का सवाल भारत में जनवाद की रक्षा और विकास का सवाल है'। इस समझ को पूरे देश में जम्हूरियतपसंद और धर्मनिरपेक्ष लेखकों और अवाम ने सही माना। उर्दू के अख़बारों ने इसे सही ठहराते हुए संपादकीय लिखे, क्योंकि यह समझ फ़िरकावाराना तत्वों से अलग समझ थी, वैज्ञानिक सोच का हिस्सा थी, जनवादी लेखक संघ के तमाम सदस्यों ने इस समझ का स्वागत किया जबकि

‘प्रगतिशील’ फ़ेडरेशन के अंदर यह परिप्रेक्ष्य नदारद था जिसकी वजह से ही लखनऊ में प्र.ले.सं. की स्वर्णजयंती के आयोजन में ही उर्दू के सवाल पर भयंकर झगड़ा हुआ था।

इन चालीस बरसों में जनवादी लेखक संघ में देश के बेहतरीन प्रतिबद्ध लेखक शामिल रहे, उसमें मार्क्सवादी वैचारिकी और राजनीति से जुड़े लेखक भी थे और ग़ैरमार्क्सवादी व्यापक लोकतांत्रिक मूल्यों में अडिग विश्वास रखने वाले लेखक भी। यह एक व्यापक मोर्चा है जो शुरू से ही ‘जनवाद की रक्षा और विकास’ के लिए कृतसंकल्प है, जिसने सही ही पहचाना था कि शोषकशासक वर्ग भारत में कभी भी जनवाद की हत्या करके तानाशाही निज़ाम क़ायम कर सकते हैं, यह समझ आज भी हमें मौजूदा यथार्थ को जानने पहचानने में मदद करती है। आज तो जनवाद के ख़ात्मे की आशंका पहले से भी कहीं ज़्यादा बढ़ गयी है।

जनवादी लेखक संघ का दूसरा राष्ट्रीय सम्मेलन अक्टूबर 1984 में वाराणसी में हुआ, प्रसिद्ध कथाकार शिवप्रसाद सिंह ने उद्घाटन भाषण दिया, भारी तादाद में लेखक शामिल हुए। संगठन की रिपोर्ट में दो आशंकाएं रेखांकित थीं, एक तो बाबरी मस्जिद विवाद से सांप्रदायिक ज़हर फैलाने की आर एस एस की कोशिश और दूसरी देश की एकता और अखंडता के लिए ख़तरा। दोनों आशंकाएं सच साबित हुईं, 1986 में राजीव गांधी ने बाबरी मस्जिद का ताला खुलवा दिया, उसके बाद क्या हुआ, सभी जानते हैं। दूसरी आशंका उस समय की प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की हुई हत्या में परिलक्षित हुई।

तीसरा सम्मेलन सितंबर 1987 में भोपाल में हुआ, इसे एक ऐतिहासिक सम्मेलन के रूप में याद किया जाता है। मुख्य अतिथि थे महान कलाकार लेखक उत्पल दत्त और स्वागत भाषण दिया था, शरद जोशी ने। देश के सभी जाने माने लेखक वहां मौजूद थे, भोपाल के तो हमारे विरोध में लिखने वाले लेखक भी उदघाटन सत्र में मौजूद थे, उनके चेहरे आज भी मेरी स्मृति में दर्ज हैं।

चौथा सम्मेलन अक्टूबर 1992 में जयपुर में उस समय हुआ जब भाजपा की सरकार वहां सत्ता में थी, उनके काडर ने शहर के सारे पोस्टर रात में फाड़ दिये थे जिसके प्रतिरोध में सम्मेलन के शुरू में एक विशाल जुलूस निकाला गया जिसमें प्रसिद्ध कथाकार श्रीलाल शुक्ल, असग़र अली इंजीनियर और शील जी समेत देशभर के अनेक जानेमाने लेखक शामिल थे। उदघाटन श्रीलाल शुक्ल ने किया, मुख्य अतिथि असग़र अली इंजीनियर ने सांप्रदायिकता के बढ़ते ख़तरे प्रति देश को आगाह किया। सम्मेलन में अनेक सांस्कृतिक और साहित्यिक मुद्दों पर महत्वपूर्ण बहस हुई।

पांचवां सम्मेलन फ़रवरी 1997 में कोलकाता में हुआ, इसके स्वागताध्यक्ष ज्योति बासु थे, मुख्य अतिथि मशहूर इतिहासकार इरफ़ान हबीब और उदघाटनकर्ता अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखक एजाज़ अहमद थे। उस समय कोलकाता में पुस्तक मेला चल रहा था जिसमें उत्तरआधुनिक चिंतक जॉक देरिदा भी आये हुए थे। उन्होंने एक अनुरोध भेजा था कि क्या वे इस सम्मेलन में शामिल हो सकते हैं। एजाज़ साहब से मशविरे के बाद उनके पास विनम्र अस्वीकृति भेज दी गयी थी। इसी सम्मेलन में निदा फ़ाज़ली और ज़ुबैर रज़वी ने सदस्यता ग्रहण की थी। इसमें हिंदी-उर्दू क्षेत्र में सांस्कृतिक पिछड़ेपन पर उत्तेजक बहस हुई थी।

छठा सम्मेलन सितंबर 2003 में पटना में हुआ था, उदघाटन किया मशहूर पंजाबी उपन्यासकार गुरदयाल सिंह ने। स्वागत भाषण दिया मशहूर इतिहासकार आर एस शर्मा ने और मुख्य अतिथि थे, महान नाटककार हबीब तनवीर। यह भी एक ऐतिहासिक सम्मेलन था।

सातवां सम्मेलन नवंबर 2007 में डिगुआडीह, धनबाद में हुआ जिसका उदघाटन प्रो. प्रभात पटनायक ने किया, मुख्य अतिथि पी साइनाथ थे, जिनका प्रेरणाप्रद भाषण लोगों को हमेशा याद रहेगा।

आठवां सम्मेलन इलाहाबाद में फ़रवरी 2014 में हुआ, जिसकी शुरुआत ‘साझा संस्कृति संगम’ के रूप में हुई। उदघाटन भाषण प्रो. प्रभात पटनायक का हुआ, वक्ताओं में तीस्ता सीतलवाड, अली जावेद, प्रणयकृष्ण, सुभाषिणी अली, सुभाष गाताडे आदि कई जानेमाने लेखक और अन्य सांस्कृतिक संगठनों के प्रतिनिधि शामिल थे। ‘साझा संस्कृति संगम’ ने एक इलाहाबाद घोषणा भी जारी की।

जलेस का नौवां सम्मेलन धनबाद में जनवरी 2018 में हुआ जिसका उदघाटन *वायर* न्यूज़ पोर्टल के संपादक सिद्धार्थ वरदराजन ने किया, मुख्य अतिथि थे रावसाहेब कस्बे। सम्मेलन में आयोजित सेमिनार में महादेव

टोपो, सुधन्वा देशपांडे, सुहैल हाश्मी, सुभद्रा चानना और सुभाषिणी अली ने अपने अपने विचार रखे।

दसवां सम्मेलन जयपुर में 23-24-25 सितंबर 2022 को होने जा रहा है। इस तरह जलेस अपने चालीस बरस पूरे करके नये दौर में प्रवेश कर रहा है।

यहां यह रेखांकित करना ज़रूरी है कि जिस दौर में जनवादी लेखक संघ बना था उस दौर में सर्वहारावर्ग की चेतना से अर्जित इसी पर्सपेक्टिव के तहत और भी कई संगठन मध्यवर्गीय अवाम के हिस्सों में बने, वकीलों का संगठन, डाक्टरों, वैज्ञानिकों का संगठन, पीयूसीएल आदि भी। ये सभी संगठन ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही हिस्सा थे, चंद सिरफिरे नौजवानों का कारनामा नहीं थे। बाद के बरसों में मध्यवर्ग की हालत में पूंजीवादी व्यवस्था ने कुछ सुधार तो किया ही, कुछ हद तक उसे कोआप्ट ही कर लिया ताकि वह पूंजीवादी उत्पादन का उपभोक्ता बन सके। सत्तर के दशक में उसकी हालत और सर्वहारा की हालत में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ नहीं था। आवश्यक वस्तुओं का अभाव सभी के लिए था और उत्पादन की पिछड़ी प्रणाली से बने उत्पादों को ले कर मध्यवर्ग में भी भयंकर असंतोष था। एक अच्छा ब्लेड तक बाज़ार में नहीं मिलता था। सर्वहारावर्ग में भी उसी तरह का असंतोष था, इसलिए इन वर्गों में क्रांति की चाह एक साथ उभर रही थी, लेखक इसी मध्यवर्गीय चाह को वाणी दे रहा था। 1991 के बाद नवउदारवादी और भूमंडलीकृत अर्थनीति ने मध्यवर्ग की चेतना पर भी गहरा असर किया है। सोवियत संघ के विघटन ने भी क्रांतिकारी सपने को संदेह के दायरे में पहुंचा दिया। आज उस दौर में उभरी क्रांति की चाह के वे हालात ही नहीं हैं, इसलिए संगठित बने रहने की वह उत्कट इच्छा भी उस तरह की नहीं रह गयी है, सर्वहारावर्ग की मूल्यव्यवस्था व गहरी प्रतिबद्धता को अर्जित किये हुए लेखक ही अब तो मुक्तिबोध की उस पंक्ति को याद करते हुए संगठन की अहमियत पहचानते हैं, 'संक्रमणकाल है धैर्य धरो, ईमान न जाने दो'।

आज का विश्वपूंजीवाद जो 'अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी' के अधीन पूरी दुनिया को भयंकर आर्थिक बदहाली की तरफ़ धकेल रहा है, अब हर देश के मध्यवर्ग पर भी 'आर्थिक सुधारों' के नाम पर हमला बोलेगा, यह हमला जनवाद पर हमले में भी तब्दील होगा। अभी भी बहुराष्ट्रीय निगम अपने मातहतों को संगठित होने का हक़ देने को तैयार नहीं, जब कि भारत में एक *संविधान* भी है, पर वे इससे कोई सरोकार नहीं रखते। इस तरह संगठित शक्ति पर हमले तेज़ हो रहे हैं, खाते पीते मध्यवर्ग के बहुत से संपादक, लेखक और अपने को 'वामपंथी' कहने वाले बहुत से लेखक भी हमलों की इस मुहिम में शामिल होते रहते हैं। इनमें ऐसे भी कुछ महानुभाव हैं जो सर्वहारावर्ग की संगठित शक्ति के प्रयासों से ही विश्वविद्यालयों के उच्चवेतनभोगी पदों पर नियुक्त हुए और बकौल नागार्जुन, अब 'बापू को ही बना रहे हैं तीनों बंदर बापू के'।

ऐसे कठिन दौर में, आज़ादी के बाद के 75 बरसों का विचारधारात्मक आकलन इसीलिए ज़रूरी है जिससे मध्यवर्गीय लेखकों को अपनी ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी का अहसास हो सके, उभरते हुए लेखकों को सच्चा मानवतावादी परिप्रेक्ष्य अर्जित करने में मदद मिल सके। प्रगतिशीलता के प्रारंभिक दौर से ले कर आज तक जो भी बेहतरीन रचनाकर्म साहित्य और अन्य कलाओं में उभर कर आया, वह सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने वाला और बेहतर समाज का स्वप्न लिये हुए रचनाकर्म ही है। प्रगतिशील आंदोलन की यही महान पूंजी है। दूसरी ओर, जो आत्मबद्ध महामानव बनने का सपना ले कर आये, संकीर्णता के कुएं में टर्र टर्र करके चले गये, आगे भी ऐसा ही होगा। मुक्तिबोध के शब्दों में 'यह भवितव्य अटल है इसको अंधियारे में झोंक न सकते।'

जब विश्वपूंजीवाद की ओर से आ रहे आर्थिक संकट का भारी पत्थर कुछ दिनों बाद विकासशील देशों के मध्यवर्ग की छाती पर भी आ धमकेगा, भारत समेत दुनिया के लगभग सारे देश अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी से लिये हुए भारी क़र्ज के बोझ तले दबे पड़े हैं। इसका ब्याज अदा करने के लिए पूंजी की गुलाम सरकारें हर वस्तु पर टैक्स लगाकर जनता की कमाई उसी पूंजी के हवाले करने को मजबूर होंगी, उसी की वजह से तानाशाही थोपने की कोशिश होगी, तब सर्वहारावर्ग की संगठित शक्ति का हिस्सा बने बग़ैर उस पत्थर से मुक्ति नहीं मिलेगी, जिसका रूपक मुक्तिबोध ने 'चंबल की घाटी में' कविता में बांधा था। इस मुक्ति के प्रयास में व्यक्ति-व्यक्ति का भी योगदान हो सकता है, और संगठित हो कर भी। इसलिए जो लेखक, व्यक्ति बनाम संगठन के भेद को तूल देते रहे हैं, वे दोनों का अहित

ही करते रहे हैं। बक़ौल मुक्तिबोध, 'शोषणपाप के परंपराक्रम से मुक्ति' के प्रयास में हम कम से कम एकजुटता का नज़रिया तो अपना ही सकते हैं, और फिर क्या इस ऐतिहासिक सत्य को झुठलाया जा सकता है कि जब भी सामाजिक मुक्ति हुई है, संगठित शक्ति से ही हुई है। इसलिए आज सबसे बड़ी ज़रूरत लेखकों की व्यापक एकता की है, इसमें संकीर्णता के रुझान काफ़ी ख़तरनाक अवरोध उत्पन्न करते हैं। इन रुझानों का मूल तो वैचारिक होता है, मगर वे व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष का रूप तक ले लेते हैं। सर्वहारावर्ग की सच्ची पक्षधरता की तो यही ज़रूरत है, कि ऐसी संकीर्णताओं और निषेधात्मक प्रवृत्तियों से ऊपर उठ कर सारे रचनाकार और संस्कृतिकर्मी व्यापक स्तर पर एकताबद्ध हों जिससे हमारे समाज को विकास की अगली मंज़िल में ले जाने के लिए सारी रचनात्मक ऊर्जा एक वैचारिक व रचनात्मक मार्ग प्रशस्त करने के महान लक्ष्य में संलग्न हो। ऐसा महान लक्ष्य ही महान रचनाकार निर्मित करता है, जैसे स्वाधीनता आंदोलन के महान लक्ष्य ने और प्रगतिशील आंदोलन के महान लक्ष्य ने महान रचनाकार-कलाकार निर्मित किये थे। अपने कुएं के मेंढक बनकर जो अपनी ढपली और अपना राग अलाप रहे थे, उनका आज कोई नामलेवा भी नहीं।

मो. 9811119391

आपको उस तारीख़ी अमल को समझने के लिए जिसमें से होकर सोवियत यूनियन सत्तर-पिछत्तर साल के दौरान गुज़रा, उस बोहरान को समझने के लिए जिसकी वजह से वो आख़िरकार टूट गया और टूट जाने के जो नताइज ख़ुद रूस के अंदर और सारी दुनिया में निकले हैं, इस सबको समझने के लिए मार्क्सवाद से बेहतर कोई थियरी मौजूद नहीं है। आप यह भी देखेंगे कि सोवियत यूनियन की ख़ूबियों-ख़राबियों पर बहस की रवायत ख़ुद मार्क्सवाद के अंदर बहुत पुरानी है, बल्कि अगर आप, मसलन वो बहस याद करें जो लेनिन की मशहूर किताब, *ह्वाट इज़ टु बी डन (क्या करें)* के जवाब में रोज़ा लक्ज़मबर्ग ने 1906 में शुरू की थी तो आपको नज़र आयेगा कि प्रोलतारी इन्क़लाबी तहरीक के अंदर ही, आने वाले सोवियत निज़ाम की बाबत बहस, सोवियत यूनियन बनने से पहले ही इस सदी की पहली दहाई में शुरू हो गयी। अब इस आख़िरी दहाई में आप अगर उन दर्जनों किताबों पर नज़र डालें जो सोवियत तजर्बे के बारे में लिखी जा रही हैं, तो आप देखेंगे कि इस तजर्बे को समझने के लिए सबसे अच्छे तजज़िए (विश्लेषण) मार्क्सवादियों ने पेश किये हैं। इस तरह की चर्चाएं शुरू से चलती रही हैं और मार्क्सवादी विचारधारा के अंदर बहुत-सी धाराओं के होने का सबूत हैं। लेनिन के ज़माने में लक्ज़मबर्ग, बुख़ारिन, त्रात्स्की, लेनिन और दूसरे बड़े मार्क्सीय सिद्धांतवादियों के बीच खुली बहस का रिवाज आम था। स्तालिन की हाकिमियत क़ायम होने के बाद पार्टी की अंदरूनी बहस पर पर्दा डालने का रिवाज चल निकला तो भी इस तरह के मुबाहिस पार्टी के अंदर और बाहर चलते रहे। मसलन साहित्य के मैदान में ही आप देखेंगे कि लुकाच और ब्रेख़्त ने न कभी एक-दूसरे की बात मानी और न साहित्य में यथार्थवाद जैसे अहम सवाल पर ज़्दानोव की बनायी हुई वो पॉलिसी क़ुबूल की जो बरसों तक सरकारी सोवियत पॉलिसी रही।

—एजाज़ अहमद, 'आज के ज़माने में मार्क्सवाद का महत्व' से एक अंश

फ़ार्म-4

(प्रेस तथा पुस्तक पंजीयन अधिनियम की धारा 19 डी के अंतर्गत अपेक्षित *नया पथ* रजिस्टर्ड पत्रिका से संबंधित स्वामित्व आदि का विवरण)

1. प्रकाशन का स्थान : गली नं. 2, मुखिया मार्ग, खिचड़ीपुर, दिल्ली-110091
2. प्रकाशन की आवर्तता : त्रैमासिक
3. मुद्रक का नाम : चंचल चौहान
   क्या भारतीय हैं? : हां
   पता : गली नं. 2, मुखिया मार्ग, खिचड़ीपुर, दिल्ली-110091
4. प्रकाशक का नाम : चंचल चौहान
   क्या भारतीय हैं? : हां
   पता : गली नं. 2, मुखिया मार्ग, खिचड़ीपुर, दिल्ली-110091
5. संपादक का नाम : चंचल चौहान
   क्या भारतीय हैं? : हां
   पता : गली नं. 2, मुखिया मार्ग, खिचड़ीपुर, दिल्ली-110091
6. उन व्यक्तियों के नाम और पते जो पत्रिका के मालिक और कुल प्रदत्त पूंजी के एक-एक प्रतिशत से अधिक के हिस्सेदार हैं :
   जनवादी लेखक संघ, गली नं. 2, मुखिया मार्ग, खिचड़ीपुर, दिल्ली-110091

मैं चंचल चौहान एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सही हैं।

(हस्ताक्षरित)
चंचल चौहान